लेख-सूची

विषय पृ० सं०

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

पंद्रहवाँ भाग

(१) हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय

[लेखक—डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, एम० ए०,
एल्-एल० बी०, डी० लिट्०, काशी]

पहला अध्याय

परिस्थितियों का प्रसाद

१. आमुख

इस क्षणिक जीवन के परवर्ती अनंत अमर जीवन के लिये आकुलता भारत की अंतरात्मा का सार है। परलोक की साधना में ही वह इहलोक की सार्थकता मानती है। आत्मा और परमात्मा की ऐक्य-साधना का निर्देश करनेवाली मधुर वाणी का भारतीयों की भावना, रुचि और आकांक्षा के ऊपर सर्वदा से वर्णनातीत अधिकार रहा है। भारतीय जीवन में संचार करनेवाली आध्यात्मिक प्रवृत्ति की इस धारा के उद्गम अत्यंत प्राचीनता के कुहरे में छिपे हुए हैं। युग-युगांतर को पार करती हुई यह धारा अबाध रूप से बहती चली आ रही है। प्रवाह-भूमि के अनुरूप कभी सिमटती, कभी फैलती, कभी बालुका

में विलीन होती और फिर प्रकट होती हुई वह अनेक रूप अवश्य धारण करती आई है परंतु उसका प्रवाह कभी बंद नहीं हुआ। पंद्रहवीं शताब्दी में इस धारा ने जो रूप धारण किया वह किसी उपयुक्त नाम के अभाव में 'निर्गुण संत संप्रदाय' कहलाता है। इसी संप्रदाय के स्वरूप का उद्घाटन इस निबंध का विषय है। इस संप्रदाय के प्रवर्तकों ने अपने सर्वजनोपयोगी उपदेशों के लिये जनभाषा हिंदी को ही अपनाया था। इसलिये उसका प्रतिरूप हिंदी के काव्य-साहित्य में सुरक्षित है। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि अनेक कारणों ने मिलकर इस आंदोलन को रूप की वह नवीनता और भाव की वह गहनता प्रदान की जो इसकी विशेषता है। मुसलमानों की भारत-विजय के बाद भारत की राजनीतिक अवस्था ने, जिसमें दो अत्यंत विरोधी संस्कृतियों का व्यापक संघर्ष आरंभ हुआ, इस आंदोलन के प्रसार के लिये उपयुक्त भूमिका प्रस्तुत की। संत-संप्रदाय की विचार-धारा को अच्छी तरह समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम पहले उन विशेष परिस्थितियों से परिचित हो जायँ, जिनमें उसका जन्म हुआ। अतएव पहले उन्हीं परिस्थितियों का उल्लेख किया जाता है।

२. मुस्लिम आक्रमण

यद्यपि **कुरान** ऐलान करता है कि "धर्म में बल का प्रयोग नहीं होना चाहिए। विश्वास लाने के लिये कोई मजबूर नहीं किया जा सकता। विश्वास केवल परमात्मा की प्रेरणा से हो सकता है[1]", फिर भी इस्लाम के प्रसार में तलवार ही का अधिक हाथ रहा है। अरबों ने, और उनके बाद इस्लाम धर्म में प्रवेश करनेवाली अन्य जातियों ने, देश-देशांतरों में विनाश का प्रकांड तांडव उपस्थित कर दिया। चीन से स्पेन तक की भूमि पर उन्होंने मुर्दा का कफन

(१) सेल; "अल कुरान", पृ० १०२।

ढा दिया। जहाँ जहाँ वे गए देश वीरान, घर उजाड़, और जन-समुदाय काल के कवल हो गए। भारत की सस्य-श्यामला भूमि, विश्वविश्रुत लक्ष्मी और जनाकीर्ण देश ने बहुत शीघ्र मुसलमानों को आकृष्ट कर लिया। यहाँ उन्हें धर्म-प्रसार और राज्य-विस्तार दोनों की संभावना दिखाई दी। निरपेक्षता, तत्त्वज्ञान और विभव की इस भूमि की भी धर्मांध-विश्वासियों के लोभ-प्रेरित विनाशकारी हाथों ने वही दशा करने का आयोजन किया जो उनसे आक्रांत और देशों की हुई थी। नर-नारी, बाल-वृद्ध, विद्या-भवन-पुस्तकालय, देवालय और कलाकृतियाँ कोई भी इतनी पवित्र न समझी गई कि नाश के गह्वर में जाने से बच सकतीं। यद्यपि हिंदुओं ने आसानी से पराजय स्वीकार न की और वे अंत तक पद पद पर दृढ़ता से विरोध करते रहे तथापि उनकी निश्छल निर्भयता, धर्मयुद्ध की भावना, पराजित शत्रु के प्रति क्षमाशील उदारता तथा अनेक अंधविश्वासों ने मिलकर उनकी पराजय का कारण उपस्थित कर दिया; और उन्हें काल की विपरीतता के आगे सिर झुकाना पड़ा।

महमूद गजनवी के बारह और मुहम्मद गोरी के दो-तीन आक्रमण प्रसिद्ध ही हैं। गजनवी के साथ अल-बेरूनी नामक एक प्रसिद्ध इतिहासकार आया था। उसने अपने आश्रयदाता के संबंध में लिखा है कि उसने देश के वैभव को पूरी तरह से मटियामेट कर दिया और अचरज के वे कारनामे किए जिनसे हिंदू धूल के चारों ओर फैले हुए कण मात्र अथवा लोगों के मुँह पर की पुराने जमाने की एक कहानी मात्र रह गए[1]।

वास्तविक युद्ध में तो असंख्य वीरों की मृत्यु होती ही थी, उनके अतिरिक्त भी प्रायः प्रत्येक नृशंस विजेता हजारों-लाखों व्यक्तियों की हत्या कर डालता था और हजारों को गुलाम बना लेता था।

(१) ईश्वरीप्रसाद की 'मेडीवल इंडिया', पृ० ६२ में दिया हुआ अवतरण

उनकी लूट-पाट का तो अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता। सरस्वती और संस्कृति के केंद्र भी अछूते न छोड़े गए। जब वि० सं० १२५४ (सन् ११९७ ई०) में मुहम्मद-बिन-बख़्त्यार ने बिहार की राजधानी पर अधिकार किया तब उसने वहाँ के वृहद् बौद्ध विहार को ध्वंस कर दिया; वहाँ के जिस निवासी को पकड़ पाया, तलवार के घाट उतार दिया और 'रत्नावली' नामक पुस्तक-भवन अग्निशिखाओं को समर्पित कर दिया[1]। केवल बख़्त्यार ही की यह विनाशकारी प्रवृत्ति रही हो, सो बात नहीं। अल-बेरुनी सदृश प्राचीन इतिहास-लेखक भी इस बात का साक्ष्य देता है कि हिंदू विद्या और कलाएँ देश के उन भागों से जिन पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था, भागकर उन भागों में चली गई थीं जहाँ उनका हाथ अभी नहीं पहुँच पाया था[2]।

जब तक मुसलमान विजेता लूट-पाट करके ही लौट जाते रहे, तभी तक यह बात न रही, जब मुसलमानों को देश में बस जाने की बुद्धिमत्ता का अनुभव होने लगा और वे बाक़ायदा राज्यों की स्थापना करने लगे तब भी देश की संतान को अधिक से अधिक चूसने की नीति का त्याग नहीं किया गया। जहाँ तक हो सकता था, राज्य की ओर से उनकी जीवन-यात्रा कंटकाकीर्ण बना दी जाती थी। उनके प्राण नहीं लिए जाते थे, यही उनके ऊपर बड़ी भारी कृपा समझी जाती थी। उनको जीवित रहने का भी कोई अधिकार नहीं था। मुसलमान शासक उनका जीवित रहना केवल इसलिये सहन कर लेते थे कि उनको मार डालने से राज्य-कर में कमी पड़ जाती और राजकोष खाली पड़ा रह जाता। अपने प्राणों का भी उन्हें एक

---

(१) रेवर्टी-संपादित 'तबक़ाते नासिरी', भाग १, पृ० ५५२; ईश्वरीप्रसाद-'मेडीवल इंडिया', पृ० १२७।

(२) देखो पादटिप्पणी १, पृष्ठ ३।

कर देना पड़ता था जो 'जज़िया' कहलाता था। सुलतान अला-उद्दीन के दरबार में रहनेवाले काज़ी मुग़ीसुद्दीन सरीखे धर्मनिष्ठ व्यक्ति को भी यह व्यवस्था स्वाभाविक और उचित जँचती थी[1]। हिंदुओं से वसूल किए जानेवाले कर कम न थे। अलाउद्दीन के राजत्वकाल में उन्हें अपने पसीने की कमाई का आधा राज-कोष में दे देना पड़ता था। ऐसी स्थिति में उनके पास इतना भी न बच रहता था कि वे किसी तरह अपने कष्टमय जीवन के दिन काट सकते। बरनी के अनुसार, हिंदुओं में से जो धनाढ्य समझे जाते थे, वे भी घोड़े पर सवारी न कर सकते थे, हथियार न रख सकते थे, सुंदर वस्त्र न पहन सकते थे, यहाँ तक कि पान भी न खा सकते थे। उनकी पत्नियों को भी मुसलमानों के यहाँ मजदूरी करनी पड़ती थी[2]।

हिंदुओं के लिये धार्मिक स्वतंत्रता का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। उनके धर्म के लिये प्रत्यक्ष रूप से घृणा प्रदर्शित की जाती थी। देवालयों को गिराना, देवमूर्तियों को तोड़ना और उनको अनुचित स्थानों में चुनवाना प्रायः प्रत्येक मुस्लिम विजेता और शासक के लिये शौक का काम होता था। फ़ीरोज़शाह ने (रा०-१३५७, मृ०-१३८८) इसलिये एक ब्राह्मण को जीता जला दिया था कि उसने खुले आम हिंदू विधि के अनुसार पूजा की थी[3]। फ़िरिश्ता ने कैथन के रहनेवाले बुड्ढन नाम के एक ब्राह्मण का उल्लेख किया है जिसकी सिकंदर लोदी के सामने इसलिये हत्या कर डाली गई थी कि उसने जन-समुदाय में इस बात की घोषणा

(१) बरनी—"तारीख़ फ़ीरोज़शाही"; "बिब्लोथिका इंडिका", पृ० २६०१; ईलियट, पृ० १८६; ईश्वरीप्रसाद—'मेडीवल इंडिया', पृ० २०८ और ४७५।

(२) "तारीख़े फ़ीरोज़शाही", पृ० २८८; ई० प्र०—"मेडीवल इंडिया", पृ० १८२-८३; "बिब्लोथिका इंडिका", ४७५।

(३) स्मिथ "स्टूडेंट्स हिस्टरी ऑफ् इंडिया", पृ० १२६।

की थी कि हिंदू धर्म भी उतना ही महान् है जितना पैगंबर मुहम्मद का धर्म। कहते हैं कि यह दंड उसे उलमाओं की एक समिति के निर्णय के अनुसार मिला था। उलमाओं ने उसे मृत्यु और इस्लाम इन दोनों में से एक को चुनने को कहा था। बुद्धन ने आत्मा के हनन की अपेक्षा शरीर के हनन को श्रेयस्कर समझा, और वह मरकर इतिहास के पृष्ठों में अमर हो गया[१]।

इस प्रकार पठानी सल्तनत के समय तक आदरास्पद राष्ट्रजन (सिटिज़न) के समस्त अधिकारों से हिंदू जनता सर्वथा वंचित थी। उसका निराशामय जीवन विपत्ति की एक लंबी गाथा मात्र रह गया था। कोई ऐसी पार्थिव वस्तु उसके पास न रह गई थी जो उसके अनुभव की कटुता मे मिठास का जरा भी सम्मिश्रण कर सकता। उसके लिये भविष्य सर्वथा अंधकारमय हो गया था। अंधकार की उस प्रगाढ़ता में प्रकाश की क्षीण से क्षीण रेखा भी न दिखलाई पड़ती थी।

किंतु हिंदू-धर्म को केवल मुसलमानों के ही नहीं, स्वयं हिंदुओं के अत्याचार से भी बचाना आवश्यक था। अपने ऊपर अपना ही

२. वर्ण व्यवस्था की विषमता

यह अत्याचार हिंदू-मुस्लिम-संघर्ष से प्रकाश में आया। हिंदुत्व ने इस बात का प्रयत्न किया है कि सामाजिक हो अथवा राजनीतिक, कोई भी धर्म व्यक्तिगत छीनाझपटी का विषय होकर सामाजिक शांति में बाधक न बने। इस दृष्टि से उसमें मनुष्य मनुष्य के कार्यों की मर्यादा पहले ही से प्रतिष्ठित कर दी गई है। यही वर्ण-व्यवस्था है, जिसमें गुणानुसार कर्मों का विभाग किया गया है। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य के गुण बहुधा परिस्थितियों के ही परिणाम होते हैं। अतएव धीरे धीरे वर्ण का जन्म से ही माना जाना स्वाभाविक था, क्योंकि परि-

(१) ईश्वरीप्रसाद—"मेडीवल इंडिया", पृ० ४८१-८२।

स्थितियाँ जन्म से ही प्रभाव डालना आरंभ कर देती हैं। परंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि जन्म से पड़नेवाला प्रभाव माता-पिता के गुणों का ही होगा अथवा यह कि जन्म से पड़नेवाले प्रभाव अन्य प्रबलतर प्रभावों के आगे मिट नहीं सकते। परंतु धीरे धीरे भारतीय इस बात को भूल गए कि कभी कभी नियमों का ठीक ठीक पालन उनको तोड़कर ही किया जा सकता है। नियमों के भी अपवाद होते हैं, यह उनके ध्यान में न रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदुत्व के धार्मिक नियमों का वास्तविक अभिप्राय दृष्टि से ओझल हो गया और समस्त हिंदू जाति केवल शब्दों की अनुगामिनी बन गई। जो नियम समाज में शांति, मर्यादा और व्यवस्था रखने के लिये बनाए गए थे, वे इस प्रकार समाज में वैषम्य और क्रूरता के विधायक बन गए। जीवन के कार्य-क्रम के चुनाव में व्यक्तिगत प्रवृत्ति का प्रश्न ही न रहा। जिस वर्ण में व्यक्ति-विशेष ने जन्म पा लिया उस वर्ण के निश्चित कार्य-क्रम को छोड़कर और सब मार्ग उसके लिये सर्वदा के लिये बंद हो गए। उद्यम का विभाजन तथा कार्य-व्यापार में कौशल-प्राप्ति का उपाय न रहकर वर्ण-विभाग सामाजिक विभेद हो गया जिसमें कोई उच्च और कोई नीच समझा जाने लगा। शूद्र, जो नीचतम वर्ण में थे, सभ्य-समाज के सब अधिकारों से वंचित रह गए। वेद और धर्मशास्त्रों के अध्ययन का उन्हें अधिकार न था। उनमें से भी अंत्यजों के लिये तो देव-दर्शन के लिये मंदिर-प्रवेश भी निषिद्ध था। उनका स्पर्श तक अपवित्र समझा जाता था।

शताब्दियों तक इस दशा में रहने के कारण शूद्रों के लिये यह सामान्य और स्वाभाविक सी बात हो गई थी। इसका अनौचित्य उन्हें एकाएक खटकता न था। परंतु मुसलमानों के संसर्ग ने उन्हें जागरित कर दिया और उन्हें अपनी स्थिति की वास्तविकता का परिज्ञान हो गया। मुसलमान मुसलमान में कोई भेद-भाव न था।

उनमें न कोई नीच था, न ऊँच। मुसलमान होने पर छोटे से छोटा व्यक्ति अपने आपको सामाजिक दृष्टि में किसी भी दूसरे मुसलमान के बराबर समझ सकता था। अहले-इस्लाम होने के कारण वे सब बराबर थे। पर हिंदू धर्म में यह संभव न था।

इस प्रकार के घृणाव्यंजक विभेदों को हिंदू समाज में रहने देना क्या उचित है? प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के आगे सारी परिस्थिति इस महान् प्रश्न के रूप में उठ खड़ी हुई। शूद्रों के लिये तो यही एकमात्र समस्या थी जिसकी ओर उच्च वर्ण के लोग गहरे प्रहारों के द्वारा रह रहकर उनका ध्यान आकृष्ट किया करते थे। सतारा के संत नामदेव को लोगों ने किस प्रकार, यह मालूम होने पर कि वह जात का छीपी है, एक बार मंदिर से निकाल बाहर किया था, इस बात का उल्लेख स्वयं नामदेव ने अपने एक पद में किया है[1]।

राजनीतिक उत्पातों के कारण जो अव्यवस्था और हाहाकार उत्तर भारत में मचा हुआ था, उससे अभी दक्षिण बचा था। राजनीतिक दृष्टि से वहाँ कुछ शांति का साम्राज्य था और धार्मिक जीवन नवीन जागर्ति पाकर अत्यंत कर्मण्य हो उठा था। बुद्ध के निरीश्वरवादी सिद्धांतों ने जन-समाज के हृदय में जो शून्यता स्थापित कर दी थी उसकी पूर्ति शंकराचार्य का अद्वैतवाद भी न कर सका था। अतएव लोगों की रुचि फिर से प्राचीन ऐकांतिक धर्म की ओर मुड़ रही थी जिसका प्रवर्तन संभवतः बदरिकाश्रम में हुआ था। उपास्य देव को ऐकांतिक प्रेम का आलंबन बनानेवाले इस नारायणी धर्म में जनता ने अपने

४. भगवच्छरणागति

(१) हँसत खेलत तेरे देहुरे आया। भक्ति करत नामा पकरि उठाया॥
हीनड़ी जाति मेरी जादम राया। छीपेके जनमि काहे को आया॥
—आदि-ग्रंथ, पृ० ६२६

हृदय का आकर्षण पाया। गोपाल कृष्ण और वासुदेव कृष्ण ने मिलकर इसमें एक ऐसे स्वरूप को जनता के सामने रखा था जिसमें प्रेम-प्रवणता और नीति-निपुणता की एक ही व्यक्ति में वह अनुपम संसृष्टि हो गई जिसकी ओर दृष्टिपात करते ही जन-समुदाय के हृदय में प्रेम और विश्वास एक साथ जागरित हो गया। कृष्ण ने जनता के हृदय के कोमल तंतुओं का ही स्पर्श नहीं किया था, उनके हृदय में अपनी सुरक्षता की दृढ़ भावना भी बद्धमूल कर दी थी। कृष्ण के प्रेम में जनता ने अर्जुन के समान ही अपने आपको सुरक्षित समझा। ईसा के चार सौ वर्ष पहले चंद्रगुप्त मौर्य की सभा में रहनेवाले यवन राजदूत मेगास्थनीज़ ने जिस 'हिरैक्लीज़' हरि = कृष्ण) को 'उन शौरसेनियों का उपास्य देव बतलाया जिनके देश में मथुरा नगरी अवस्थित है और यमुना प्रवाहित होती है', वह कृष्ण ही था। पांचरात्रों के द्वारा गृहीत होने के कारण यह ऐकांतिक धर्म पांचरात्र और सात्वतों के कारण सात्त्वत धर्म कहलाया। नारायण के साथ एकरूप होकर, कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे इसलिये वह वैष्णव धर्म कहलाया। इनके भगवान् या भगवत् कहलाने से इस धर्म की भागवत संज्ञा भी हुई। ईसा से १४० वर्ष पूर्व तक्षशिला के यवन राजा एंटिआल्काइडस का राजदूत, डिओस का पुत्र हेलिओडोरस जो विदिशा के राजा काशिपुत्र भागभद्र की सभा में रहता था, भागवत था। उसने 'देवदेव वासुदेव' का गरुड़ध्वज-स्तंभ बनवाया था जिस पर उसने अपने आपको स्पष्टतया भागवत लिखा था[1]। गुप्त-राजकुल, जिसका समय चौथी से आठवीं शताब्दी तक है, वैष्णव था। गुप्त राजा अपने आपको परम-भागवत कहा करते थे। उनके

---

(१) देवदेवस वासुदेवस गरुड़ध्वजे अयं
कारिते इअ हेलिओदोरेण भागवतेन

सिक्के तथा विहार, मथुरा और भिटारी के उनके शिलालेख इस बात के साक्षी हैं[1]।

चोल मंडल (कारोमंडल) तट पर वेंगी के पल्लवों के शिलालेखों से पता चलता है कि चौथी-पाँचवीं शताब्दी के पल्लव राजाओं में भी भागवत धर्म का सम्मान था[2]। गुजरात के वलभियों के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। उनके छठी शताब्दी के शिलालेख से यह बात स्पष्ट है। सातवीं शताब्दी में बाणभट्ट ने अपने **हर्षचरित** में पांचरात्र और भागवत दोनों का उल्लेख किया है।

शंकर-दिग्विजय के अनुसार शंकर को पांचरात्र और भागवत दोनों से शास्त्रार्थ करना पड़ा था। शंकर का समय कोई सातवीं शताब्दी मानते हैं और कोई नवीं।

दक्षिण भारत में यह नारायणीय भागवत धर्म कब प्रचारित हुआ, इसका कोई स्पष्ट अनुमान नहीं किया जा सकता। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि अत्यंत प्राचीन काल में ही वह वहाँ पहुँच गया था; और दसवीं शताब्दी में यद्यपि शैव धर्म के प्रमुख स्थान को वह नहीं छीन सका था, फिर भी बद्धमूल तो अवश्य हो गया था। तामिलभूमि के आळवार संतों को हम इस शताब्दी से पहले ही पूर्ण वैष्णव पाते हैं। वैष्णव धर्म का अनुगमन वे केवल शब्दों द्वारा ही नहीं करते थे प्रत्युत वह उनके समस्त जीवन में

दियसपुत्रेण तखसिलाकेन योनदूतेन
आगतेन महाराजस अंतलिकितस उपंता सकासं
रञो कासिपुत्रस भागभद्रस त्रातारस।

(१) कनिंघम—'आर्कियॉलॉजिकल सर्वे', भाग १, प्लेट १७ और २०।

(२) 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', भाग ५, पृ० ५१ और १०६।

व्याप्त था। इन आळ्वार संतों ने सीधी-सादी तामिल भाषा की कविताओं में अपने हृदय के स्वाभाविक उद्गारों को प्रकट किया है। अंतिम प्रसिद्ध आळ्वार शठगोप अथवा नम्माळ्वार था जिसके शिष्य नाथमुनि ने आळ्वारों की चार हजार कविताओं का एक बृहत् संग्रह प्रस्तुत किया था। इस संग्रह का तामिल में वेद-तुल्य आदर है।

नाथमुनि से आळ्वारों की शाखा समाप्त हो जाती है और प्रसिद्ध आचार्यों की शाखा आरंभ होती है। आळ्वार प्रायः नीची जातियों के होते थे परंतु ये वैष्णव आचार्यगण उच्च ब्राह्मण कुल के थे। नाथमुनि (वि० सं० १०४२-१०८७; सन् ९८५-१०३० ई०) परम कृष्णभक्त थे। कृष्ण के जन्म-संबंधी समस्त स्थानों के उन्होंने दर्शन किए थे। मथुरा वृंदावन द्वारका आदि स्थानों की यात्रा करके जब वे लौटे तो अपने नवजात पौत्र का उन्होंने यमुना-तट-विहारी की यादगार में यामुन नाम रखा। यामुना-चार्य अपने पितामह से भी बड़ा पंडित हुआ। वह चोलराज का पुरोहित था। राजा ने एक बार सांप्रदायिक शास्त्रार्थ में अपना राज्य ही दाँव पर रख दिया था। उस अवसर पर विजय प्राप्त कर यामुन ने अपने स्वामी की आन रखी थी। पितामह के मरने पर यामुन संन्यासी हो गया और बड़े उत्साह से वैष्णव धर्म का प्रचार करने लगा। परंतु वैष्णव धर्म को व्यवस्थित करने में इन दोनों से अधिक सफलता रामानुज को हुई जो बाद को नामानुसार लक्ष्मण और शेषनाग के अवतार माने जाने लगे। रामानुज भी दूसरी शाखा से नाथमुनि के प्रपौत्र थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा शांकर अद्वैत के आचार्य यादवप्रकाश के यहाँ हुई थी। अद्वैतवाद उनके मनोनुकूल न था, इसलिये यादवप्रकाश से उनकी निभी नहीं। यामुनाचार्य ने उन्हें अपने पास बुलाया परंतु उन्हें

श्री संप्रदाय में दीक्षित करने के लिये वे जीवित न रह सके। रामानुज को केवल उनके शव का दर्शन हुआ।

श्री वैष्णव संप्रदाय की आधारशिला विशिष्टाद्वैत को, जिसे नाथमुनि ने तैयार किया था, रामानुज ने दृढ़ रूप से आरोपित कर दिया। वेदांत सूत्र पर उनका श्रीभाष्य बहुत प्रसिद्ध हुआ। गीता और उपनिषदों के भी उन्होंने विशिष्टाद्वैती भाष्य किए। इन भाष्यों में उन्होंने शंकर के मायावाद का खंडन किया और माया को ब्रह्म में निहित मानकर उसमें गुणों का आरोप कर लिया जिससे तत्त्व रूप से भी भक्ति के लिये दृढ़ आधार निकल आया। यदि ब्रह्म में ही गुणों का अभाव है, वह तत्त्वतः करुणावरुणालय नहीं है तो ईश्वर ही में गुणों का आरोप कहाँ से हो सकता है; भक्त का उद्धार ही कैसे हो सकता है? शंकर के रूखे अद्वैतवाद से ऊबे हुए लोगों को यह विचारधारा अत्यंत आकर्षक प्रतीत हुई। बड़े बड़े प्रतिवादियों को शास्त्रार्थ में रामानुज के आगे सिर झुकाना पड़ा, नृपतिगण उनके शिष्य होने लगे, उन्होंने बीसियों मंदिर बनवाए और शीघ्र ही उनके भक्तिमूलक सिद्धांतों का जन-समाज में प्रचलन हो गया।

यादवाचल पर नारायण की मूर्ति की स्थापना के साथ रामानुज ने भक्ति की जिस धारा की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया वह समय पाकर देश के एक छोर से दूसरे छोर तक प्लावित करती हुई बहने लगी। उन्नतमनाओं का एक समूह, जिनके हृदय में परमात्मा की दिव्य ज्योति अपनी पूर्ण आभा से जगमगा रही थी, इस प्लावन के विशेष कारण हुए।

रामानुज का समय बारहवीं शताब्दी माना जाता है। रामानुज ही के समय में निंबार्क ने अपने भेदाभेद के सिद्धांत को लेकर वैष्णवमत की पुष्टि की। निंबार्क भागवत-कुल में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने राधाकृष्ण की उपासना को प्राधान्य दिया और वृंदावन

में आकर प्राचीन स्मृतियों के बीच अपने राधाकृष्णमय जीवन को सार्थक समझा।

कर्णाटक और गुजरात में आनंदतीर्थ (मध्व) ने वि० सं० ११५७ से १३३२ (सन् १२०० से १२७५ ई०) के बीच अपने द्वैतवाद के द्वारा उपास्य और उपासक के लिये पूर्ण स्थूल आधार निकालकर वैष्णव भक्ति का प्रचार किया।

महाराष्ट्र में पंढरपुर का विठोबा का मन्दिर वैष्णव धर्म के प्रचार का केंद्र हो गया। ग्यारहवीं शताब्दी में मुकुंदराज ने अद्वैत-मूलक सिद्धांतों को लेकर वैष्णव धर्म का समर्थन किया। नामदेव, ज्ञानदेव आदि पर स्पष्ट ही उसका प्रभाव पड़ा था।

बंगाल में चैतन्यदेव (सं० १५४२-१५९०) और उनकी शिष्यमंडली ने भक्ति की उन्मादकारिणी विह्वलता में जन-समाज को भी पागल बना दिया।

उत्तर में राघवानंद और रामानंद तथा वल्लभाचार्य के प्रयत्न से वैष्णव भक्ति का प्रवाह सर्वप्रिय हो गया। राघवानंद रामानुजी श्रीवैष्णव थे और रामानंद उनके शिष्य, जिनका अलग ही एक संप्रदाय चला। गोसाईं तुलसीदास उन्हीं के संप्रदाय में हुए। रामानंद ने सीताराम की भक्ति का प्रतिपादन किया और वल्लभ ने शुद्धाद्वैत और पुष्टिमार्ग को लेकर राधा-कृष्ण की भक्ति चलाई।

ठीक इसी समय उत्तर भारत के हिंदुओं को मुस्लिम विजय के कारण समस्त विरक्तिमय धर्मों के उस मूल सिद्धांत का अपने ही जीवन में अनुभव हो रहा था, जिसके अनुसार संसार केवल दुःख का आगार मात्र है। उस समय वे ऐसी परिस्थिति में थे जिसमें संसार की अनित्यता का, उसके सुख और वैभव की विनश्वरता का स्वाभाविक रूप से ही अनुभव हो जाता है। अतएव अत्याचार के नीचे पिसकर विपत्ति में पड़े हुए हिंदुओं ने सांसारिक सुख और

विभव से अपनी दृष्टि मोड़ ली, और उस एक मात्र आनंद को प्राप्त करने के लिये जिससे उन्हें वंचित रख सकना किसी की सामर्थ्य में नहीं था, वे वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रचारित इस भक्ति की धारा में उत्सुकता के साथ डुबकी लगाने लगे।

इस आनंद का उद्रेक देश के विभिन्न भागों से कवियों की मधुर वाणी में छलक छलककर बहने लगा। बंगाल में उमापति (१०५० वि० सं०) और जयदेव (१२२० वि० सं०) अपने हृदय के मृदुल उद्‌गारों को दिव्य गीतों में पहले ही प्रकट कर चुके थे। जयदेव के जगत्प्रसिद्ध गीतगोविंद के राधामाधव के क्रीड़ा-कलापों की प्रतिध्वनि मैथिल कोकिल विद्यापति (१४५० वि० सं०) की कोमल-कांत 'पदावली' में सुनाई दी। गुजरात में नरसी मेहता ने, मारवाड़ में मीराबाई ने, मध्यदेश में सूरदास ने और महाराष्ट्र में ज्ञानदेव, नामदेव और तुकाराम ने इस भक्तिमूलक आनंद की अजस्र वर्षा कर दी।

इससे हिंदुओं को प्रतिरोध की एक ऐसी निष्क्रिय शक्ति प्राप्त हुई जिसने उन्हें भय की उपेक्षा, अत्याचारों का सहन और प्राणांतक कष्टों को सहते हुए भी जीवन धारण करना सिखाया। इस प्रकार जो जाति नैराश्य के गर्त में पड़कर जीवन की आशा छोड़ चुकी थी उसने वह सत्त्व संचय कर लिया जिसने क्षीण होने का नाम न लिया।

भगवान् के दिव्य सौंदर्य से उदय होनेवाला आनंदातिरेक निष्क्रिय शक्ति का ही रूप धारण करके नहीं रह गया। उसने दैत्य-विनाशिनी क्रियमाण शक्ति का रूप भी देखा। तुलसीदास ने पुरानी कहानी में इसी अनंत शक्ति से संयुक्त राम को अपने अमोघ बाण का संधान किए हुए अन्यायी रावण के विरुद्ध खड़ा दिखाया। *भक्त-शिरोमणि समर्थ रामदास ने तो आगे चलकर शिवाजी में वह* शक्ति भर दी जिसने शिवाजी को भारतीय इतिहास में एक विशिष्ट स्थान दिला दिया।

परंतु वैष्णव आंदोलन से भी परिस्थिति की सब आवश्यकताओं की पूर्ति न हुई। घटनाओं के प्रवाह ने जिन दो जातियों को भारत में ला इकट्ठा किया, उनके बीच सार्वत्रिक विरोध था। विजेता और विजित में स्थिति का कुछ अंतर तो होता ही है, परंतु इन दोनों जातियों के बीच ऐसे धार्मिक विरोध भी थे जो विजेताओं को अधिकाधिक दुर्व्यवहार और अत्याचार करने की प्रेरणा करते थे। मुस्लिम विजय केवल मुस्लिम राजा की विजय न थी, बल्कि मुहम्मद की विजय भी थी। इस्लाम की सेना केवल अपने राजा के राज्य-विस्तार के उद्देश्य से नहीं लड़ रही थी, बल्कि 'दीन' के प्रसार के लिये भी। अतएव यह दो जातियों का ही युद्ध न था, दो धर्मों का युद्ध भी था। हिंदू मूर्तिपूजक था, मुसलमान मूर्ति-भंजक। हिंदू बहुदेववादी था पर मुसलमान के लिये एक अल्लाह को छोड़कर, मुहम्मद जिसका रसूल है, किसी दूसरे के सामने सिर झुकाना कुफ़्र था, और कुफ़्र के अपराधी काफ़िर की हत्या करना धार्मिक दृष्टि से अभिनंदनीय समझा जाता था, यहाँ तक कि हत्यारे को ग़ाज़ी की उपाधि दी जाती थी। इस सम्मान के लिये प्रत्येक अहले-इस्लाम लालायित रहता रहा होगा। अतएव कोई आश्चर्य नहीं कि हिंदुओं पर मुसलमानों का अत्याचार उतार पर न था और न मुसलमानों के प्रति हिंदुओं की ही वह "घोर घृणा" कम हो रही थी, जिसके अल-बेरूनी को दर्शन हुए थे[1]। इस प्रकार इन दो जातियों के बीच द्वेष का विस्तीर्ण समुद्र था जिसे पार करना अभी शेष था।

५. सम्मिलन का आयोजन

सौभाग्य से दोनों जातियों में ऐसे भी महामना थे जिनको यह अवस्था शोचनीय प्रतीत हुई। वे इस बात का अनुभव करते थे कि न तो मुसलमान इस देश से बाहर खदेड़े जा सकते हैं और न धर्म-

(१) ई० प्र०—"मेडीवल इंडिया", पृ० १२।

परिवर्तन अथवा हत्या से हिंदुओं की इतिश्री ही की जा सकती है। उस समय की यही स्पष्ट आवश्यकता थी कि हिंदू और मुसलमान अड़ोसी-पड़ोसी की भाँति प्रेम और शांति से रहें और इन उदारचेताओं को भी इस आवश्यकता का स्पष्ट अनुभव हुआ। दोनों जातियों के दूरदर्शी विरक्त महात्माओं को, जिन्हें जातीय पक्षपात छू नहीं गया था, जिनकी दृष्टि तत्काल के हानि-लाभ सुख-दुःख और हर्ष-विषाद के परे जा सकती थी, इस आवश्यकता का सबसे तीव्र अनुभव हुआ। प्रसिद्ध योगिराज गुरु गोरखनाथ[1] ने—जिनका समय दसवीं शताब्दी के लगभग ठहरता है—क़ुरान में प्रतिपादित बलात्कार का निषेध करनेवाले उस दिव्य सिद्धांत को मुसलमानों के हृदय पर अंकित करने का प्रयत्न किया है, जिसका पीछे उल्लेख किया जा चुका है। एक काजी को संबोधित करके उन्होंने कहा था कि "हे काजी! तुम व्यर्थ मुहम्मद मुहम्मद न कहा करो। मुहम्मद को समझ सकना बहुत कठिन है, मुहम्मद के हाथ में जो छुरी थी वह लोहे अथवा इस्पात की बनी नहीं थी[2]।" अर्थात् वे प्रेम अथवा आध्यात्मिक आकर्षण से लोगों को वश में करते थे। हिमालय में प्रचलित मठों में इस बात का उल्लेख है कि महात्मा गोरखनाथ ने हिंदू मुसलमान दोनों को अपना चेला बनाया था[3]। बाबा रतन हाजी उनका मुसलमान चेला मालूम पड़ता है, जिसने मुहम्मद नामक किसी मुसलमान बादशाह को

(१) गोरखनाथ संबंधी अपने अनुसंधान का मैं एक अलग निबंध में समावेश कर रहा हूँ।

(२) मुहम्मद मुहम्मद न कर काजी मुहम्मद का विषम विचार।
मुहम्मद हाथि करद जे होती लोहे गढ़ी न सारं॥
—"गोरखबानी साखी", ८, पौड़ी हस्तलेख।

(३) हिंदू मुसलमान बाल गुदाई। दोऊ सहरथ लिये लगाई॥
—"रखवाली"।

प्रबोधित करते हुए **काफिर-बोध** नामक पद्य-ग्रंथ लिखा था, जो आजकल कहीं गोरखनाथ और कहीं कबीर का माना जाता है। 'काफिर-बोध' में यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि हिंदू और मुसलमान में भेद-भाव नहीं रखना चाहिए, क्योंकि जिस बिंदु से हिंदू-मुसलमान पैदा होते हैं वह न हिंदू है, न मुसलमान। हिंदू मुसलमान दोनों एक ही परमात्मा के सेवक हैं अतएव हम जोगी किसी से पक्षपात नहीं रखते[1]।

लगभग दो शताब्दी के बाद वैष्णव साधु रामानंद ने कबीर नामक एक मुसलमान युवक को अपना चेला बनाया, जिसके भाग्य में एक बड़े भारी ऐक्य-आंदोलन का प्रवर्तक होना लिखा था।

स्वयं मुसलमानों में ऐसे लोगों का अभाव न था जो हिंदू-मुस्लिम विद्वेष के अनौचित्य को देख सकते। इनमें प्रमुख सूफी फकीर थे जिनकी विचार-धारा हिंदुओं के अधिक मेल में थी। सूफी मत का उदय अरब में हुआ था। अरब और भारत का पारस्परिक संबंध बहुत प्राचीन है। इतना तो पाश्चात्य विद्वान् भी मानते हैं कि अरब और भारत का व्यापार-संबंध ईसा के पूर्व १०८८ वर्ष पहले से है[2]। बौद्ध धर्म ने अशोक के राजत्व-काल

६. हिंदू विचारधारा और सूफी धर्म

---

(१) जिस पाणी से कुल आलम उतपानां।
ते हिंदू बोलिए कि मुसलमानां॥ २०॥
हिंदू मुसलमान खुदाइ के बंदे।
हम जोगी ना रखें किस ही के छंदे॥ ६॥

—"पौड़ी हस्तलेख", पृ० २४३।

(२) लंदन की रायल सोसाइटि ऑव आर्ट के भारतीय विभाग के सामने कप्तान पी० जॉन्स्टन सेंट का दिया हुआ **ऐन आउट-लाइन ऑव दि हिस्टरी ऑव मेडिसिन इन इंडिया** (भारतीय औषध-विज्ञान के इतिहास की रूप-रेखा) शीर्षक सर जार्ज बर्डवुड-स्मारक व्याख्यान,

में भारत की पश्चिमोत्तर सीमा को पार कर लिया था। महायान धर्म, जिसमें बुद्ध धर्म ने भक्तियोग, और दर्शनशास्त्र को बहुत कुछ अपना लिया था, ईसा की पाँचवीं शताब्दी में पश्चिमोत्तर भारत से, बाहर कदम रख चुका था। फाहियान को खूटान में उसके दर्शन हुए थे। डाक्टर स्टीन की खोजों से फाहियान का समर्थन होता है। ई० सन् ७१२ में अरबों ने सिंध-विजय की। अरब विजेता भारत से केवल लूट-पाट का माल ही नहीं ले गए, प्रत्युत भारतीय संस्कृति में उन्हें जो कुछ सुंदर और कल्याणकर मिला, उससे भी उन्होंने लाभ उठाया। भारतीय संस्कृति, भारतीय विज्ञान, भारतीय दर्शन सबका उन्होंने समादर किया और अरब को ले गए। इसी शताब्दी में, अरब में, सूफी मत का उदय हुआ। सूफी शब्द का पहला उल्लेख सीरिया के ज़ाहिद अबू हसन की रचनाओं में मिलता है, जिसकी मृत्यु ई० सन् ७८० में हुई[१]। सन् ७५६ से ८०६ तक बग़दाद के अब्बासी सिंहासन पर मंसूर और हारूँ रशीद सदृश उदार खलीफा बैठे, जिन्होंने विद्या और संस्कृति को अपने यहाँ उदारता-पूर्ण प्रश्रय दिया। अपने बरामका मंत्रियों की सलाह से उन्हें इस संबंध में बड़ी सहायता मिलती थी। बरामका लोग पहले बौद्ध थे, पीछे से उन्होंने इस्लाम धर्म को ग्रहण कर लिया[२]। उनका भारतीय संस्कृति से आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। सन् ७९० से ८१० तक याहिया बरामकी मंत्री रहा। उसने एक योग्य व्यक्ति को भारतीय धर्मों और भारतीय चिकित्साशास्त्र का अध्ययन और अन्वेषण करने के लिये भारत भेजा। इस व्यक्ति

जिससे कुछ अवतरण हिंदू युनिवर्सिटी मैगेज़ीन भाग २६, नं० ३, पृ० २३० में और उसके आगे के पृष्ठों में छपे थे।

(१) अयारिफुल मआरिफ (अँगरेजी अनुवाद), पृ० १।

(२) नदवी—अरब और भारत के संबंध, पृ० ६४।

ने अध्ययन और अन्वेषण से जो कुछ पता लगाया, उसका लंबा चौड़ा विवरण लिखा। यद्यपि यह विवरण अब लभ्य नहीं है, तो भी उसका संक्षेप इब्न नदीम की **किताबुल फेहरिस्त** में सुरक्षित है। इब्न नदीम ने विवरण के लिखे जाने के ७०-८० वर्ष बाद अपना संक्षेप तैयार किया था[1]। इस संक्षेप से पता चलता है कि इस विवरण के लेखक ने हिंदू धर्म के सिद्धांतों के दार्शनिक मूल तत्त्व को अच्छी तरह से समझ लिया था। अरबों को हिंदू धर्म का साधारण ज्ञान तो पहले ही से रहा होगा अन्यथा वे उसके प्रगाढ़ परिचय के लिये लालायित न होते। कहना न होगा कि भारत में धर्म और दर्शन का अन्योन्याश्रय-संबंध है। सूफी धर्म पर शंकर के कट्टर अद्वैत वेदांत का असर नहीं दिखाई देता है, इससे यह परिणाम न निकालना चाहिए कि सूफी विचारधारा के निर्माण में हिंदू विचारधारा का कोई हाथ नहीं है। भारत में भी वेदांत के अंतर्गत शांकर मत का विकास बहुत पीछे हुआ। संभव है, नौस्टिसिज्म और नियो-प्लेटैनिज्म ने भी सूफी मत के ऊपर प्रभाव डाला हो। परंतु मिस्टर पोकौक ने अपनी पुस्तक **इंडिया इन ग्रीस** (यूनान में भारत) में दिखलाया है कि यूनान भारतीय प्रभाव से ओत-प्रोत है। **कुरान** ने विरक्ति का निषेध किया है। इसके विरोध में जिन कुछ लोगों ने मिलकर सन ६२३ में तपोमय जीवन बिताने का निश्चय किया, उन्हें सूफी मानना भी ठीक नहीं। सूफी मत की विशेषता केवल तपोमय जीवन न होकर परमात्मा के प्रति अनन्य प्रेम-भावना है, जिससे समस्त संसार उन्हें परमात्मा-मय मालूम होता है, जिसके आगे अंध-विश्वास और अंध-परंपरा कुछ भी नहीं ठहरने पाते और जिसका आधार अद्वैतमूलक सर्वात्मवाद है।

---

(१) नदवी—अरब और भारत के संबंध, पृ० १६७।

जो हो, इस बात को सब विद्वान् मानते हैं कि सूफी मत का दूसरा उत्थान, जिसका विकास फारस में हुआ, अधिकांश में हिंदू प्रभावों का परिणाम है। यहाँ पर हमारा उसी से अधिक संबंध है।

इस प्रकार सूफी मत का उदय अरब में और विकास फारस में बहुत कुछ भारतीय संस्कृति के प्रभाव से हुआ। उनका अद्वैत-मूलक सर्वात्मवाद भारतीय दर्शन का दान है। नियोप्लेटोनिक सिद्धांतों ने उनकी दार्शनिक तृषा को उभाड़ा अवश्य होगा, परंतु उनके सिद्धांतों के अध्ययन से जान पड़ता है कि उसकी शांति भारतीय सिद्धांतों से ही हुई। जन्मांतरवाद, विरक्त जीवन, फरिश्तों के प्रति पूज्य भाव (बहु देव-वाद) ये सब इस्लाम के विरुद्ध हैं और सूफी संप्रदाय को बाहरी संसर्ग से प्राप्त हुए हैं। इनमें से विरक्त जीवन तथा फरिश्ता-पूजन में ईसाई प्रभाव मानना ठीक है परंतु जन्मांतरवाद स्पष्ट ही भारतीय है। उनका 'फ़ना' भी बौद्ध 'निर्वाण' का प्रतिरूप है। परंतु बौद्ध निर्वाण की तरह स्वयं साध्य न होकर वह 'मनमारण' के द्वारा द्वैतभावना का नाश कर 'बका' अथवा 'अपरोक्षानुभूति' का साधन है। प्रसिद्ध सूफ़ी फ़कीर बायज़ीद ने 'फ़ना' का सिद्धांत अबू अली से सिंध में सीखा था। अबू अली को प्राणायाम की विधि भी मालूम थी, जिसे वे पास-ए-अनफ़ास कहते थे। सूफियों पर भारतीय संस्कृति का इतना प्रभाव पड़ा था कि उनके दिल में मूर्ति के लिये भी विरोध न रह गया था और वे 'बुत' के परदे में भी ख़ुदा को देख सकते थे। प्रभाव चाहे जहाँ से आया हो, इतना स्पष्ट है कि हिंदू विचार-परंपरा और सूफ़ी विचार-परंपरा में अत्यंत अधिक समानता थी।

विचार-परंपरा की इस समानता ने स्वभावतः उन्हें हिंदुओं की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने हिंदुओं से खूब मेल-जोल बढ़ाया। हिंदू साधुओं का उन्हें सत्संग प्राप्त हुआ, हिंदू घरों से भी उन्होंने भिक्षा प्राप्त

की। हिंदुओं के जीवन को उन्होंने विजेता की ऊँचाई से नहीं बल्कि सहृदयता की निकटता से देखा। उनकी विपत्ति के लिये उनके हृदय में सहानुभूति का स्रोत उमड़ पड़ा। अपने सधर्मियों की उठी हुई तलवार के प्रहार को उन्होंने अपने ही ढंग पर रोकने का प्रयत्न किया। उन्होंने उनकी तर्कबुद्धि पर असर डालने का प्रयत्न नहीं किया, उनके हृदय की भावुकता को उद्दीप्त कर यह काम करना चाहा। हिंदू-हृदय की सरल सुषमा को उन्होंने उनके समक्ष उद्घाटित कर मुस्लिम हृदय के सौंदर्य को प्रस्फुटित करना चाहा। अतएव उन्होंने मौलाना रूमी की मसनवी के ढंग पर हिंदू जीवन की मर्म-स्पर्शिणी कहानियाँ लिखकर भारतीयों की बद्धमूल संस्कृति की मनोहारिणी व्याख्या की। हिंदी की ये पद्य-कहानियाँ अँगरेजी साहित्य के रोमांटिक आंदोलन की समकक्ष हैं। इन कहानियों का लिखा जाना कब और किसके द्वारा आरंभ हुआ, इसका अभी ठीक ठीक पता नहीं। सबसे पुराना ज्ञात प्रेमाख्यानक कवि मुल्ला दाऊद मालूम होता है जो अलाउद्दीन के राजत्वकाल में वि० सं० १४८७ के आसपास विद्यमान था। परंतु मुल्ला दाऊद भी आदि प्रेमाख्यानक कवि था या नहीं, नहीं कह सकते। उसकी **नूरक और चंदा की कहानी** का हमें नाम ही नाम मालूम है। कुतबन की **मृगावती** पहली प्रेम-कहानी है जिसके बारे में हम कुछ जानते हैं। यह पुस्तक सिकंदर लोदी के राजत्वकाल में संवत् १५५७ के लगभग लिखी गई थी जब कि परस्पर-विरोधी संस्कृतियों का समझना सबसे अधिक आवश्यक जान पड़ता था। परंतु **मृगावती** में इस प्रकार की कहानी लिखने की कला इतनी कुछ विकसित है कि उसे भी हम इस प्रकार की पहली कहानी नहीं मान सकते। कुतबन के बाद मंझन ने **मधु-मालती**, मलिक मुहम्मद जायसी ने **पदमावत** और उसमान ने **चित्रावली** लिखी। इन प्रेम-कहानियों

की धारा बराबर बीसवीं शताब्दी तक बहती चली आई है। ये कहानियाँ एक प्रकार से अन्योक्तियाँ हैं जिनमें लौकिक प्रेम ईश्वरोन्मुख प्रेम का प्रतीक है। इनको पढ़ने से मालूम होता है, जैसे इनके मुसलमान लेखक हिंदुओं के जीवन सिद्धांतों का उपदेश कर रहे हों। आदि मुस्लिम काल की इन कहानियों में भी हिंदू जीवन की बारीक से बारीक बातें बड़े ठिकाने से चित्रित हैं, जिससे पता चलता है कि इनके सूफी लेखक हिंदू समाज तथा हिंदू साधुओं से घनिष्ठ मेलजोल रखते थे। इससे यह भी पता चलता है कि उनके हृदय में हिंदुओं के प्रति कितनी सहानुभूति थी। इससे स्वभावतः हिंदुओं में भी उनके प्रति श्रद्धा और आदर का भाव उदित हुआ होगा। हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान् पं० रामचंद्र शुक्ल का अनुभव है कि जिन जिन परिवारों में **पद्मावत** की पोथी पाई गई वे हिंदुओं के अविरोधी, सहिष्णु और उदार पाए गए। इस प्रकार दोनों जातियों के साधुओं के कर्तृत्व से एक ऐसी भूमि का निर्माण हो रहा था जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों प्रेम-पूर्वक मिल सकते।

आपत्काल में भगवान् की शरण में जाकर हिंदू किस प्रकार हार्दिक शांति प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे, यह हम देख चुके हैं। शूद्र को भगवान् की शरण में जाने का द्विगुण कारण विद्यमान था। उस पर दुगुना अत्याचार होता था। हिंदू होने के कारण मुसलमान उसके ऊपर अत्याचार करता था और शूद्र होने के कारण वर्ण का सधर्मी उच्च जाति का हिंदू। अतएव परमात्मा की शरण में जाने के लिये उसकी आकुलता का पारावार न रहा।

७. शूद्रोद्धार

मध्यकालीन भारत के धार्मिक इतिहास के पन्ने शूद्र भक्तों के नामों से भरे हैं, जिनका आज भी ऊँच-नीच सब बड़े आदर के साथ स्मरण करते हैं। शठगोप (नम्माळ्वार), नामदेव, रैदास,

सेन आदि नीच जाति के भक्तों का नाम सुनते ही हृदय में श्रद्धा उमड़ पड़ती है। हमारी श्रद्धा की इस पात्रता की सच्ची परख हमारी क्रूरता हुई। बाधाओं को कुचलकर शूद्र आध्यात्मिक जगत् में ऊपर उठे। समाज की ओर से तो उनके लिये यह मार्ग भी बंद था।

शूद्रों की तपस्या ने धीरे धीरे परिस्थिति को बदलना आरंभ कर दिया। तामिल भूमि में तो मुसलमानों के आने के पहले ही शैव संत कवियों तथा वैष्णव आळ्वारों को 'यो नः पिता जनिता विधाता' के वैदिक आदर्श की सत्यता की अनुभूति हो गई थी। जब सब का पिता एक परमात्मा है जो न्यायकर्ता है, तब ऊँच-नीच के लिये जगह ही कहाँ हो सकती है। उनकी धर्मनिष्ठाजन्य साम्य-भावना के कारण यह बात उनकी समझ में न आती थी। एक पिता के पुत्रों में प्रेम और समानता का व्यवहार होना चाहिए न कि घृणा और असमानता का। अतएव वे सामाजिक भावना में वह परिवर्तन देखने के लिये उत्सुक हो उठे, जिससे परस्पर न्याय करने की अभिरुचि हो, सौहार्द बढ़े और ऊँच-नीच का भेद-भाव मिट जाय। तिरु मुलर (१० वीं शताब्दी) ने घोषणा की कि समस्त मानव-समाज में एक के सिवा दूसरा वर्ण नहीं और एक के सिवा दूसरा परमात्मा भी नहीं[1]। नम्माळ्वार ने कहा, वर्ण किसी को ऊँचा अथवा नीचा नहीं बना सकता; जिसे परमात्मा का ज्ञान है, वही उच्च है और जिसे नहीं, वही नीच[2]। शैव भक्त पट्टाकिरियर की यही आंतरिक कामना थी कि अपने ही भाइयों को यहाँ के लोग नीच समझने से कब बाज आवेंगे। वह यही मनाता रहा कि कब

(१) 'सिद्धांतदीपिका' ११, १० (अप्रैल १९११) पृ० ४३३; कार्पेंटर—'थीज़्म इन मेडीवल इंडिया', पृ० ३६३.

(२) "तामिल स्टडीज़", पृ० ३२७; कार्पेंटर-थीज़्म, पृ० ३८२.

वह दिन आवेगा जब हमारी जाति एक ऐसे बृहद् भ्रातृमंडल में परिणत हो जायगी, जिसे वर्ण-भेद का अत्याचार भी अव्यवस्थित न कर सके— वर्ण-भेद का वह अत्याचार जिसका विरोध कर कपिल ने प्राचीन काल में शुद्ध मनुष्य मात्र होना सिखाया था[1]। भक्त तिरुप्पना-व्वार को नीच जाति का होने के कारण जब लोगों ने एक बार श्रीरंग के मंदिर में प्रवेश करने से रोक दिया तो उच्च जाति का एक भक्त उसे अपने कंधे पर चढ़ाकर मंदिर में ले गया[2]।

परंतु वैष्णव धर्म का पुनरुत्थान जिन कट्टर परिस्थितियों में हुआ, उन्होंने इस न्याय-कामना के अंकुर को पनपने न दिया। आळवारों के बाद वैष्णव धर्म की बागडोर जिन महानाचार्यों के हाथ में गई वे बहुत कट्टर कुलों के थे और परंपरागत शास्त्रों की सब मर्यादाओं की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते थे। शूद्रों के लिये भक्ति का अधिकार स्वीकार करना भी उन्हें खला। जिस अज्ञान की दशा में शूद्र युगों से पड़े हुए थे, उससे उनको उठने देना उन्हें अभीष्ट न था। रामानुजाचार्य ने उनके लिये केवल उस प्रपत्ति मार्ग की व्यवस्था की जिसमें संपूर्ण रूप से भगवान् की शरण में जाना होता था, भक्ति मार्ग की नहीं। भक्ति से उनका अभिप्राय अनन्य चिंतन के द्वारा परमात्मा की ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न था जिसकी केवल ऊँचे वर्णवालों के लिये व्यवस्था की गई थी। शूद्र इसके लिये अयोग्य समझा गया।

किंतु उत्तर भारत में परिस्थितियाँ दूसरे प्रकार की थीं। वहाँ ये बातें चल न सकती थीं। मुसलमानी समाजव्यवस्था की तुलना में हिंदू वर्ण-व्यवस्था में शूद्रों की असंतोषजनक स्थिति सहसा खटक जाती थी। अतएव इन आचार्यों द्वारा प्रवर्तित वैष्णव धर्म को

---

(१) "तामिळ स्टडीज़", पृ० १२६; २११.

(२) कार्पेंटर—'थीज़्म', पृ० २०६.

लहर जब उत्तर-भारत में आई तो उस पर भी परिस्थितियों ने अपना प्रभाव डालना आरंभ कर दिया। परिस्थितियों का यह प्रभाव बहुत पहले गोरखनाथ ही में दृष्टिगत होने लगता है जिसने मुसलमान बाबा रतन हाजी को अपना शिष्य बनाया था, किंतु दक्षिण से आनेवाली वैष्णव धर्म की इस नवीन लहर में इसका पहले पहल दर्शन हमें रामानंद में होता है। रामानंद ने काशी में शांकर अद्वैत की शिक्षा प्राप्त की थी किंतु दीक्षा दी थी उन्हें विशिष्टाद्वैती स्वामी राघवानंद ने जो रामानुज की शिष्य-परंपरा में थे। कहते हैं कि राघवानंद ने अपनी योग-शक्ति से रामानंद की आसन्न मृत्यु से रक्षा की थी।

रामानंद ने उत्तरी भारत की परिस्थितियों को बहुत अच्छी तरह से समझा। उन्हें इस बात का अनुभव हुआ कि नीच वर्ण के लोगों के हृदय में सच्ची लगन पैदा हो गई है। उसे दबा देना उन्होंने अनुचित समझा। अतएव उन्होंने परमात्मा की भक्ति का दरवाजा सब के लिय खोल दिया। उन्होंने जिस वैरागी संप्रदाय का प्रवर्तन किया था, उसमें जो चाहता प्रवेश कर सकता था। भगवद्भक्ति के क्षेत्र में उन्होंने वह भावना उत्पन्न कर दी जिसके अनुसार 'जाति पाँति पूछे नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई॥' भक्ति के क्षेत्र में उन्होंने वर्ण-विभेद को ही नहीं, धार्मिक विद्वेष को भी स्थान न दिया और ऊँच-नीच, हिंदू-मुसलमान सबको शिष्य बनाया। एक ओर तो उनके अनंतानंद, भवानंद आदि ब्राह्मण शिष्य थे जिन्होंने रामभक्ति को लेकर चलनेवाली वैष्णवधारा को कट्टरता की सीमा के अंदर रखा तो दूसरी ओर उनके शिष्यों में नीच वर्ण के लोग भी थे जिन्होंने कट्टरता के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई। इनमें धन्ना जाट था, सैन नाई, रैदास चमार और कबीर मुसलमान जुलाहा। भविष्य पुराण से तो पता चलता है कि भक्ति

के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि सामाजिक क्षेत्र में भी रामानंद ने कुछ उदारता का प्रवेश किया था। कहते हैं कि फैजाबाद के सूबेदार ने कुछ हिंदुओं को जबर्दस्ती मुसलमान बना लिया था। रामानंदजी ने इन्हें फिर से हिंदू बना लिया। ये लोग संयोगी कहलाते थे और अयोध्या में रहते थे। कहा जाता है कि अब भी ये अयोध्या के आस पास रहते हैं। भविष्य पुराण के अनुसार स्वामी रामानंदजी ने इस अवसर पर ऐसा चमत्कार दिखलाया जिससे इन लोगों के गले में तुलसी की माला, जिह्वा पर रामनाम और माथे पर श्वेत और रक्त-तिलक अपने आप प्रकट हो गए[1]। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि इन्होंने खान-पान के नियमों को भी कुछ शिथिल कर दिया। कहा जाता है कि मूल श्रीसंप्रदायवालों को स्वामी रामानंद जी की यह उदार प्रवृत्ति अच्छी न लगी और उन्होंने उनके साथ खाना अस्वीकार कर दिया। इससे रामानंद को अपना ही अलग संप्रदाय चलाने की आवश्यकता का अनुभव हुआ जिसे चलाने के लिये उन्हें अपने गुरु राघवानंद जी की भी अनुमति मिल गई। पर रामानंदजी ने भी परंपरागत कट्टर परिस्थितियों में शिक्षा-दीक्षा पाई थी। इसलिये यह आशा नहीं की जा सकती थी कि उन्मेष-प्राप्त शूद्रों की आकांक्षाओं को वे पूर्ण कर सकते। उनके शिष्यों में अनंतानंद आदि कट्टर मर्यादावादी लोग भी थे। शास्त्रोक्त लोक-मर्यादा के परम-भक्त गोस्वामी तुलसीदास भी रामानंद की ही शिष्य-परंपरा में थे। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने भक्त्युपदेशों

---

(१) म्लेच्छास्ते वैष्णवाश्चासन् रामानंदप्रभावतः। संयोगिनश्च ते ज्ञेया अयोध्यायां बभूविरे॥ कंठे च तुलसीमाला जिह्वा राममयी कृता। भाले त्रिशूलचिह्नं च श्वेतरक्तं तदाभवत्॥

—भविष्य पुराण (वेंकटेश्वर प्रेस, १८६४) अध्याय २१, पृ० ३६२, प्रपाठक ३.

और तत्त्वज्ञान को बे-हिचक अपनी वाणी के द्वारा ऊँच-नीच सब में वितरित किया था तथापि वे बहुत दूर न जा सकते थे। इतना भी उनके लिये बहुत था। वेदांतसूत्र पर **आनंद-भाष्य** नामक एक भाष्य उनके नाम से, प्रचलित हुआ है। उसके शूद्राधिकार में शूद्र का वेदाध्ययन का अधिकार नहीं माना गया है। अभी इस भाष्य पर कोई मत निश्चित करना ठीक नहीं है।

सामाजिक व्यवहार के क्षेत्र में हिंदू को मुसलमान से जो संकोच होता है तथा द्विज को शूद्र से, उसका निराकरण स्वामी रामानंद स्वत: कर सकते, यह आशा नहीं की जा सकती थी। यह उनके शिष्य कबीर के बाँट में पड़ा, जिसके द्वारा नवीन विचार-धारा को पूर्ण अभिव्यक्ति मिली।

८. निर्गुण संप्रदाय

इस प्रकार मध्यकालीन भारत को एक ऐसे आंदोलन की आवश्यकता थी जिसका उद्देश्य होता उस अज्ञान और अंधपरंपरा का निराकरण जिसने एक ओर तो मुसलमानी धर्मांधता को जन्म दिया और दूसरी ओर शूद्रों के ऊपर सामाजिक अत्याचार को। यही दो बातें सांप्रदायिक ऐक्य और सामाजिक न्याय-भावना में बाधक थीं।

दोनों धर्मों के विरक्त महात्मा किस प्रकार आपस में तथा दूसरे धर्मों के साधारणजन-समाज में स्वच्छंदतापूर्वक समागम के द्वारा सौहार्द, सहिष्णुता और उदारता के भावों को उत्पन्न करने का उद्योग कर रहे थे, यह हम देख चुके हैं। इस समागम में एक ऐसे आध्यात्मिक आंदोलन के बीज अंतर्हित थे जिसमें समय की सब समस्याएँ हल हो सकतीं; क्योंकि इसी समागम में दोनों धर्मवाले अपने अपने सधर्मियों की भूलें समझना सीख सकते थे, और यहीं दोनों धर्म एक दूसरे के ऊपर शांत रूप से प्रभाव डाल सकते थे। जब समय पाकर धीरे धीरे विकसित होकर यह

आध्यात्मिक आंदोलन निर्गुण संप्रदाय के रूप में प्रकट हुआ तो मालूम हुआ कि केवल एक से सुख-दुःख, हर्ष-विषाद और आशा-आकांक्षाओं के कारण ही हिंदू-मुसलमान एक नहीं हैं बल्कि उनके धार्मिक सिद्धांतों में भी, जो इस समय दोनों जातियों को एक दूसरे से बिलकुल विलग किए हुए थे, कुछ समानता थी। अनुभव से यह देखा गया कि समानता की बातें मूल तत्त्व से संबंध रखती थीं और असमानताएँ, जो बढ़ा बढ़ा कर बताई जाती थीं और जिन पर अब तक जोर दिया जा रहा था, केवल बाह्य थीं। दोनों धर्मों के संघर्ष से जो विचार-धारा उत्पन्न हुई, उसी ने उस संघर्ष की कटुता को दूर करने का काम भी अपने ऊपर लिया। सम्मिलन की भूमिका का मूल आधार हिंदुओं के वेदांत और मुसलमानों के सूफी मत ने प्रस्तुत किया। सूफी मत भी वेदांत ही का रूप है जिसमें उसने गहरे रंग का भावुक बाना पहन लिया था और इस्लाम की भावना पर इस प्रकार व्याप्त हो गया था कि उसमें अजनबीपन जरा भी न रहा और उसे वहाँ भी मूल तत्त्व का रूप प्राप्त हो गया। इस नवीन दृष्टि-कोण की पूरी अभिव्यक्ति कबीर में मिली, जो मुसलमान मा-बाप से पैदा होने पर भी हिंदू साधुओं की संगति में बहुत रहा था। स्वामी रामानंद के चरणों में बैठकर उसने ऐकांतिक प्रेम-पुष्ट वेदांत का ज्ञान प्राप्त किया था और शेख तक़ी के संसर्ग में सूफी मत का। सूफी मत और उपासना-परक वेदांत दोनों ने मिलकर कबीर के मुख से घोषित किया कि परमात्मा एक और अमूर्त है। वह बाहरी कर्मकांड के द्वारा अप्राप्य है, उसकी केवल प्रेमानुभूति हो सकती है, कर्मकांड तो वस्तुतः परमात्मा को हमारी आँखों से छिपाने का काम करता है। सर्वत्र उसकी सत्ता व्याप रही है। मनुष्य का हृदय भी उसका मंदिर है, अतएव बाहर न भटककर उसे वहीं ढूँढ़ना चाहिए। तात्त्विक दृष्टि से तो

यह भावना रामानंद में ही पूर्ण हो गई थी, कबीर ने उसको प्रतीक का वह आवरण दिया जिसमें "मजनू को अल्लाह भी लैला नजर आता है।" प्रारंभिक शास्त्रार्थों की कटुता को जाने दीजिए, उसका सामना तो प्रत्येक नवीन विचारशैली को करना पड़ता है; परंतु वैसे इस नवीन विचारशैली में कोई ऐसी बात न थी जिससे कोई भी समझदार हिंदू अथवा मुसलमान भड़क उठता। मूर्ति परमात्मा नहीं है, यह हिंदुओं के लिये कोई नवीन बात नहीं थी। उनके उच्चातिउच्च वेदांती दार्शनिक सिद्धांत इस बात की सदियों से घोषणा करते चले आ रहे थे और मूर्तिभंजक मुसलमानों को तो यह बात विशेष रूप से रुची होगी। यद्यपि हिंदू अद्वैतवाद, जिसे कबीर ने स्वीकार किया था, मुसलमानी एकेश्वरवाद से बहुत सूक्ष्म था तथापि दोनों में ऐसा कोई स्थूल-विरोध दृष्टिगत न होता था जिससे वह मुसलमान को अरुचिकर लगता। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य और परमात्मा की एकता की भावना मुसलमानों की अल्लाह-भावना के बिलकुल विपरीत है, जो समय समय पर मुस्लिम धार्मिक इतिहास में कुफ्र करार दी गई है और प्राण-हानि के दंड के योग्य मानी गई है, फिर भी सूफी मत ने, जिसे कुरान का वेदांती भाष्य समझना चाहिए, मुसलमानों को उसका घनिष्ठ परिचय दे दिया था। मंसूर हल्लाज ने 'अनलहक' (मैं परमात्मा हूँ) कहकर सूली पर अपने प्राण दिए। इस कोटि के सच्चे लगनवाले सूफियों ने धर्मांध शाहों और सुलतानों के अत्याचारों की परवा न कर भली भाँति सिद्ध कर दिया कि उनका मत और विश्वास ऐसी वास्तविक सत्ता है जिसके लिये प्रसन्नता के साथ प्राणों का बलिदान कर दिया जा सकता है। अतएव जब इस नवीन विचारधारा ने उपनिषदों के स्वर में स्वर मिलाते हुए 'सोऽहं' की घोषणा की तो वह मुसलमानों को भड़कानेवाली बात न रह गई थी।

समानुभूति की इस भूमिका में काबा काशी हो गया और राम रहीम[1]। इस विचारधारा ने आँधी की तरह आकर मनुष्य और मनुष्य के बीच के भेद उड़ा दिए। उस जगत्पिता परमात्मा की सृष्टि में सब बराबर हैं, चाहे वह हिंदू हों, चाहे मुसलमान, चाहे कोई अन्य धर्मावलंबी। इस प्रकार अनरित भेद-भावों के कारण मनुष्य के पवित्र रक्त से भूमि को व्यर्थ रँगने की मूर्खता स्पष्ट हो गई।

जब जाति तथा धर्म के विभेद, जिनके साथ की कटु स्मृतियाँ अभी ताजी थीं, इस प्रकार दूर कर दिए जा सकते थे तो कोई कारण न था कि वर्ण-भेद को भी क्यों न इसी तरह मिटा दिया जाय। आत्मा और परमात्मा की एकता को अनुभव करनेवाले वेदांती के लिये तो वर्ण-भेद मिथ्या पर आश्रित था। भगवद्गीता के अनुसार तो वास्तविक पंडित विद्या-विनय-संपन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और श्वपाक (चांडाल) में कोई भेद नहीं समझता[2], किंतु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि परंपरागत व्यवस्था में वेदांती कोई परिवर्तन उपस्थित करना चाहता था। भेद के न रहने पर भेद न समझने में कोई अर्थ नहीं। वेदांत की विशेषता इसमें है कि व्यावहारिक जगत् में इन सब भेदों के रहते भी वह पारमार्थिक जगत् में उनमें कोई भेद नहीं मानता। अगर गीता कहती कि पंडित पंडित में कोई भेद नहीं है तो उससे कोई क्या समझता। वेदांत ब्राह्मण और शूद्र के बीच के भेद को उसी प्रकार व्यावहारिक सत्य के रूप में ग्रहण करता है जिस प्रकार गाय, हाथी और कुत्ते के बीच के अंतर को। कौन कह सकता है कि इन

---

(१) काबा फिर कासी भया, राम भया रहीम।—क० ग्रं०, पृ० २४, १०।

(२) विद्या-विनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः॥—५, १८

पिछले जीवों में व्यावहारिक रूप में भी कोई भेद नहीं। परमात्मा के सामने मनुष्य मात्र की समता के दृढ़ पोषक स्वामी रामानंद को भी सामाजिक समता का उतना विचार न आया। उन्होंने सामाजिक व्यवहार में भी कुछ सुधार किया सही, किंतु कथानकों में का यह सुधार इतना भर था—दक्षिणी आचार्य खान-पान में छूआछूत का ही विचार नहीं रखते थे प्रत्युत परदे का भी; या यों कहना चाहिए कि खान-पान में उनके स्पर्शास्पर्श का विचार शरीर-स्पर्श में ही समाप्त न हो जाता था, वे दृष्टि-स्पर्श को भी हेय समझते थे। शूद्र के स्पर्श से ही नहीं, उसकी दृष्टि पड़ने से भी भोजन अपवित्र हो जाता है। स्वामी रामानंदजी ने दृष्टि-स्पर्श से भोजन को अखाद्य नहीं माना। उन्होंने केवल स्वयंपाक के नियम को स्वीकार किया, परदे के नियम को नहीं। कहते हैं कि स्वामीजी को तीर्थयात्रा, प्रचारकार्य इत्यादि के लिये इतना भ्रमण करना पड़ता था कि भोजन में परदे के नियम का पालन करना उनके लिये दुःसाध्य था। कुछ लोगों का कहना है कि श्रीसंप्रदाय से अलग होकर एक नवीन संप्रदाय के प्रवर्तन का यही एकमात्र कारण था। कहते हैं कि एक बार के भ्रमण से लौटने पर उनके स-सांप्रदायिकों ने विना प्रायश्चित्त किए उनके साथ भोजन करना अस्वीकार कर दिया था। स्वामी रामानंदजी प्रायश्चित्त करने के लिये तैयार न थे, अतएव नवीन पंथ-प्रवर्तन के सिवा समस्या को हल करने का कोई गौरवपूर्ण उपाय न सूझा, जिसके लिये उनके गुरु स्वामी राघवानंद की भी सहमति प्राप्त हो सकती। सामाजिक सुधार-पथ में वे इससे आगे बढ़ ही नहीं सकते थे। खान-पान तथा अन्य सामाजिक व्यवहारों में ब्राह्मण-ब्राह्मणों में भी भेद-भाव था तब कैसे आशा की जा सकती थी कि स्वामी रामानंद शूद्रों और मुसलमानों के संबंध में भी उसे मिटा देते।

परंतु जब कबीर में वर्ण-भेद के विरुद्ध मुसलमानी अरुचि के साथ उच्च वेदांती भावों का समन्वय हुआ तो परंपरागत समाज-व्यवस्था का एक ऐसा कट्टर शत्रु उठ खड़ा हुआ जिसने उसमें के भेद-भाव को पूर्णतया ध्वस्त कर देने का उपक्रम कर दिया।

इस प्रकार कबीर के नायकत्व में इस नवीन निर्गुणवाद में समय की सब आवश्यकताओं की पूर्ति का आयोजन हुआ। इतना ही नहीं, इसमें भारतीय संस्कृति का बड़े सौम्य रूप में सारा निचोड़ आ गया। कबीर के रंगभूमि में अवतरित होने के पहले ही इस आंदोलन ने अपनी सारग्राहिता के कारण भारत की समस्त आध्यात्मिक प्रणालियों के सारभाग को खींचकर ग्रहण कर लिया था। भारत में समय समय पर उत्थित होनेवाले प्रत्येक नवीन आध्यात्मिक आंदोलन ने आत्मसंस्कार के मार्ग में जो जो सारयुक्त नवीन तथ्य निकाले वे सब इसमें समन्वित होते गए। योगमार्ग, बौद्धमत, तंत्र आदि सबके कुछ न कुछ चिह्न इसमें दिखाई देते हैं जिनका यथा-स्थान वर्णन किया जायगा। कबीर के हाथ में इसने सूफी मत से भी कुछ ग्रहण किया।

सामाजिक व्यवहार तथा पारमार्थिक साधना दोनों के क्षेत्र में पूर्ण ऐक्य तथा समानता के प्रचार करनेवाली समस्त आध्यात्मिक प्रणालियों के सार स्वरूप इस आंदोलन का नायकत्व कबीर के बाद सैकड़ों उदारचेता संतों ने समय-समय पर ग्रहण किया और जी जान से उसके प्रसार का प्रयत्न किया। निर्गुण संप्रदाय के सिद्धांतों का विस्तृत विवेचन करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम उनका कुछ परिचय प्राप्त कर लें। अतएव आगे के अध्याय में उन्हीं का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

दूसरा अध्याय

निर्गुण-संत संप्रदाय के प्रवारक

निर्गुण-संत-विचारधारा को कबीर के द्वारा पूर्णता प्राप्त हुई, परंतु रूपाकार तो यह पहले ही से ग्रहण करने लग गई थी। सूफी मत के दांपत्य प्रतीक को छोड़कर ऐसी कोई बात न थी जिसने पहले ही कुछ न कुछ आकार न ग्रहण कर लिया हो। दार्शनिक सिद्धांतों तथा साधना-मार्ग के संबंध में जिस प्रकार की बातें कबीर ने कही हैं, प्रायः उसी प्रकार की बातें कबीर के कतिपय गुरु-भाइयों ने भी कही हैं। स्वयं उनके गुरु रामानंद की जो कविता मिलती है उसमें भी उसका काफी रूप दिखाई देता है। चौथे सिख-गुरु अर्जुनदेव ने सं० १६६१ में जिस **आदि ग्रंथ** का संग्रह कराया, उसमें स्वामी रामानंद और उनके इन सब शिष्यों की कविताएँ भी संगृहीत हैं, जिससे स्पष्ट है कि निर्गुण-संत संप्रदाय में भी ये लोग बाहरी नहीं समझे जाते थे। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य संतों की कविता का भी **आदि ग्रंथ** में संग्रह किया गया है जो उपर्युक्त संतों के समकालीन अथवा परवर्ती थे। ये हैं त्रिलोचन, नामदेव और जयदेव जिनमें से अंतिम दो का नाम कबीर ने बार बार लिया है—

१. परवर्ती संत

> जागे सुक उधव अक्रूर, हणवँत जागे लै लंगूर।
> संकर जागे चरन सेव, कलि जागे नामा जैदेव[1] ॥

आदि ग्रंथ में भी कबीर साहब ने जयदेव और नामा को भक्तों की श्रेणी में सुदामा के समकक्ष माना है—

> जयदेव नामा, विप्प सुदामा तिनकौ कृपा अपार भई है[2]।

---

(१) क० ग्रं०, पृ० २१६, ३८७।

(२) वही, पृ० २६७, ११२।

जयदेव और नामदेव के संबंध में कबीर की यह भावना मालूम पड़ती थी कि वे भक्त तो अच्छे थे पर अभी ज्ञानी की श्रेणी में नहीं पहुँच पाए थे—

सनक सनंदन जैदेव नामा, भगति करी मन उनहुँ न जाना[1]।

अतएव निर्गुण संप्रदाय के प्रसारकों का परिचय देने के पहले इन लोगों का भी परिचय दे देना आवश्यक जान पड़ता है।

इन सब में समय की दृष्टि से जयदेव सब से प्राचीन जान पड़ते हैं; क्योंकि **गीतगोविंद**-कार को छोड़कर और दूसरा कोई संत ऐसा नहीं जान पड़ता है जिसके संबंध में कबीर के जयदेव-संबंधी उल्लेख ठीक बैठ सकें।

२. जयदेव

ये राजा लक्ष्मणसेन की सभा के पंच-रत्नों में से एक थे, जिनका राजत्वकाल सन् ११७० से आरंभ होता है। कहा जाता है कि जयदेव पहले रमते साधु थे, माया-ममता के भय से किसी पेड़ के तले भी एक दिन से अधिक वास न करते थे। किंतु पीछे भगवान् की प्रेरणा से पद्मावती नाम की एक ब्राह्मण-कुमारी से इनका विवाह हो गया। इनके जीवन में कई चमत्कारों का उल्लेख किया जाता है जिनके लिये यहाँ पर स्थान नहीं है। इन्होंने **रसना-राघव, गीत-गोविंद** और **चंद्रालोक** ये तीन ग्रंथ लिखे। **गीतगोविंद** की तो सारा संसार मुक्त-कंठ से प्रशंसा करता है। इसमें भी निर्गुण पंथियों के अनुसार जयदेव ने अन्योक्ति के रूप में ज्ञान कहा है। गोपियाँ पंचेंद्रियाँ हैं और राधा दिव्य ज्ञान। गोपियों को छोड़कर कृष्ण का राधा से प्रेम करना यही जीव की मुक्ति है। परंतु इस तरह इसका अर्थ बैठाना जयदेव का उद्देश्य था या नहीं, नहीं कहा जा सकता।

---

(१) क० ग्रं०, पृ० ११, २२।

नामदेव का जन्म सतारा जिले के नरसी बमनी गाँव में एक शैव परिवार में हुआ था। महाराष्ट्री परंपरा के अनुसार उसका पिता दामा शेट दरजी था। आदि ग्रंथ में नामदेव की जो कविताएँ सुरक्षित हैं उनमें वे अपने को छीपी कहते हैं। संभव है, उनके परिवार में दोनों पेशे चलते हों। मराठी में उनके एक अभंग से पता चलता है कि उनका जन्म संवत् १३२७ (सन् १२७०) में हुआ था। लोग उनके मराठी अभंगों की नवीनता की दृष्टि से उनका आविर्भावकाल लगभग सौ वर्ष बाद मानते हैं। परंतु आधुनिक भाषाएँ इतनी नवीन नहीं हैं जितनी बहुधा समझी जाती हैं। ज्ञानदेव नामदेव के समकालीन थे। परंतु उनकी भाषा की प्राचीनता का यह कारण नहीं है कि उस समय तक आधुनिक मराठी का आविर्भाव नहीं हुआ था, बल्कि यह कि विद्वान् होने के कारण परंपरागत साहित्यिक भाषा पर उनका अधिकार था जिसे लिखने में, अपढ़ होने कारण, नामदेव असमर्थ थे। स्वयं ज्ञानदेव ने सीधी सादी मराठी में अभंगों की रचना की थी। प्रो० रानडे का मत है कि ज्ञानदेव के अभंगों की सादगी तथा कारक-चिह्नों की विभिन्नता का कारण छ शताब्दी से उनका स्मृति से रचित होते आना है। समझ में नहीं आता कि जिस ज्ञानदेव के गीता-भाष्य और अमृतानुभव लेखबद्ध हो गए थे, उसके अभंग ही क्यों नहीं लेखबद्ध हुए। जो हो, प्रो० रानडे भी इस बात से सहमत हैं कि उनका जन्म सं० १३२७ में हुआ था और मृत्यु सं० १४०७ (सन् १३५०) में। कहा जाता है कि जवानी में नामदेव डाकू बन बैठा था और लूटमार कर आजीविका चलाता था। एक दिन उसके दल ने ८४ आदमियों के समूह को मार डाला। शहर में लौटकर आने पर उसने एक स्त्री को अत्यंत करुण क्रंदन करते हुए

२. नामदेव

पाया। पूछने पर मालूम हुआ कि उसके पति को डाकुओं ने मार डाला है। उसे अपने कृत्य पर उत्कट घृणा हो आई और वह घोर पश्चात्ताप करने लगा। विशोवा खेचर को गुरु बनाकर वह भक्ति-पथ में अग्रसर हुआ और विठोवा की भक्ति में अपने जीवन को उत्सर्ग करके एक उच्च कोटि का संत हो गया। अपने जीवन का अधिक समय उसने पंढरपुर में विठोवा (विष्णु) के मंदिर में ही बिताया। परंतु अंत में वह तीर्थाटन के लिये निकला और समस्त उत्तर का भ्रमण करते हुए पंजाब पहुँचा। वहाँ लोग बड़ी संख्या में उसके चेले हुए। गुरदासपुर जिले में घुमान नामक स्थान पर अब तक नामदेव का मंदिर है। इस मंदिर के लेखों से पता चलता है कि नामदेव का निधन यहीं हुआ था। मालूम होता है कि उनके भक्त उनके फूल पंढरपुर ले गए जहाँ वे विठोवा के मंदिर के आगे गाड़ दिए गए। नामदेव की कुछ हिंदी कविताएँ आदि ग्रंथ में संगृहीत हैं, जिनमें उनके कई चमत्कारों का उल्लेख है, जैसे उनके हठ करने पर मूर्ति का दूध पीना[१], मरी हुई गाय का उनके स्पर्श से जीवित हो उठना[२], परमात्मा का स्वयं आकर उनकी चूती छत की मरम्मत कर जाना[३] और नीच जाति का होने के कारण मंदिर से उनके बाहर निकाले जाने पर मूर्ति का पंडित की ओर पीठ कर उसी दिशा में मुड़ जाना जिधर वे मंदिर के बाहर बैठे थे[४]। अंतिम चमत्कार का उल्लेख कबीर ने भी किया है[५]।

---

(१) दूध कटोरे...—'ग्रंथ', पृ० ६२१.

(२) सुलतान पूछे सुन बे नामा...—'ग्रंथ'।

(३) घर...—'ग्रंथ', पृ० ६२६।

(४) हँसत खेलत...—'ग्रंथ', पृ० ६२६।

(५) पंडित दिसि पछिवारा कीना, मुख कीना जित नामा।
—क० ग्रं०, पृ० १२७. १२१।

त्रिलोचन नामदेव का समकालीन था। उसकी भी कुछ कविता आदि ग्रंथ में संगृहीत है। ग्रंथ में कबीर के दो दोहे हैं[1] जिनमें नामदेव और त्रिलोचन का संवाद दिया हुआ है। इस संवाद से मालूम होता है कि कबीर त्रिलोचन से अधिक पहुँच के साधक थे। त्रिलोचन ने कहा, मित्र नामदेव, तुम्हारा माया-मोह अभी नहीं छूटा ? अभी तक फर्द छापा ही करते हो ? नामदेव ने जवाब दिया कि हाथ से तो सब काम करना चाहिए; परंतु हृदय में राम और मुख में उसका नाम रहना चाहिए। ओड़छेवाले हरिरामजी 'व्यास' ने कहा है कि नामदेव और त्रिलोचन रामानंद से पहले दिवंगत हो गए थे। मेकॉलिफ़ ने अयोध्या के जानकीवरशरण के साक्ष्य पर त्रिलोचन का जन्म सं० १३२४ (१२६७ ई०) माना है जो, जैसा हम रामानंदजी के जीवन-वृत्त के संबंध में देखेंगे, 'व्यास' जी के कथन के विरुद्ध नहीं जाता।

४. त्रिलोचन

अगस्त्य-संहिता के अनुसार स्वामी रामानंद का जन्म संवत् १३५६ में, प्रयाग में, हुआ। इनकी माता का नाम सुशीला और पिता का पुण्यसदन था। भक्तमाल पर प्रियादास की टीका भी इससे सहमत है। भांडारकर और ग्रियर्सन दोनों ने भी इसे माना है। परंतु मेकॉलिफ ने इनका जन्म मैसूर के मैलकोट स्थान में माना है। फर्कुहर ने भी उनको दक्षिण से लाने का प्रयत्न किया है। परंतु

५. रामानंद

---

(१) नामा माया मोहिया, कहै तिलोचन मीतु।
काहे छापे छाइलै, राम न लावहि चीतु॥
कहै कबीर तिलोचना, मुख ते राम सँभालि।
हाथ पाँव कर काम सबु, चीत निरंजन नालि॥
—'ग्रंथ', पृ० ७४०, २१२-२१३

परंपरा से चले आते हुए सांप्रदायिक मत का खंडन करने के लिये जैसे दृढ़ प्रमाणों की आवश्यकता होती है, वैसे प्रमाण दोनों में किसी ने नहीं दिए अतएव उनका जन्मस्थान प्रयाग ही में मानना उचित है।

कहते हैं कि पहले पहल इन्होंने किसी वेदांती के पास काशी में आकर अद्वैत की शिक्षा पाई। परंतु इनके अल्पायु योग थे। स्वामी राघवानंद भी, जो रामानुज की शिष्यपरंपरा में थे (रामानुज—देवाचार्य—राघवानंद) और बड़े योगी थे, काशी में रहते थे। इन्होंने रामानंद को योग-साधन सिखाकर उन्हें आसन्न मृत्यु से बचाया। जिस समय मृत्यु का योग था उस समय रामानंद को उन्होंने समाधिस्थ कर दिया और वे मृत्यु-मुख से बच गए। अतएव अद्वैती गुरु ने कृतज्ञता-वश अपने चेले को उन्हीं को सौंप दिया।

रामानंदजी बड़े प्रसिद्ध हुए। आबू और जूनागढ़ की पहाड़ियों पर उनके चरण-चिह्न मिलते हैं और पिछले स्थान पर उनकी एक गुफा। उन्होंने स्वयं अपना अलग पंथ चलाया जिसके एक संभव कारण का उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है। किंतु उनकी अद्वैती शिक्षा का भी इसमें कुछ भाग जरूर रहा होगा। उनके वास्तविक सिद्धांत क्या थे, इसका पता लगाना बहुत कुछ कठिन काम हो गया है। मालूम होता है कि उन्होंने भक्ति, योग और अद्वैत वेदांत की अनुपम संसृष्टि की।

डाकोर से **सिद्धांत पटल** नामक एक छोटी सी पुस्तिका निकली है, जो स्वामी रामानंदजी की कही जाती है। इसमें सत्यनिरंजन तारक, विभूति पलटन, लँगोटी आड़बंद, तुलसी, रामबीज आदि कई विषयों के मंत्र हैं। केवल यज्ञोपवीत का मंत्र संस्कृत में है, अन्य सब सधुक्कड़ी हिंदी में। इस ग्रंथ में नाथपंथ और वैष्णव मत की पूर्ण संसृष्टि दिखाई देती है। विभूति, धूनी, झोली आदि के साथ साथ इसमें शालिग्राम तुलसी आदि का भी आदर किया

गया है। यहाँ पर केवल एक मंत्र देना उचित होगा जिससे इस बात की पुष्टि होगी—

ॐ अर्धनाम अखंड छाया, प्राण पुरुष आवे न जाया। मरे न पिंड थके न काय, सद्गुरु प्रताप हृदय समाय। शब्दस्वरूपी श्रीगुरु राघवानंदजी ने श्रीरामानंदजी कूँ सुनाया। भरे भँडार काया वाढ़े त्रिकुटी अस्थान जहाँ बसे श्री सालिग्राम॥ ॐकार हाहाकार सुनती सुनती संसे मिटे॥ इति अमरवीज मंत्र॥ १७॥

इसमें योग की त्रिकुटी में वैष्णव शालिग्राम विराजमान हैं। यह ग्रंथ चाहे स्वयं रामानंदजी का न हो परंतु इससे इतना अवश्य प्रकट हो जाता है कि उन्होंने अपने शिष्यों को वैष्णव धर्म के सिद्धांतों के साथ साथ योग की भी शिक्षा दी थी। इसी लिये शायद उनके कुछ शिष्य अवधूत कहे जाते थे। रामानंदी संप्रदाय में रामानंदजी महायोगी यथार्थ ही माने जाते हैं।

उनके ग्रंथों में से **रामार्चन-पद्धति** और **वैष्णवमताब्ज-भास्कर** देखने में आए हैं। ये ग्रंथ उपासना-परक हैं। प्रो० विलसन ने **वेदों** पर उनके एक संस्कृत भाष्य की बात लिखी है। **'आनंद भाष्य'** नाम से **वेदांतसूत्र** का एक भाष्य संप्रदायवालों की ओर से प्रकाशित हुआ है परंतु अभी उसकी निष्पक्ष जाँच नहीं हो पाई है। उन्होंने हिंदी में भी कुछ रचना की है। उनकी एक कविता **आदि ग्रंथ** में संगृहीत है जो आगे चलकर मूर्तिपूजा के संबंध में उदाहृत की गई है। उसमें वे निराकारोपासना का उपदेश करते दीखते हैं। मंदिर में की पत्थर की मूर्ति और तीर्थ का जल उन्होंने अनावश्यक से माने हैं। परंतु बैरागी पंथ में इन्होंने शालिग्राम की पूजा का विधान किया। उनकी एक और कविता आचार्य श्यामसुंदरदास ने अपने रामावत संप्रदाय वाले निबंध में छपवाई है, जिसमें हनुमान् की स्तुति की गई है।

रज्जब दास के संग्रह ग्रंथ **सर्वांगी** में उनका एक और पद संग्रहीत है जो यहाँ दिया जाता है—

हरि बिन जन्म वृथा खोयो रे।
कहा भयो अति मान बड़ाई, धन मद अंध मति सोयो रे॥
अति उतंग तरु देखि सुहायो, सैवल कुसुम सूवा सेवो रे।
सोई फल पुत्र-कलत्र विषै सुख, अंति सीस धुनि धुनि रोयो रे॥
सुमिरन भजन साध की संगति, अंतरि मन मैल न धोयो रे।
रामानंद रतन जम त्रासैं, श्रीपति पद काहे न जोयो रे[1]॥

इसमें उन्होंने निवृत्ति मार्ग का पूर्ण उपदेश दिया है।

रामानंद जी की विचार-धारा बहुत उदार थी जिसके कारण उनके उपदेशामृत का पान करने के लिये ऊँच नीच सब उनके पास घिर आते थे। उनके शिष्यों में से, जिनका निर्गुण विचारधारा से संबंध है, पीपा, सधना, धन्ना, सेन, रैदास कबीर और शायद सुरसुरानंद हैं।

६. रामानंद के शिष्य

पीपा गँगरौनगढ़ के खीची चौहान राजा थे और अपनी छोटी रानी सीता के सहित रामानंद जी के चेले हो गए थे। जनरल कनिंघम के अनुसार पीपाजी जैतपाल से चौथी पीढ़ी में हुए थे। [(१) जैतपाल, (२) सावतसिंह, (३) राव कँरवा, (४) पीपाजी, (५) द्वारकानाथ, (६) अचलदास।]

अबुल फजल ने लिखा है कि मानिकदेव के वंशज जैतपाल ने मुसलमानों से मालवा छीन लिया था। यह घटना पृथ्वीराज की मृत्यु के १३१ वर्ष पीछे सं० १३८१ (सन् १३२४ ई०) की बताई जाती है। जैतराव मानिकदेव से पाँचवीं पीढ़ी में हुए थे और मानिकदेव पृथ्वीराज के समकालीन थे। फिरिश्ता के अनुसार पीपाजी से देर

---

(१) 'पौड़ी हस्तलेख', पृ० ४२६ (क)।

पाढ़ी पीछे अचलदास से सुलतान होशंग गोरी ने हिजरी सन् ८३० अर्थात् वि० सं० १४८३ या सन् १४८६ ई० में गँगरौनगढ़ छीन लिया। यह भी कहा जाता है कि सं० १५०५ (सन् १४४८ ई०) में अचलदास मुसलमानों के साथ युद्ध में काम आए। इन सब बातों को ध्यान में रखकर जनरल कनिंघम ने पीपा का समय सं० १४१७ से १४४२ (ई० सन् १३६० से १३८५)[1] तक माना है। सं० १२५० से १५०५ तक के २५५ वर्षों में पीपाजी के वंश में १० पीढ़ियाँ हुईं जिससे प्रत्येक पीढ़ी के लिये लगभग २५ वर्ष ठहरते हैं। इस हिसाब से १४२० से १४५५ तक उनका समय मानना भी अनुचित नहीं। यह सामान्यतया उनका राजत्व-काल है। उनका जीवन काल लगभग सं० १४१० से १४६० तक मानना चाहिए।

सधना खटिक था। बेचने के लिये मांस तौलते समय बटखरे की जगह शालिग्राम की बटिया रखता था। एक वैष्णव को यह देखकर बुरा लगा और शालिग्राम की बटिया माँगकर ले गया। रात में उसे स्वप्न हुआ कि भाई, तुम मुझे बड़ा कष्ट दे रहे हो। अपने भक्त के यहाँ मैं (तराजू के) झूले पर झूला करता था, उस सुख से तुमने मुझे वंचित कर दिया है। भला चाहो तो मुझे वहीं दे आओ। और वह दे आया।

धन्ना जाट था और राजपूताने के टाँक इलाके में धुअन गाँव में रहता था। यह स्थान छावनी देवली से बीस मील की दूरी पर है।

सेन नाई था जो किसी राजा के यहाँ नौकर था। उसकी भक्ति की इतनी महिमा प्रसिद्ध है कि एक बार जब वह साधु-सेवा में लीन होने के कारण राजा की सेवा करने के लिये यथा-समय न जा सका, तब स्वयं भगवान् सेन का रूप धारण कर राजा की सेवा करने पहुँचे।

---

(१) 'आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट', भाग २, पृष्ठ २९९-९७।

रैदास काशी के चमार थे। प्रियादासजी ने इनके संबंध में कई आश्चर्यजनक कहानियाँ लिखी हैं। चित्तौर की झाली रानी इनकी शिष्या बतलाई जाती हैं। आदि ग्रंथ में रविदास नाम से इनकी कविताओं का संग्रह किया गया है। ये स्वयं बहुत ऊँचे ज्ञानी भक्त थे जिसे मूर्ति की आवश्यकता नहीं रह जाती परंतु दूसरों के लिये वे मूर्ति की आवश्यकता समझते हैं। कहा जाता है कि उन्होंने एक मंदिर बनवाया था, जिसके वे स्वयं पुजारी रहे थे। इनका भी अलग पंथ चला जिसमें अब केवल इन्हीं की जात के लोग हैं जो अपने को बहुधा चमार न कह कर 'रैदासी' कहते हैं।

परंतु रामानंद के सबसे प्रसिद्ध शिष्य कबीरदास थे जिन्होंने भक्ति के मार्ग को और भी प्रशस्त, विस्तृत और उदार बना दिया। उनका जीवन-वृत्त स्वतंत्र रूप से आगे दिया जायगा।

सुरसुरानंद ब्राह्मण थे। उनके विषय में विशेष कुछ नहीं मालूम है। इतना अवश्य प्रकट होता है कि वे बहुत सच्चे सुधारक रहे होंगे। खान-पान के संबंध में शायद उन्होंने रामानंद जी से अधिक सुधार की मात्रा दिखाई हो। भक्तमाल में लिखा है कि इनके मुँह में म्लेच्छ की दी हुई रोटी भी तुलसीदल हो जाती थी।

७. रामानंद का समय

अगस्त्य-संहिता के अनुसार रामानंद का जन्म संवत् १३५६ (१२९९ ई०) में और मृत्यु सं० १४६७ (१४१० ई०) में हुई। भिन्न भिन्न दृष्टियों से विचार करने से भी यह समय गलत नहीं मालूम होता। वे रामानुज की शिष्य-परंपरा की चौथी पीढ़ी में हुए हैं। रामानुज की कर्मण्यता का क्षेत्र तीन राजाओं का समय रहा है जिनका शासन-काल सं० ११२७ (१०७० ई०) से १२०३ (११४६ ई०) तक ठहरता है। अस्तु, यदि हम उनकी मृत्यु सं० १२१८ (प्रायः ११६० ई०) में भी मानें और एक एक पीढ़ी के लिये बीस बीस

वर्ष भी दें तो भी रामानंद का जन्म सं० १२९९ में इतना पहले नहीं आ जाता है कि इस दृष्टि से अनुचित मालूम हो। ओड़छे के हरिराम व्यासजी के एक पद से मालूम होता है कि नामदेव और त्रिलोचन रामानंदजी से पहले स्वर्गवासी हो गए थे। त्रिलोचन का जन्म मेकॉलिफ ने सं० १३२४ (१२६७ ई०) में माना है। त्रिलोचन कितने ही दीर्घजीवी क्यों न हुए हों, सं० १४६७ (१४१० ई०) से पहले ही अवश्य दिवंगत हो गए होंगे। नामदेव भी त्रिलोचन के समकालीन थे, यद्यपि मालूम होता है कि आयु में उनसे कुछ छोटे थे। सं० १४६७ से पहले बहुत काफी आयु भोगकर उनका भी दिवंगत होना असंभव नहीं। जनरल कनिंघम ने रामानंद के शिष्य पीपा का जो समय स्थिर किया है, वह भी इस समय के विरुद्ध नहीं जाता। इसे रामानंदजी की आयु ११० वर्ष की ठहरती है, जो उनके लिये बहुत बड़ी नहीं। यह प्रसिद्ध है कि रामानंदजी दीर्घायु हुए थे। नाभाजी ने भी कहा है—

> बहुत काल वपु धार के प्रनत जनन को पार दियो।
> श्रीरामानंद रघुनाथ ज्यों, दुतिय सेतु जगतरन कियो॥

कबीर के परवर्ती इन संत कवियों को सगुण और निर्गुण संप्रदाय के बीच की कड़ी समझना चाहिए। उनमें सगुणवादी और निर्गुणवादी दोनों से कुछ अंतर है। न तो वे सगुणवादियों की तरह परमात्मा की निर्गुण सत्ता की अवहेलना कर उसकी प्रातिभासिक सगुण सत्ता को ही सब कुछ समझते हैं और न निर्गुणियों की तरह मूर्तिपूजा और अवतारवाद को समूल नष्ट ही कर देना चाहते हैं। यद्यपि अंत में वे सब बाह्य कर्मकांड का त्याग आवश्यक बतलाते हैं परंतु उनके व्यवहार से यह मालूम होता है कि वे आरंभिक अवस्था में उसकी उपयोगिता को स्वीकार करते थे।

परंतु इतना होने पर भी ये सब विशेषताएँ, जिनके विकास से निर्गुण संत संप्रदाय का उदय हुआ, उनमें मूल रूप में पाई जाती हैं। जाति-पाँति के सब बंधनों को तोड़ देने की प्रवृत्ति, अद्वैतवाद, भगवदनुराग, विरक्त और शांत जीवन, बाह्य कर्मकांड से ऊपर उठने की इच्छा सब उनमें विद्यमान थी। इस प्रकार इन संतों ने कबीर के लिये रास्ता खोला जिससे इन प्रवृत्तियों को परमावस्था तक ले जा सकना उसके लिये आसान हो गया।

८. कबीर

कबीर जुलाहा थे। अपने पदों में उन्होंने बार बार अपने जुलाहा होने की घोषणा की है[1]। जुलाहे मुसलमान होते हैं। हिंदू जुलाहे कोरी कहलाते हैं। एक स्थान पर उन्होंने अपने को 'कोरी' भी कहा है[2]। संभव है, 'जोलाहा' कहने से उनका अभिप्राय केवल पेशे से हो, उनके धर्म का उसमें कोई संकेत न हो। जनश्रुति के अनुसार वे जन्म से तो हिंदू थे किंतु पाले पोसे गए थे मुसलमान के घर में। परंतु इस बात का प्रमाण मिलता है कि उनका जन्म वस्तुतः मुसलमान परिवार में हुआ था। एक पद में, जो आदिग्रंथ में रैदास के नाम से और रज्जबदास के सर्वांगी में पीपा के नाम से मिलता है, लिखा है कि जिसके कुल में ईद-बकरीद मनाई जाती है, गोवध होता है, शेख शहीद और पीरों की मनौती होती है, जिसके बाप ने ये सब काम किए उस पुत्र कबीर ने ऐसी धारणा धरी कि तीनों लोकों में

---

(१) तू ब्राह्मण, मैं कासी का जुलाहा, चीन्हि न मोर गियाना।—क० ग्रं०, पृ० १७२, २५० और उदाहरणों के लिये देखिए क० ग्रं०, पृ० १२८, १२४, १३१, १३४, १८१, २७० और २७१।

(२) हरि को नाँव अभै पद दाता, कहै कबीरा कोरी।
—क० ग्रं०, पृ० २०६, २५६।

प्रसिद्ध हो गया[1]। पदकर्ता का अभिप्राय यह है कि भक्ति के लिये कुल की उच्चता कदापि आवश्यक नहीं। इससे प्रकट होता है कि कबीर मुसलमान कुल में केवल पाले-पोसे ही नहीं गए थे, पैदा भी हुए थे[2]। पीपा और रैदास दोनों कबीर के समकालीन और गुरुभाई थे। इसलिये कबीर के कुल के संबंध में जो कुछ उनमें से कोई कहे, उस पर विश्वास करना चाहिए।

जनश्रुति के अनुसार कबीर के पोष्य पिता का नाम नीरू अथवा नूरुद्दीन था और माता का नीमा जिन्हें उसके वास्तविक माता-पिता के ही नाम समझना चाहिए।

जनश्रुति ही के अनुसार कबीर का जन्म काशी में हुआ था और निधन मगहर में। इस बात में तो संदेह नहीं कि कबीर उस प्रांत के थे जहाँ पूरबी बोली जाती है, क्योंकि उन्होंने स्वयं कहा है कि मेरी बोली 'पूरबी' है, जिसे कोई नहीं समझ सकता; उसे वही समझ सकता है जो ठेठ पूरब का रहनेवाला हो[3]। पंजाब में संगृहीत ग्रंथ साहब में भी उनकी बाणी ठेठ पूरबी है।

किसी ज्ञान-गर्वित ब्राह्मण के यह कहने पर कि 'तुम जुलाहे हो ज्ञान-वान क्या जानो?' उन्होंने बड़े गर्व के साथ कहा था—मेरा ज्ञान नहीं पहचानते? अगर तुम ब्राह्मण हो तो मैं भी तो 'काशी का

---

(१) जाके ईद बकरीद कुल गऊरे बध करहिं मानियहिं सेख शहीद पीरां।
जाके बापि ऐसी करी, पूत ऐसी धरी, तिहुरे लोक परसिध कबीरा॥
—'ग्रंथ', पृ० ६६८; 'सर्वांगी', पौड़ी हस्तलेख पृ० ३७३, २२।

(२) इन पदों में यह स्पष्ट नहीं कहा गया है की उनके माता-पिता मुसलमान थे। संभव है, यहाँ माता-पिता से तात्पर्य पालने-पोसनेवाले माता-पिता से हो।—संपादक।

(३) मेरी बोली पूरबी ताहि लखे नहिं कोय।
मेरी बोली सो लखे धुर पूरब का होय॥—क० ग्रं०, पृ० ७१ पाद१।

जुलाहा' हूँ[१]। सचमुच काशी में किस जिज्ञासु को ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती ? आदि ग्रंथ में के एक पद में उन्होंने कहा है कि सारा जीवन मैंने काशी ही में बिताया है[२]। अतएव इस बात में संदेह नहीं कि कबीर के जीवन का बड़ा भाग काशी में व्यतीत हुआ था। परंतु क्या इससे यह भी मान लिया जाय कि पैदा भी वे काशी ही में हुए थे ? यह असंभव नहीं; हिंदू भावों से ओत-प्रोत उनकी विचार-धारा भी इस बात की ओर संकेत करती है कि उनका बाल्यकाल काशी-सदृश किसी हिंदू नगरी में हिंदू वातावरण में व्यतीत हुआ था। आदि ग्रंथ में के एक पद से मालूम होता है कि उनके विचार ही नहीं, आचार भी आरंभ ही से हिंदू साँचे में ढल गए थे। 'राम राम' की रट नित्य नई कोरी गगरी में भोजन बनाना, चौका-पोतवाना, उनकी इन सब बातों से उनकी अम्मा तंग आ गई थी[३]।

परंतु आदि ग्रंथ के एक पद में कबीर कहते हैं कि मगहर भी कोई मामूली जगह नहीं, यहीं तुमने मुझे दर्शन दिए थे। काशी में तो मैं बाद में जाकर बसा। इसी से फिर तुम्हारे भरोसे मगहर बस गया हूँ[४]। इससे जान पड़ता है कि काशी में बसने के पहले वह केवल मगहर में रहते ही नहीं थे, वहीं उन्हें पहले पहल परमात्मा

(१) देखो पृष्ठ ४४ की टिप्पणी (१)।

(२) सकल जनम सिवपुरी गँवाया—'ग्रंथ', पृ० १७६, १५।

(३) नित उठि कोरी गगरी आनै लीपत जीउ गयो।
तानां बाना कछू न सूझै हरि रसि लपट्यो ॥
हमरे कुल कउने रामु कह्यो।
—वही, पृ० ४६२, ४।

(४) तेरे भरोसे मगहर बसियो, मेरे तन की तपनि बुझाई।
पहले दरसन मगहर पायो, फुनि कासी बसे आई ॥
—वही, पृ० ५२३; क० ग्रं०, पृ० २११, १०।

का दर्शन भी प्राप्त हुआ था। अधिक संभव यह है कि कबीर का जन्म मगहर ही में हुआ हो, जो आज भी प्रधानतया जुलाहों की बस्ती है। गोरखनाथजी का प्रधान स्थान गोरखपुर मगहर के बिलकुल नजदीक है। जिस जमाने में रेल नहीं थी उसमें योगियों का गोरखपुर आते-जाते मगहर में ठहर जाना असंभव नहीं। यहीं से कबीर पर हिंदू भावों और योगमूलक विरक्ति का आरंभ हो जाता है। जान पड़ता है कि कबीर को योग की बातों का ज्ञान गोरखपंथी योगियों से ही हुआ था। योगाभ्यास के द्वारा उनको परमात्मा की झलक तो मिल गई थी परंतु वे किसी ऐसे पहुँचे योगी के पल्ले न पड़े जो उनको पूर्णानुभूति की दशा तक पहुँचा देता। उनके ग्रंथों में हम गोरखनाथ की तो भूरि भूरि प्रशंसा पाते हैं किंतु अधकचरे गोरखपंथियों की निंदा। माया के वास्तविक स्वरूप को गोरखनाथ अच्छी तरह जानते थे, इसी से वे उसको लक्ष्मण की भाँति त्याग सके थे[1]। नारी से विरक्त होकर वे अमर हो गए थे। कलिकाल में गोरखनाथ ऐसा भक्त हुआ कि माया में पड़े हुए अपने गुरु से उसने राज्य छुड़वा दिया[2]। जिस आनंद का सुखदेव भी बहुत थोड़ा ही सा उपभोग कर सके थे, उसका पूर्णोपभोग गोरख-

---

मेकालिफ ने गलती से दूसरी पंक्ति का अर्थ किया है 'पहले मैंने काशी में दर्शन पाए और फिर मगहर में आकर बसा', जो प्रसंग के प्रतिकूल है और स्पष्ट ही गलत है।

(१) राम गुन बेलड़ी रे अवधू गोरपनाथि जाणी।

—क० ग्रं०, पृ० १४२, १६३।

निरगुण सगुण नारी संसारि पियारी, लखमणि त्यागी, गोरषि निवारी।

—वही, पृ० १६६, २३२।

(२) गोरपनाथ न मुद्रा पहरी मस्तक हू न मुँड़ाया।
ऐसा भगत भया कलि ऊपर गुरु पैं राज छुड़ाया॥

—वही, पृ० १८६, २६८।

नाथ, भर्तृहरि, गोपीचंद आदि योगियों ने किया था[1]। अधकचरे जोगियों को उन्होंने कहा है कि वे जटा बाँध बाँधकर मर गए पर उन्हें सिद्धि न प्राप्त हुई[2]। इन सब बातों को देखते हुए मेरी प्रवृत्ति मगहर ही को उनका जन्म-स्थान मानने की होती है। मालूम होता है कि इसी लिये काशी छोड़ने पर मगहर को उन्होंने अपना निवासस्थान बनाया।

योगियों तथा साधुओं के सत्संग से जब कबीर के हृदय में विरक्ति का भाव उदय हुआ तब वे पूर्ण आध्यात्मिक जागर्ति के लिये व्याकुल हो उठे। घर में रहना उनके लिये दूभर हो गया। काम काज सब छोड़ दिया। ताना-बाना पड़े रह गए[3]। संसार से उदासीन होकर जंगल छान डाले[4], तीर्थाटन किए[5], पर उनके मन को शांति न हुई। परमात्मा के दर्शन करा देनेवाला कोई समर्थ साधु उन्हें मिला नहीं। हाँ, ऐसे बहुत मिले जिनमें

---

(१) या मन का कोइ जानै भेव। रंचक लीन भया सुषदेव॥
गोरष भरथरि गोपीचंदा। ता मन सौं मिलि करैं अनंदा॥
—क० ग्रं०, पृ० ११, २२।

कामिनि अँग विरकत भया रत भया हरि नाइं।
साषी गोरषनाथ ज्यूं, अमर भए कलि माइं॥
—वही, पृ० २१, १२।

(२) जटा बाँधि बाँधि जोगी मूए, इनमें किनहूं न पाई।
—वही, पृ० ११९, २१७।

(३) तनना बुनना तज्या कबीर, राम नाम लिख लिया सरीर।
—वही, पृ० १९, २१।

(४) बाति तुड़ाइ नाम कबीरा, बन बन फिरौं उदासी।
—वही, पृ० १८१, २००।

(५) बृंदाबन ढूँढ्यौ, ढूँढ्यौ हो जमुना को तीर।
राम मिलन के कारने जन खोजत फिरै कबीर॥
—'पौड़ी हस्तलेख', पृ० ११४ (ग)

भक्ति कम, अहंकार अधिक था[1]। परंतु कबीर को ऐसे लोगों से क्या मतलब था? उनसे वे क्या सीखते? हाँ, उन्हें सिखा अवश्य सकते थे। कबीर कुछ दिन मानिकपुर में भी रहे। शेख तकी की प्रशंसा सुनकर वे वहाँ से ऊँजी जौनपुर होते हुए झूँसी गए। झूँसी में भी वे कुछ दिन तक रहे। उन्हें शेख तकी को बतलाना पड़ा कि परमात्मा सर्वव्यापक है; अकर्दी सकर्दी को जताना पड़ा कि तुम कुर्बानी जिबह इत्यादि करके पाप कमा रहे हो, किसी जमाने में भी ये काम हलाल नहीं हो सकते। वे गुरु बनने नहीं आए थे पर क्या करते, उनसे रहा नहीं गया[2]। वे तो स्वयं ऐसे एकाध आदमी को ढूँढ़ रहे थे जो रामभजन में शूर हो[3]। उनको अनुभव हुआ कि परमात्मा के दर्शनों के लिये वन में ही कोई अनुकूल परिस्थिति नहीं होती[4]। अंत में उनको भी

---

(१) थोरी भगति बहुत अहँकारा। ऐसा भक्ता मिलें अपारा॥

—क० ग्रं०, पृ० १३२, १२७।

(२) घट घट अविनासी अहै सुनहु तकी तुम सेख।

—'बीजक', रमैनी ६३.

मानिकपुरहिं कबीर बसेरी। मदहति सुनी सेख तकि केरी॥
ऊजी सुनी जवनपुर थाना। झूँसी सुनि पीरन के नामा॥
एकइस पीर लिखे तेहि ठामा। खतमा पढ़ैं पैगंबर नामा॥
सुनत बोल मोहिं रहा न जाई। देखि मुकर्बा रहा भुलाई॥
नबी हबीबी के जो कामा। जहँ लौं अमल सबै हरामा॥
सेख अकर्दी सकर्दी तुम मानहु बचन हमार।
आदि अंत औ जुग जुग देखहु दृष्टि पसार॥

—वही, रमैनी ४८।

(३) कहै कबीर राम भजवे को एक आध कोइ सूरा रे।

—क० ग्रं०, पृ० ११९, ८९।

(४) घर तजि बन कियों निवास। घर बन देखौं दोव निरास।

—वही, पृ० ११२, ७१।

खोज सफल हुई और जनाकीर्ण काशी में उनको एक ऐसा आदमी मिला, जो जाति-पाँति के अहंकार से दूर था, परमात्मा के सम्मुख मनुष्य मनुष्य में किसी भेद-भाव को न मानता था, और जो अपने ज्ञान-धन से कबीर की महती आकांक्षा को पूर्ण कर सकता था, जिसके उपदेश से कबीर को मालूम हुआ कि जिसको ढूँढ़ने के लिये हम बाहर बाहर भटकते फिरते हैं वह परमात्मा तो हमारे ही शरीर में निवास करता है[1]। यह साधु स्वामी रामानंद थे।

कहते हैं कि रामानंद पहले मुसलमान को चेला बनाने में हिचके। इस पर कबीर ने एक युक्ति सोची। रामानंदजी पंचगंगा घाट पर रहते थे और सदैव ब्राह्म-मुहूर्त में गंगास्नान करने जाया करते थे। एक दिन जब कबीर ने देख लिया कि रामानंद स्नान करने के लिये चले गए तो सीढ़ी पर लेटकर वह उनके लौटने की बाट जोहने लगा। रामानंद लौटे तो उनका पाँव कबीर के सिर से टकरा गया। यह सोचकर कि हमसे बिना जाने किसी का अपकार हो गया है, रामानंद 'राम राम' कह उठे। कबीर ने हर्षोत्फुल्ल होकर कहा कि किसी तरह आपने मुझे दीक्षित कर अपने चरणों में स्थान दे दिया। उसके इस अनन्य भाव से रामानंद इतने प्रभावित हो गए कि उन्होंने उसे तत्काल अपना शिष्य बना लिया।

मुहसिनफनी काश्मीरवाले के लिखे फारसी इतिहास ग्रंथ **तवारीख दबिस्ताँ** से भी यही भाव प्रकट होता है। उसमें लिखा है कि कबीर जोलाहा और एकेश्वरवादी था। अध्यात्म-पथ में पथप्रदर्शक गुरु की खोज करते हुए वह हिंदू साधुओं और मुसलमान फकीरों के पास गया और कहा जाता है कि अंत में रामानंद का चेला हो गया[2]।

---

(१) जिस कारनि तटि तीरथ जाहीं। रतन पदारथ घटही माहीं।
—वही, १०२, ४२।

(२) 'कबीर ऐंड दि कबीर पंथ' में उद्धृत, पृ० ३०।

परंतु कुछ लोग रामानंद को न मानकर शेख तकी को कबीर का गुरु मानते हैं। इस मत का सबसे पहला उल्लेख **खज़ीनतुल आसफ़िया** में मिलता है, जिसे मौलवी गुलाम सरवर ने सन् १८६८ ई० में छपवाया था। वेस्कट साहब ने भी इस ग्रंथ के आधार पर अपने **कबीर एँड दि कबीर पंथ** में बड़े जोर शोर से इस मत का समर्थन किया है। परंतु **दबिस्ताँ** का साक्ष्य उनकी सरगर्मी से कहीं अधिक मूल्यवान् है। इतिहासकार मुहसनफ़ानी अकबर के समय में हुआ था। रामानंद के समय को पहले से पहले ले जाने पर भी मुहसनफ़ानी और उनके समय में सवा सौ डेढ़ सौ वर्ष का अंतर रहता है। अतएव उन्होंने जिन जनश्रुतियों के आधार पर यह लिखा है, वे आजकल की जनश्रुतियों से अधिक प्रामाणिक हैं। शेख तकी कबीर के गुरु थे, इस संबंध में किसी इतनी प्राचीन जनश्रुति का होना नहीं पाया जाता। इस बात की भी आशंका नहीं हो सकती कि मुहसनफ़ानी ने पक्षपात के कारण ऐसा लिखा हो।

मुहसनफ़ानी ही ने नहीं और लोगों ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि कबीर रामानंद के चेले थे। नाभाजी ने सं० १६४२ के लगभग **भक्तमाल** की रचना की थी। उसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कबीर को रामानंद का चेला लिखा है। उनसे एक-दो पीढ़ी पहले ओड़छेवाले हरीराम शुक्ल हो गए थे, जो साहित्य-संसार तथा संत-समुदाय में 'व्यास' जी के नाम से प्रख्यात हैं। इनके संबंध में यह ख्याति चली आती है कि ४५ वर्ष की अवस्था में ये संवत् १६१८ में राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हितहरिवंशजी के शिष्य हुए थे[1]। हितहरिवंशजी का जन्म-संवत् देर से देर में मानने से संवत् १५५९ में ठहरता है, यद्यपि सांप्रदायिक मत के अनुसार उनका जन्म १५३० में हुआ था। अतएव व्यासजी का संसर्ग ऐसे लोगों

(१) 'शिवसिंहसरोज', पृ० २०७।

के साथ था जिनके समय के आरंभ तथा कबीर के समय के अंत में आधी शताब्दी से अधिक का अंतर नहीं था। उनसे इस संबंध में व्यासजी ने जो कुछ सुना होगा, वह विश्वसनीय होना चाहिए। व्यासजी वैकुंठवासी संतों की मृत्यु पर शोक मनाते हुए कहते हैं—

साँचे साधु जु रामानंद।
जिन हरिजी सों हित करि जान्यो, और जानि दुख-दंद ॥
जाको सेवक कबीर धीर अति सुमति सुरसुरानंद।
तब रैदास उपासिक हरि को, सूर सु परमानंद ॥
उनते प्रथम तिलोचन नामा, दुख-मोचन सुख-कंद।
खेम सनातन भक्ति-सिंधु रस रूप रघु रघुनंद ॥
अलि रघुवंशहिं फह्यो राधिका-पद पंकज-मकरंद।
कृष्णदास हरिदास उपास्यो, वृंदावन को चंद ॥
जिन बिनु जीवत मृतक भए हम सहत बिपति के फंद।
तिन बिन उर को सूल मिटै क्यों जिए 'व्यास' अति मंद[1] ॥

इससे स्पष्ट है कि कबीर रामानंद के शिष्य थे।

कबीर के शिष्य धर्मदास की वाणी से भी यही बात प्रकट होती है। कबीर के कट्टर भक्त गरीबदास भी यही कहते हैं, यद्यपि वे गुरु से चेले को अधिक महत्त्व देते हैं और उसे गुरु के उद्धार का कारण बताते हैं—

गरीब रामानंद से लख गुरु तारे चेले भाइ।
चेलों की गिनती नहीं,—पद में रहे समाइ[2] ॥

---

(१) बाबू राधाकृष्णदास ने इस पद को अपने सूरदास के जीवन-चरित में उद्धृत किया है। वे प्राचीन साहित्य के बड़े विद्वान् थे। खेद है कि मैं व्यासजी की बानी नहीं पा सका।—'राधाकृष्णदास-ग्रंथावली', प्रथम भाग, पृ० ४४७।

(२) 'हिरंबर-बोध', पारख अंग की साखी, १२।

'हम काशी में प्रकट भए हैं, रामानंद चेताये'[1]। कबीर की मानी जानेवाली इस उक्ति का भी यह अर्थ नहीं कि रामानंद ने कबीर को जगाया बल्कि यह कि कबीर ने रामानंद को जगाया। परंतु यह मान लेने पर भी, यह कोई नहीं कह सकता कि यह रामानंद को कबीर का गुरु मानने में बाधक है। गोरखनाथ ने मछंदरनाथ को जगाया किंतु यह कोई नहीं कहता कि गोरखनाथ मछंदरनाथ के चेले नहीं थे। असल में यह वचन यही बतलाने के लिये गढ़ा गया है कि रामानंद के चेले होने पर भी कबीर उनसे बड़े थे। परंतु स्वतः कबीर ने अपने आपको अपने गुरु से बढ़ाने का प्रयत्न नहीं किया और रामानंद की मृत्यु का उल्लेख करते हुए **बीजक** के एक पद में बड़े उत्साह से उन्होंने उनकी महिमा गाई है—

आपन अस[2] किए बहुतेरा। काहु न मरम पाव हरि केरा॥
इंद्री कहाँ करै बिसरामा। (सो) कहाँ गए जो कहत हुते[3] रामा॥
सो कहाँ गए जो होत सयाना। होय मृतक वहि पदहि समाना॥
रामानंद रामरस माते। कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके[4]॥

कबीर कहते हैं कि उन हरि का भेद कोई नहीं जानता, जिन्होंने बहुतों को अपने समान कर दिया है। [लोग समझते हैं कि रामानंद वैसे ही मर गए जैसे और मनुष्य मर जाते हैं, इसी से पूछा करते हैं—] उनकी इंद्रियाँ कहाँ विश्राम कर रही हैं? उनका 'राम' 'राम' कहनेवाला जीवात्मा कहाँ गया? [कबीर का उत्तर है कि] वह मरकर परम पद में समा गया है। [क्योंकि] रामानंद राम-

(१) क० ग्रं०, भाग २, पृ० ६१।
(२) कुछ प्रतियों में 'अपन आस किजे', पाठ भी मिलता है।
(३) होते।
(४) 'बीजक'। पद ७७।

रूप मदिरा से मत्त थे। हम कहते कहते थक गए [परंतु लोग यह भेद ही नहीं समझ पाते]।

क्या आश्चर्य कि कबीर इस पद में रामानंद को साक्षात् हरि बना रहे हों ? गुरु तो उनके मतानुसार परमात्मा होता ही है। रामानंदी संप्रदाय में तो रामानंद राम के अवतार माने ही जाते हैं, नाभाजी ने भी उनको कुछ ऐसा ही माना है—

श्रीरामानंद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जग तरन कियो।

कबीर का 'आपन अस किए बहुतेरा' और नाभाजी का 'दुतिय सेतु जग-तरन कियो' अगर एक साथ पढ़े जायँ तो मालूम होगा कि दोनों रामानंद के संबंध में एक ही बात कह रहे हैं।

कबीर-ग्रंथावली के एक पद में कबीर ने परमात्मा के सम्मुख परमतत्त्व-रूप, सुख के दाता, अपने साधु-गुरु की खूब प्रशंसा की है, जिसमें सच्चे गुरु के गुण पूरी मात्रा में विद्यमान थे, जिसने हरि-रूप रस को छिड़ककर कामाग्नि से उसे बचा लिया था और पाखंड के किवाड़ खोलकर उसे संसार-सागर से तार दिया था—

राम ! मोहि सत्गुर मिले अनेक कलानिधि, परम-तत्त्व सुखदाई।
काम-अगिनि तन जरत रही है, हरि-रसि छिरकि बुझाई॥
दरस परस तें दुरमति नासी, दीन रटनि ल्यो आई।
पाखंड भरम कपाट खोलिकै, अनभै कथा सुनाई॥
यहु संसार गंभीर अधिक जल, को गहि ल्यावै तीरा।
नाव जहाज खेवइया साधू, उतरे दास कबीरा[1]॥

ये सब बातें रामानंद पर ठीक उतरती हैं। उस समय मध्यदेश में वही एक साधु था जिसने पाखंड के दरवाज़े खोल डाले।

ग्रंथ साहब में कबीर का एक पद है जिसमें उन्होंने कहा है कि मैंने अपने घर के देवताओं और पितरों की बात को छोड़कर गुरु

---

(१) क० ग्रं०, पृ० १२२, १३०।

के शब्द को ग्रहण किया है[1]। इससे प्रकट होता है कि उन्होंने कोई ऐसा गुरु बनाया था जिसके लिये उन्हें अपने कुल की परंपरा छोड़नी पड़ी। अगर शेख़ तक़ी उनके गुरु होते तो वे यह बात क्यों कहते? अतएव यह बात असंदिग्ध है कि रामानंद कबीर के गुरु थे।

रामानंद के अतिरिक्त कबीर के समकालीनों में से एक ही व्यक्ति ऐसा है जिसका नाम कबीर ने विशेष आदरपूर्वक लिया है[2]। इनका नाम कबीर ने पीर पीतांबर बतलाया है जिनके पास जाना वे हज्ज अथवा तीर्थाटन समझते थे। कबीर ने उनका जो वर्णन किया है—उनका कल कीर्तन, उनके गले में की कंठी और जिह्वा पर का 'राम'—वह यही सूचित करता है कि वे वैष्णव थे जो रामानंद की ही भाँति हिंदू-मुसलमान का भेद-भाव नहीं मानते थे और इसी लिये शायद कबीर की श्रद्धा के भाजन हुए। उनके नाम के पहले आए हुए 'पीर' शब्द को केवल 'गुरु' का पर्याय समझना चाहिए। उनकी महिमा कबीर ने यहाँ तक गाई कि देवर्षि नारद, शारदा, ब्रह्मा और लक्ष्मी को भी उनकी सेवा करते हुए दिखाया है। पता नहीं कि ये पीर पीतांबर रहनेवाले कहाँ के थे। 'गोमती-तीर' जौनपुर की ओर संकेत करता है।

कबीर का समय बड़े विवाद का विषय है। उनके जन्म के संबंध में यह दोहा प्रसिद्ध है—

---

(१) घर के देव पितर को छोड़ी गुरु को सबद लयो।

—'ग्रंथ', ४६२, ६४।

(२) हज्ज हमारी गोमती-तीर। जहाँ बसहि पीतम्बर पीर॥
वाहु वाहु क्या खूब गावता है। हरि का नाम मेरे मन भावता है॥
नारद सारद करहि खवासी। पास बैठी बिधि कँवला दासी॥
कंठे माला जिहवा राम। सहस नाम लै लै करौ सलाम॥
कहत कबीर राम-गुन गावौ। हिंदू तुरक दोउ समझावौ॥

—क० ग्रं०, पृ० २२०, २१६।

चौदह सौ पचपन साल गए, चंद्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी तिथि प्रगट भए॥

इसके आधार पर कबीर कसौटी में उनका जन्म सं० १४५५ के ज्येष्ट की पूर्णिमा को सोमवार के दिन माना गया है। बाबू श्याम-सुंदरदासजी ने 'साल गए' के आधार पर उसे १४५६ सं० माना है, जो गणित के अनुसार भी ठीक बैठता है। परंतु इस संवत् को मानने से रामानंदजी की मृत्यु (सं० १४६७) के समय कबीर की अवस्था केवल ग्यारह वर्ष की ठहरती है, जिससे उसका रामानंद का शिष्य होना घटित नहीं होता। रामानंदजी के शिष्य होने के समय कबीर निरे बालक न रहे होंगे। बिना विशेष विरक्तावस्था के जागरित हुए न रामानंद ही किसी मुसलमान को चेला बना सकते थे और न कबीर ही किसी हिंदू के चेले बनने के लिये उत्सुक हो सकते थे। उस समय कम से कम उनकी अवस्था अठारह वर्ष की होनी चाहिए। एक दो वर्ष कम से कम उसने रामानंदजी का सत्संग भी किया होगा। अतएव कबीर का जन्म सं० १४४७ से पहले हुआ होगा, पीछे नहीं।

कबीर के समय तक नामदेव करामाती कथाओं के केंद्र हो गए थे जिससे मालूम होता है कि वे कबीर से पहले हो गए थे। नामदेव की मृत्यु सं० १४०७ के लगभग हुई थी, अतएव कबीर का आविर्भाव सं० १४०७ और १४४७ के बीच किसी समय में मानना चाहिए। मेरी समझ में सं० १४२७ के आसपास उनका जन्म मानना उचित है।

कबीर साहब पीपा के समकालीन थे। पीपा के जीते जी कबीर को बहुत प्रसिद्धि प्राप्त हो गई थी। पीपा का समय हम १४१० से १४६० तक मान आए हैं। कबीर पीपाजी से अवस्था में छोटे हो सकते हैं, किंतु बहुत छोटे नहीं। इस दृष्टि से भी १४२७ के आसपास उनका जन्म मानना उचित है।

मृत्यु के निकट कबीर बहुत प्रसिद्ध रहे होंगे। इसलिये उनकी जन्म-तिथि का लोगों को ज्ञान रहा हो, चाहे न रहा हो, उनकी पुण्यतिथि का ज्ञान अवश्य रहा होगा। उनकी निधन-तिथि के बारे में दो दोहे प्रचलित हैं, जो प्राय: एक ही के रूपांतर मालूम होते हैं[1]। एक के अनुसार उनकी मृत्यु सं० १५०५ और दूसरे के अनुसार १५७५ में हुई। इनमें से एक अवश्य सही होना चाहिए। पहला अधिक संगत मालूम पड़ता है। उसके अनुसार उनकी आयु लगभग ८० वर्ष की होती है। अनुमान यह होता है कि सिकंदर लोदी (राज्य सं० १५४६ से १५७२) के साथ कबीर का नाम जोड़ने के उद्देश्य से ही किसी ने 'औ पाँच मो' की जगह 'पछत्तरा' कर दिया है। कबीर पर किसी शासक की कोप-दृष्टि अवश्य हुई थी, पर वह शासक सिकंदर ही था, इसका कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता। प्रियादासजी ने सिकंदर ही को अधिक जुल्मी सुना होगा, इसी से उसके द्वारा कबीर पर जुल्म होना लिख दिया होगा।

कबीर के जीवन की घटनाओं में शेख़ तक़ी का नाम भी लिया जाता है। रेवरेंड वेस्कट ने इस नाम के दो व्यक्तियों का उल्लेख किया है, एक मानिकपुर कड़ा के और दूसरे झूँसी के। मानिकपुरवाले शेख़ तक़ी चिश्तिया ख़ानदान के थे। उनकी मृत्यु सं० १६०२ (ई० १५४५) में हुई। झूँसीवाले तक़ी सुहर्वर्दी खानदान के थे और स्वामी रामानंद के समकालीन थे। इनकी मृत्यु सं० १४८६ (ई० १४२९) में हुई। परंपरा के अनुसार झूँसीवाले शेख़ तक़ी ही कबीर

---

(१) संवत पंद्रह सै औ पाँच मो, मगहर को कियो गवन।
अगहन सुदी एकादसी, मिले पवन में पवन ॥ १ ॥
संवत पंद्रह सै पछत्तरा, कियो मगहर को गवन।
माघ सुदी एकादसी, रलो पवन में पवन ॥ २ ॥
करवतु भला न करवट तेरी। लागु गले सुन विनती मेरी ॥...

के समकालीन थे[1]। इनके समय की प्राचीनता के कारण विद्वानों को इसमें संदेह होता है। परंतु सं० १५०५ (ई० १४४८) में कबीर की मृत्यु मानने से इस संदेह के लिये जगह नहीं रह जाती। बल्मा लोग भी इसी संवत् को मानते हैं।

मॉनुमेंटल ऍटिक्विटीज़ ऑव दि नॉर्थ वेस्टर्न प्रॉविंसेज़ के लेखक डाक्टर फ्यूरर के अनुसार संवत् १५०७ (१४५० ई०) में नवाब बिजलीख़ाँ पठान ने कबीर की कबर के ऊपर रौज़ा बनवाया था जिसका जीर्णोद्धार संवत् १६२४ (१५६७ ई०) में नवाब फिदाईख़ाँ ने करवाया। इससे भी इस मत की पुष्टि होती है। परंतु खेद है कि डाक्टर फ्यूरर ने अपने प्रमाणों का उल्लेख नहीं किया।

जान पड़ता है कि कबीर विवाहित थे। उनकी कविता में स्थान स्थान पर 'लोई' शब्द आया है जिससे अनुमान किया जाता है कि लोई उनकी स्त्री का नाम है जिसे संबोधित कर ये कविताएँ कही गई हैं। परंतु अधिक स्थानों पर लोई 'लोग' के अर्थ में आया है और 'लोक' का अपभ्रंश रूप है। हाँ, आदि ग्रंथ में दो स्थल[2] ऐसे हैं, जिनमें 'लोई' स्त्री-वाचक हो सकता है। आदि ग्रंथ में एक पद ऐसा भी है जिससे ऐसा प्रतीत होता है जैसे कबीर का विवाह धनिया नामक युवती से हुआ हो जिसका नाम बदलकर उसने राम-

---

(१) कहते हैं कि कबीर कुछ दिन तक झूँसी में शेख तकी के पास रहे थे। खाने-पीने के संबंध में सत्कार का अभाव देखकर जब कबीर कुड़कुड़ाये तब शेखजी ने उन्हें शाप दे दिया जिससे वे छः मास तक संग्रहणी से ग्रस्त रहे। अब तक झूँसी में एक कबीर नाला है। कहते हैं कि उन दिनों कबीर जिस नाले में आया करते थे, यह वही था।

(२) कहतु कबीर सुनहु रे लोई। अब तुमरी परतीति न होई॥

—ग्रंथ, पृ० २१२।

सुनि अंधली लोई बे पीर। इन मुंडियन भजि सरन कबीर॥

—क० ग्रं० २१६, १०१।

जनिया कर दिया हो। इसी से कबीर की माता को शोक होता है, क्योंकि 'रामजनी' तो वेश्या अथवा वेश्या-पुत्री को ही कह सकते हैं। परंतु इससे कबीर का अभिप्राय दूसरा ही है। 'माता' माया है और 'धनिया' उसका प्रधान अस्त्र कामिनी और 'रामजनी' भक्ति, जिसमें कुल-मर्यादा का कोई ध्यान नहीं रखा जाता।

जनश्रुति के अनुसार कबीर के एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्र का नाम कमाल, पुत्री का कमाली था। पंथवालों के अनुसार ये उनके सगे लड़के-लड़की नहीं थे, बल्कि करामात के द्वारा मुर्दे से जिंदे किए हुए बालक थे जो उन्हा के साथ रहा करते थे। इस छोटे से परिवार के पालन के लिये कबीर को अपने करघे पर खूब परिश्रम करना पड़ता था। परंतु शायद उससे भी पूरा न पड़ता था। इसी से कबीर ने दो वक्त के लिए दो सेर आटा, आध सेर दाल, पाव भर घी और नमक (चार आदमियों की खुराक) के लिये[1] परमात्मा से प्रार्थना की जिससे निश्चित होकर भजन में समय बिता सकें। साधु-सेवा की कामना से और अधिक अर्थ-संकट आ उपस्थित होता था। बाप की कमाई शायद इसमें खर्च हो चुकी थी। कबीर की स्त्री को यह बात खलती थी कि अपने बच्चे तो घर में भूखे और दुखी रहें और साधु लोगों की दावत होती रहे[2]। मालूम होता है कि कमाल धन कमाकर संग्रह करके माता को प्रसन्न करता था। परंतु इससे कबीर को दुःख होता

---

(१) दुइ सेर माँगौं चूना। पाव घीव सँग लूना॥
आध सेर माँगौं दाले। मोको दोनों वखत जिवाले॥...
—क० ग्रं०, पृ० ३१४, १२६।

(२) इन मुँड़िया सगलो द्रव खोई। आवत जात कसर ना होई॥...
लरिका लरिकन खैबो नाहिं। मुँड़िया अनदिन धाए जाहिं॥...
—वही २६६, १०६।

था[1]। पिता की मृत्यु पर उसने भी अपने पिता के मार्ग का अनुसरण किया और वह अहमदाबाद की तरफ उनके सिद्धांतों का प्रचार करता रहा।

कबीर ने सत्य के शोध में अपना जीवन व्यतीत किया था। अज्ञान के विरुद्ध उन्होंने घोर युद्ध किया था। हिंदू मुसलमान दोनों पर उन्होंने व्यंग्यों की बाण-वर्षा की, जिससे दोनों तिलमिला उठे। सुलतान के दरबार में उनकी शिकायतें पहुँचीं। 'राजा राम' का सेवक भला पृथ्वी के किसी शासक की क्या परवा करता? उसने बेधड़क सुलतान का सामना किया[2]। काजी ने दंड सुनाया। पर, कहते हैं कि हाथ-पाँव बाँधकर गंगा में डुबाने, आग में जलाने, हाथी से कुचलवाने के सब प्रयत्न निष्फल हुए। संत-परंपरा में ये कथाएँ बहुत प्रचलित हैं। परंतु जान पड़ता है कि प्रह्लाद के साथ कबीर की पूर्ण तुलना करने के लिये ये कथाएँ गढ़ी गई हैं। म्लेच्छ-कुल में पैदा होने पर भी कबीर वैष्णव हो गया था, इस दृष्टि से उसकी प्रह्लाद के साथ समानता थी ही। **कबीर-ग्रंथावली** में भी इनका वर्णन है, इसी से उसकी प्रामाणिकता को भी हम अभेद्य नहीं कह सकते। हाँ, अगर हम 'काजी' का अर्थ हिरण्यकशयप का न्याया-ध्यक्ष मानें और इस पद को प्रह्लाद के संबंध का मानें तो कुछ खप

---

(१) बूड़ा बंश कबीर का उपजा पूत कमाल।
हरि का सुमिरन छाँड़ि के घे आया घर माल॥

—वही १०१, ४१।

(२) अहो मेरे गोविंद तुम्हारा जोर। काजी बकिया हस्तीतोर॥...
तीनि बार पतियारा लीना। मन कठोर अजहुँ न पतीना॥

—वही पृ० २१०, ३६२; २१४. १२२।

गंग गोसाइनि गहिर गभीर, जँजीर बाँधिकर खरे हैं कबीर।...
गंगा की लहरि मेरी टूटी जँजीर, मृगछाला पर बैठे कबीर॥

—वही, पृ० २८०, ३०।

सकता है। जो हो, इसमें तो संदेह नहीं कि बुढ़ापे में कबीर के लिये काशी में रहना लोगों ने कुछ दूभर कर दिया था। इससे तंग आकर वे मगहर चले गए। किसी के आदेश से वे मगहर नहीं आए थे, इसका पता **आदि ग्रंथ** में के एक पद से चलता है। कभी कभी फिर काशी जाने के लिये उनका मन मचल उठता था[1]। लोग भी, खास करके उनके हिंदू शिष्य, मोक्षदा पुरी का यश गाकर उन्हें काशीवास करने को कहते होंगे। परंतु वे अंधविश्वासों को कब माननेवाले थे, जन्म भर की लड़ाई को अंतिम घड़ी ही में कैसे छोड़ देते? उन्होंने कहा—'हृदय का क्रूर यदि काशी में मरे तो भी उसे मुक्ति नहीं मिल सकती और यदि हरिभक्त मगहर में भी मरे तो भी यम के दूत उसके पास नहीं फटक सकते[2]। काशी में शरीर त्यागने से लोगों को भ्रम होगा कि काशीवास से ही कबीर की मुक्ति हुई है। मैं नरक भले ही चला जाऊँ पर भगवान् के चरणों का यश काशी को न दूँगा[3]।' इसलिये राम का स्मरण करते करते उन्होंने मगहर में शरीरत्याग किया[4]। वहाँ उनकी

---

(१) जिउँ जल छोड़ि बाहिर भइ मीना ..
तजिले बनारस मति भइ थोरी।

—ग्रंथ, १७६, १५।

(२) हिरदे कठोर मरया बनारसी, नरक न बंच्या जाई।
हरि का दास मरे मगहर, सेना सकल तिराई॥

—क० ग्रं०, पृ० २२४. ३४५।

(३) जो कासी तन तजै कबीर, रामहिं कहा निहोरा।

—वही, पृ० २३१, ४०२।

चरन बिरद कासीहिं न देहूँ। कहै कबीर भल नरके जैहूँ।

—वही, पृ० १८२, २१०।

(४) सुआ रमत स्रीरामैं।

—ग्रंथ, पृ० १७६, १५।

कब्र अब तक विद्यमान है। कहा जाता है कि राजा वीरसिंह की इच्छा कब्र को खोदकर हिंदू प्रथा के अनुसार उनके शव का दाह करने की थी, परंतु इसमें वे सफल नहीं हुए। इस संबंध में भी और भी कई स्थान कहे जाते हैं।

कबीर का एक अलग पंथ चला। उनके शिष्यों में हिंदू-मुसलमान दोनों सम्मिलित थे। बड़े बड़े राजा नवाबों ने अपने आत्मा की रक्षा की आशा से उनकी शरण ली। बघेल राजा वीरसिंह और बिजली खाँ नवाब दोनों उनके चेले थे। उनके अन्य चेलों में धर्मदास, सुरत गोपाल, जागूदास और भगवाँनदास (भागूदास) प्रसिद्ध हैं। उनकी मृत्यु के बाद कबीरपंथ की दो प्रधान शाखाएँ हो गईं। काशीवाली शाखा की गद्दी पर सुरत गोपाल बैठे और बांधव गढ़ की गद्दी पर धर्मदास। सुरत गोपाल ब्राह्मण थे। इनके अतिरिक्त इनके बारे में और कुछ नहीं मालूम है। धर्मदास बांधव गढ़ के वैश्य थे। कबीर से उनकी भेंट पहले-पहल वृंदावन में हुई थी। वहाँ उनके ऊपर कबीर के उपदेशों का कुछ असर नहीं हुआ। परंतु एक बार फिर कबीर ने स्वयं बांधवगढ़ जाकर उनको उपदेश दिया और वे कबीर के बड़े भक्तों में से हो गए। धर्मदासियों का प्रधान स्थान धाम खेड़ा (छत्तीसगढ़) है। किंतु हाटकेश्वर में भी उनकी एक प्रशाखा है। मंडला, कवरधा (दोनों मध्यप्रांत में), धनौटी तथा अन्य कई स्थानों में भी कबीरपंथ की छोटी मोटी शाखाएँ हैं।

कबीर के मत का प्रचार बहुत दूर दूर तक हुआ। लेकिन अधिकतर हिंदुओं में ही, मुसलमानों में नहीं। मगहर में भी कबीर का एक स्थान है परंतु वहाँ पर वे साधारण 'पीर' समझे जाते हैं, जब कि अन्य कबीर पंथी उन्हें साक्षात् परमात्मा मानते हैं। दिल्ली के आसपास के जुलाहे अपने को कबीरवंशी कहते हैं किंतु कबीरपंथी नहीं।

देश के कोने कोने में कबीरपंथी लोग पाए जाते हैं। बहुत कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कबीर पंथ से अपना संबंध भूल गए हैं। पहाड़ के डोम प्राय: निरंकारी हैं। उनकी पूजाओं में कबीर का नाम आता है। पहाड़ में प्रचलित झाड़-फूँक के मंत्रों में कबीर की गिनती सिद्धों में की गई है।

कबीर पढ़े लिखे नहीं थे। उन्होंने स्वयं कहा है 'विद्या न पढ़ौं, बाद नहिं जानौं'[1]। अतएव उनकी कविता साहित्यिक नहीं है। उसमें सत्यनिष्ठा का तेज, दृढ़ विश्वास का बल और सरलहृदयता का सौंदर्य है। बाबू श्यामसुंदरदास द्वारा संपादित **कबीर-ग्रंथावली** में आई हुई साखी, पद और रमैणी में उनकी निर्गुण वाणी बहुत कुछ प्रामाणिक है। संपूर्ण बीजक भी प्रामाणिक नहीं जान पड़ता। उनकी कुछ कविताओं का संग्रह सिखों के **आदि ग्रंथ** में भी हुआ है। इनके अतिरिक्त भी और कई ग्रंथ कबीर के नाम से प्रचलित हैं जो कबीर के नहीं हो सकते। उनके बहुत से ग्रंथ धर्मदासी शाखा के महंतों और साधुओं के बनाए हुए हैं। उनके ग्रंथों की प्रामाणिकता का विषय निर्गुण साहित्य नामक अध्याय में किया जायगा।

धर्मदासजी की कविता में यद्यपि वह ओज और तीक्ष्णता नहीं है जो कबीर की कविता में, फिर भी वह कबीर की कविता से अधिक मधुर और कोमल है। उन्होंने अधिकतर प्रेम की पीर की अभिव्यंजना की है। उनकी **शब्दी** का कबीरपंथ में बहुत मान होता है।

३. नानक

कबीर की मृत्यु के इक्कीस वर्ष बाद सं० १५२६ (१४६९ ई०) में लाहौर के समीप तलवंडी नामक एक छोटे से गाँव में एक बालक का जन्म हुआ जिसके भाग्य में कबीर के सत्य-प्रसारक आंदोलन के नेतृत्व का भार

(१) क० ग्रं०, पृ० ३२२, १८७।

ग्रहण करना लिखा था। यह बालक नानक था। उसके पिता का नाम कल्लू और माता का तृप्ता था। बहुत छोटी अवस्था में उसका विवाह कर दिया गया था। उसकी स्त्री का नाम सुलक्षणा था जिससे आगे चलकर उसके श्रीचंद और लक्ष्मीचंद नामक दो पुत्र हुए। श्रीचंद ने सिखों की उदासी नामक एक शाखा का प्रवर्तन किया जो गुरु नानक को भी मानते हैं और अपने आपको हिंदू घेरे से अलग नहीं समझते। लक्ष्मीचंद के वंश के लोग आज भी पंजाब के भिन्न-भिन्न भागों में पाए जाते हैं।

नानक सांसारिक दृष्टि से बहुत थोदा समझा जाता था। चटसार (पाठशाला) में उसने कुछ नहीं सीखा। वह गृहस्थी के कुछ काम का न पाया गया। खेत रखाने भेजा जाता तो खेत चराकर आता; बीज बोने के बदले वह किसी भूखे को दे आता। उसके बाप ने चाहा कि वह दूकान करे परंतु दूकान भी थोड़े ही दिनों में चौपट हो गई। अंत में उससे निराश होकर उसके बाप ने उसे उसकी बहिन ननकी के यहाँ भेज दिया। ननकी का पति जयराम सरकारी नौकरी पर था। उसके कहने-सुनने से नानक को नवाब ने भंडारी का पद दे दिया। अपनी बहिन का मन रखने के लिये नानक अपने नए काम को बड़ी लगन के साथ करने लगा। ऐसा मालूम होता था कि नानक अब दुनिया में किसी काम का हो जायगा। परंतु लिखा कुछ और ही था। साधु-संतों की सेवा उसने अब भी न छोड़ी थी। उनका सत्कार करने के लिये वह सदा मुट्ठी खोले रहता था। इससे लोगों को उस पर संदेह होने लगा। उस पर सरकारी रुपए हड़प जाने का अभियोग लगाया गया। जाँच होने पर उसका पाई पाई का हिसाब ठीक निकला। उसके मान की तो रक्षा हो गई पर उसका उचटा हुआ मन फिर दुनिया के धंधों में लगा नहीं; क्योंकि उसके भीतर की आँखें

खुल गई थीं। उसने देखा कि संसार में मिथ्या का राज्य है। अतएव मिथ्या के विरुद्ध उसने लड़ाई छेड़ दी। किंवदंतियों के अनुसार वह दिग्विजय करते हुए मक्का से आसाम और काश्मीर से सिंहल तक कई स्थानों मे पहुँचा। उसका स्वामिभक्त सेवक मरदाना, जहाँ जहाँ वह गया वहाँ वहाँ, छाया की तरह उसके साथ गया। उनका सबसे अधिक प्रभाव पंजाब प्रांत में रहा जो उस समय इस्लाम का गढ़ था। नानक को यह देखकर बड़ा दुःख होता था कि मिथ्या और पाषंड का जोर बढ़ रहा है। "शास्त्र और वेद कोई नहीं मानता। सब अपनी अपनी पूजा करते हैं। तुरकों का मत उनके कानों और हृदय में समा रहा है। लोगों की जूठन तो खाते हैं और चौका देकर पवित्र होते हैं—देखो यह हिंदुओं की दशा है[1]। एक हिंदू चुंगीवाले से उसने कहा था—गौ ब्राह्मण का तो तुम कर लेते हो। गोबर तुम्हें नहीं तार सकता। धोती-टीका लगाए रहते हो, माला जपते हो पर अन्न खाते हो, म्लेच्छ का। भीतर तो पूजा-पाठ करते हो किंतु तुरकों के सामने क़ुरान पढ़ते हो। अरे भाई! इस पाषंड को छोड़ दो और भगवान् का नाम लो जिससे तुम तर जाओगे[2]।"

---

(१) सासतु बेद न माने कोई। आपो आपै पूजा होई॥
तुरक मंत्र कनि रिदै समाई। लोकमुहावहि छाँडी खाई॥
चौका देके सुचा होई। ऐसा हिंदू वेखहु कोई॥
—आदि ग्रंथ, पृ० १३८।

(२) गऊ बिरामण का कर लावहु, गोबर तरणु न जाई।
धोती टीका तै जपमाली, धानु मलेछाँ खाई॥
अंतरिपूजा, पड़हिं कतेबा संजमि तुरका भाई।
छोडिले पखंडा, नामि लइए जाहि तरंदा॥
—'ग्रंथ', पृ० २११।

यदि वस्तुतः देखा जाय तो नानक उन महात्माओं में से थे जिन्हें हम संकुचित अर्थ में किसी एक देश, जाति अथवा धर्म का नहीं बतला सकते। समस्त संसार का कल्याण उनका ध्येय था। इसी लिये उन्होंने हिंदू मुसलमान दोनों की धार्मिक संकीर्णता का विरोध किया। परंतु अपने समय के वास्तविक तथ्यों के लिये वे आँखें बंद किए हुए न थे। मिस्टर मैक्स आर्थर मेकॉलिफ का यह कथन कि सिखधर्म हिंदू धर्म से बिलकुल भिन्न है, आज चाहे सही हो पर नानक का यह उद्देश्य न था कि ऐसा हो। नानक हिंदू धर्म के उद्धारक और सुधारक होकर अवतरित हुए थे, उसके शत्रु होकर नहीं। सुधार के वेही प्रयत्न सफल हो सकते हैं जो भीतर से सुधार के लिये अग्रसर हों, नानक यह बात जानते थे। उन्होंने परंपरा से चले आते हुए धर्म में उतना ही परिवर्तन चाहा, जितना संकीर्णता को दूर करने तथा सत्य की रक्षा करने के लिये आवश्यक था। उन्होंने मूर्तिपूजा, अवतारवाद और जाति-पाँति का खंडन किया, परंतु त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) के सिद्धांत को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया[1]। प्रणव ॐ को अपनी वाणी में आदर के साथ स्थान दिया। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदंति' से वेदों में ऋषियों ने जो दार्शनिक चिंतन का आरंभ किया था, उसी का पूर्ण विकास वेदांत में हुआ, और उसी का सार लेकर नानक ने १ ॐ सति नामु करता पुरख. निरभौ निरवैर अकाल मूरति अजूनि सैभं की भक्ति का प्रसार किया और एकेश्वरवाद का जो आकर्षण इस्लाम में था, उसके स्वधर्म में ही लोगों को दर्शन कराए, क्योंकि वे यह नहीं चाहते थे कि लोग

---

(१) एका माई जुगत विआई, तिन चेले परवाण।
एक संसारी, एक भंडारी, एक लाए दीवाण॥
—जपजी, 'ग्रंथ', पृ० १

एक प्रपंच से हटकर दूसरे प्रपंच में जा पड़ें। हिंदू धर्म में ही नहीं, इस्लाम में भी पाखंड और प्रपंच भरा हुआ था। आध्यात्मिक प्रेरणा के बिना प्रत्येक धर्म प्रपंच और पाखंड है। जो बातें हिंदू धर्म को सार्वभौम धर्म के स्थान से गिरा रही थीं उन बातों को हटाकर नानक ने फिर से शुद्ध धर्म का प्रचार किया। वह सार्वभौम धर्म, नानक जिसके प्रतिनिधि हैं, किसी धर्म का विरोधी नहीं, क्योंकि शुद्ध रूप में सभी धर्मों को उसके अंतर्गत स्थान है, वह धर्म धर्म के भेद को नहीं मानता। फिर भी परिणामतः उनको मध्ययुग का पंजाबी राममोहन राय समझना चाहिए। उन्होंने इस्लाम की बढ़ती हुई बाढ़ से हिंदू धर्म की उसी प्रकार रक्षा की जिस प्रकार राममोहन राय ने ईसाइयत की बाढ़ से। डा० ट्रंप चाहे अच्छे अनुवादक न हों परंतु उन्होंने नानक के संबंध में अपना जो मत दिया है वह बहुत सयुक्तिक है। मिस्टर फ्रेडरिक पिंकट ने उसके निराकरण का व्यर्थ प्रयत्न किया है[1]। डा० ट्रंप ने लिखा है—"नानक की विचारशैली अंत तक पूर्ण रूप से हिंदू विचार शैली रही। मुसलमानों से भी उनका संसर्ग रहा और बहुत से मुसलमान उनके शिष्य भी हुए। परंतु इसका कारण यह है कि ये सब मुसलमान सूफी मत के माननेवाले थे। और सूफी मत सीधे हिंदू मत से निकले हुए सर्वात्मवाद को छोड़कर और कुछ नहीं, इस्लाम से उसका केवल बाहरी संबंध है[2]।" जो नानक को मुसलमान मानने में मिस्टर पिंकट का साथ देते हैं वे उसी तरह भूल करते हैं जैसे वे लोग जो राममोहन राय को ईसाई मानते हैं। हाँ, इस.

---

(१) डिक्शनरी ऑव इस्लाम में सिख संप्रदाय पर मिस्टर पिंकट का लेख।

(२) ट्रंप—'आदि ग्रंथ' का अँगरेज़ी अनुवाद, प्रस्तावना, पृ० १०१।

बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि नानक की विचारशैली को ढालने में इस्लाम का भी प्रकारांतर से हाथ रहा है।

नानक बहुत ऊँची लगन के भक्त थे। पाखंड से सदा अलग रहते थे। दिखलाने भर के पूजा-पाठ और नमाज-इबादत में उनका विश्वास न था। जब नौकरी ही में थे तभी उन्होंने नवाब और क़ाज़ी से कह दिया था कि ऐसी नमाज से फायदा ही क्या जिसमें नवाब घोड़ा खरीदने के और क़ाज़ी घोड़े के बच्चे की रक्षा करने के खयाल को दूर न कर सकें। वे दया, न्याय और समता का प्रसार देखना चाहते थे। अन्याय की खोर-खांड़ में उन्हें खून की और मेहनत की रूखी-सूखी रोटी में दूध की धार दिखलाई देती थी। साहूकार के घर ब्रह्मभोज का निमंत्रण अस्वीकार कर उन्होंने लालू बढ़ई की ज्वार की रोटी बड़े प्रेम से खाई थी। सं० १५८३ (१५२६ ई०) में बाबर ने सय्यदपुर को तहस-नहस करके एक घोर हत्याकांड उपस्थित कर दिया था, जिसे नानक ने खुद अपनी आँखों से देखा था। नानक भी उस समय बंदी बनाए गए थे। उस समय बाबर को उन्होंने न्यायी होने, विजित शत्रु के साथ दया दिखलाने और सच्चे भाव से परमात्मा की भक्ति करने का उपदेश दिया था। शासकों के अत्याचार की उन्होंने घोर निंदा की। उन्हें वे बूचड़ कहते थे। उनका अत्याचार देखकर शांति के उपासक नानक ने भी 'खून के सोहिले' गाए और भविष्यवाणी की कि चाहे काया रूपी वस्त्र टुकड़े टुकड़े हो जायँ फिर भी समय आयगा जब और मर्दों के बच्चे पैदा होंगे और हिंदुस्तान अपना बोल सँभालेगा[1]।

---

(1) काया कपड़ टुक टुक होसी हिंदुसतान सँभालसि बोला।
आवि अठतरें जानि सतानवें, होरि भी उठसि मरद का चेला।
सच की बाणी नानक आखें, सचु सुणाइसि सच की बेला॥
—'ग्रंथ', पृ० ३८६।

नानक का गुरु कौन था, इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। संतबानी-संपादक के अनुसार नारद मुनि उनके गुरु थे। **कबीर मंसूर** में भाई बाला की **जनम साखी से** कुछ अवतरण दिए हैं जिनमें नानक के गुरु का नाम "ज़िंदा बाबा" लिखा है। जिंदा का अर्थ मुक्त पुरुष होता है। परमार्थतः केवल परमात्मा ही जिंदा बाबा है। कबीर-ग्रंथावली में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—"कहै कबीर हमारै गोब्यंद। चौथे पद में जन का ज्यंद[1]।" विहारी दरिया ने भी इससे यही अभिप्राय माना है—

> अछै वृच्छ ओइ पुरुष हहिं जिंदा अजर अमान[2]।
> मुनिवर थाके पंडिता, वेद कहहिं अनुमान॥

किंतु ज्ञान प्राप्त हो जाने पर प्रत्येक संत मुक्त पुरुष (जीवन्मुक्त) हो जाता है और जिंदा कहा सकता है। कई हिंदू साधु भी अपने को जिंदा फकीर कहा करते थे। कबीर पंथ की छत्तीसगढ़ी शाखावाले कबीर को भी जिंदा फकीर कहते हैं।

बाबा जिंदा के संबंध में भाई बाला ने नानक से कहलाया है "जित्थे वोड़ी पवन और जल है, सब वसदे बचन विच चलते हैं[3]।" जिंदा बाबा के गुरुत्व के संबंध में व्याख्या करते हुए एक मुगल फकीर के प्रति भाईजी ने नानक से कहलाया है—"यक खुदाय पीर शुदी कुल आलम मुरीद शुदी"[4]। इन स्थलों से तो यही जान पड़ता है कि उनमें जिंद का अर्थ परमात्मा ही किया गया है। उनमें नानक अपने गुरु को परमात्मा नहीं बल्कि परमात्मा को अपना गुरु

---

(१) क० ग्र०, पृ० २१०।
(२) सं० बा० सं०, भाग १, पृ० १२३।
(३) जनमसाखी, पृ० २६६।
(४) वही, पृ० २४६।

बदला रहे हैं। अर्थात् नानक स्वतः संत थे, उन्हें गुरु धारण करने की कोई आवश्यकता न थी।

कबीर मंसूर से यह भी ज्ञान पड़ता है कि भाई बाला के अनुसार नानक ने बाबर से कहा था कि मैं "कलंदर कबीर" का चेला हूँ जिसमें तथा परमेश्वर में कोई भेद नहीं है[१]। यदि कबीर मंसूर में इस अवतरण में कुछ फेरफार नहीं हुआ है तो यहाँ भाई बाला भी कबीर को नानक का गुरु मानते जान पड़ते हैं जिससे जिंदा बाबा से कबीर ही अभिप्राय ठहरता है। परंतु कबीर मंसूर में 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू' का, वेद में कबीर के दर्शन कराने के उद्देश्य से कबीर्मनीषी हो गया है। इससे निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

कबीर पंथी लोग भी नानक को कबीर का चेला मानते हैं। बिशप वेस्कट ने २७ वर्ष की अवस्था में नानक का कबीर से मिलना माना है। किंतु कबीर का जो समय पीछे निश्चित किया जा चुका है, उसके अनुसार यह ठीक नहीं जँचता। अतएव यदि जिंदा बाबा परमात्मा का नाम न होकर किसी साधु का नाम है तो वह साधु कबीर न होकर कोई दूसरा होगा। यदि कबीर ही नानक के गुरु हों तो, उसी अर्थ में हो सकते हैं जिस अर्थ में वे सं० १७८४ के आस-पास गरीबदास के गुरु हुए थे। इसका इतना ही अर्थ निकलता है कि नानक कबीर के मतानुयायी थे और उनकी वाणी से उनको अध्यात्म मार्ग में बहुत प्रोत्साहन मिला था। आदि ग्रंथ इस बात का साक्षी है कि यह बात सर्वथा सत्य है।

गुरु नानक ने सं० १५९५ (१५३८ ई०) में अपना चोला छोड़ा। उनका मत सिक्खमत अथवा शिष्यमत कहलाया। उनके बाद एक एक करके नौ और गुरु उनकी गद्दी पर बैठे; गुरु अंगद

(१) जनमसाखी, पृ० २३६।

सं० १५९३ में, गुरु अमरदास सं० १६१५ में, गुरु रामदास सं० १६३१ में, गुरु अर्जुनदेव सं० १६३८ में, हरगोविंद सं० १६६३ में, हरराय सं० १७०२ में, गुरु हरकिसन सं० १७१८ में, गुरु तेगबहादुर सं० १७२१ में और सं० १७३२ में गुरु गोविंदसिंह। ये सब गुरु नानक की ही आत्मा समझे जाते थे। एक की मृत्यु पर दूसरे के शरीर में उसका प्रवेश माना जाता था। अपनी कविताओं में सबने अपनी छाप 'नानक' रखी है। अपने आदि गुरु के समान सभी गुरु कवि थे। सबने अपनी कविताओं में नानक के भावों और आदर्शों का पूर्ण अनुकरण किया है। पहले पाँच गुरुओं की रचना **आदि ग्रंथ** में संगृहीत है जो गुरु अर्जुनदेव के समय में संवत् १६६१ (१६०४ ई०) में संपूर्ण हुआ। इस संग्रह में तब तक के सिख गुरुओं के अतिरिक्त अन्य भक्त जनों की वाणी का भी समावेश हुआ। नानक ने बड़े आकर्षक और रुचिर पदों में भगवान् के चरणों में आत्म-निवेदन किया है। उनकी कविता मर्मस्पर्शी, सीधी-सादी और साहित्यिक कलाबाजी से मुक्त है। उन्होंने ब्रजभाषा में लिखा है, जिसमें थोड़ा सा पंजाबीपन भी आ गया है।

नानक की आध्यात्मिक अनुभूति अत्यंत गहन थी इसलिये उन्होंने धन का तिरस्कार किया। किंतु श्रद्धालु भक्तों की भक्ति-भेंट के कारण उनके पीछे के गुरुओं का विभव उत्तरोत्तर बढ़ने लगा, इसलिये उन्हें सांसारिक बातों की ओर भी ध्यान देना पड़ा। अकबर के समय तक तो गुरुओं का विभव शांतिपूर्वक बढ़ता रहा। स्वयं अकबर भी उसमें सहायक हुआ; उसी की दी हुई भूमि पर गुरु रामदास ने अमृतसर का प्रसिद्ध स्वर्णमंदिर बनवाया। परंतु गुरु अर्जुन ने शाहजादा खुसरो से सहानुभूति दिखलाकर जहाँगीर से शत्रुता मोल ले ली और शाही कैदखाने की यंत्रणा से पाँचवें दिन

उनके प्राण छूट गए। प्रत्येक नवीन गुरु को आत्मरक्षा की अधिकाधिक आवश्यकता का अनुभव हुआ। नवम गुरु तेगबहादुर को औरंगजेब ने बड़ी क्रूरता के साथ मरवाया। वध-स्थान में गुरु तेगबहादुर ने, पश्चिम से आनेवाले विदेशियों के द्वारा, मुगल-शासन के नाश की भविष्यवाणी की जो अँगरेजों पर ठीक उतरी। सिखों ने इन अत्याचारों का बदला लेने का पूरा यत्न किया। छठे गुरु हरगोविंद के हाथों शाही सेना को गहरी हार खानी पड़ी थी। दशम गुरु गोविंदसिंह ने और भी महान् फल के लिये प्रयत्न आरंभ किया। उन्होंने अपने सिखों में से साहसी वीरों को चुन चुनकर खालसा का संगठन किया, तमाखू और मदिरा का व्यवहार निषिद्ध कर दिया और केश, कंघा, कटार, कच और कड़े इन पाँच 'क'-कारों के व्यवहार का आदेश किया और राक्षस-मर्दिनी भगवती रण-चंडी का आवाहन किया। उन्होंने गुरुओं की परंपरा का अंत कर दिया और उनके स्थान पर ग्रंथ को पूज्य ठहराया, परंतु साथ ही शस्त्रों को भी वे पूज्य समझते थे। उनमें साधु और सैनिक दोनों का एक में समन्वय हुआ। ज्ञान को भी उन्होंने वीरता के उद्दीपनों में सम्मिलित किया—

धन्य जियो तेहि को जग में मुख तें हरि, चित्त में जुद्ध बिचारै।
देह अनित्त न नित्त रहै, जस-नाव चढ़ै भवसागर तारै॥
धीरज धाम बनाय इहै तन, बुद्धि सुदीपक ज्यों उजियारै।
ज्ञानहि की बढ़नी मनो हाथ लै, कादरता कतवार बुहारै॥

इस प्रकार सिख-संप्रदाय सैनिक धर्म में बदल गया और भावी सिख-साम्राज्य की पक्की नींव पड़ी।

नानक की मृत्यु के छः वर्ष बाद अहमदाबाद में दादू का जन्म हुआ। ये निर्गुण संत मत के बड़े पुष्ट खंभों में से हुए। इन्होंने

राजपूताना और पंजाब में उपदेश का कार्य किया। दादू का गुरु कौन था, इस विषय में बड़ा वाद-विवाद चला है। जनश्रुति तो यह है कि परमात्मा ने ही बुड्ढा के रूप में उन्हें दीक्षित किया था। दादू ने एक साखी में

४. दादू

स्वयं ही यह बात कही है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि बूढ़ा रक्त-मांस का आदमी नहीं था। क्योंकि निर्गुण पंथ में गुरु साक्षात् परमात्मा माना जाता है। म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी का मत है कि दादू का गुरु कबीर का पुत्र कमाल था। परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से यह ठीक नहीं जान पड़ता। दादू ने स्थान स्थान पर कबीर का उल्लेख बड़े आदर के साथ किया है जिससे प्रकट होता है कि वह उनको उपदेष्टा गुरु से भी बढ़कर समझते थे, यहाँ तक कि साक्षात् परमात्मा मानते थे। दादू की वाणी विचारशैली, साहित्यिक प्रणाली और विषय-विभाजन सबकी दृष्टि से कबीर की वाणी का अनुगमन करती है। यह इस बात का दृढ़ प्रमाण है कि किसी ने उन्हें कबीर की वाणी की शिक्षा दी थी। **बोधसागर** के अनुसार कमाल ने अपने पिता के सिद्धांतों का प्रचार अहमदाबाद आदि स्थानों में किया था[1]। अतएव अहमदाबाद का यह संत यदि कमाल का नहीं तो कमाल की शिष्य-परंपरा में किसी का शिष्य अवश्य था। डा० विलसन के मत से कमाल की शिष्य-परंपरा में दादू से पहले जमाल, विमल और बुड्ढा हो गए थे। इसमें संदेह नहीं कि आज तक जितने बाह्य और आभ्यंतर प्रमाण उपलब्ध हुए हैं वे सब इस मत की पुष्टि करते हैं।

दादू जाति के धुनिया थे[2]। उन्होंने अपना अधिक समय आमेर में बिताया। वहाँ से वे राजपूताना, पंजाब आदि स्थानों में भ्रमण

(१) चले कमाल तब सीस नवाई। अहमदाबाद तब पहुँचे आई॥
—'बोधसागर', पृ० १५१५।

(२) धूनी गर्भ उतपन्यो दादू योगेंद्रो महामुनी।
—'सर्वांगी' पोड़ी हस्तलेख, पृ० ३७३।

के लिये चल पड़े, और अंत में नराना में बस गए। यहीं संवत् १६६० में उनकी मृत्यु हो गई। उनकी पोथी और कपड़े उस स्थान पर अब तक स्मारक-रूप में सुरक्षित हैं। दादू कई भाषाएँ जानते थे और सब पर उनका अधिकार था। सिंधी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, पारसी सबमें उनकी कविताएँ मिलती हैं परंतु उन्होंने विशेषकर हिंदी में रचना की है जिसमें राजस्थानी की विशेष पुट है। दादू की रचना कोमल और मृदु है किंतु उसमें कबीर की सी शक्ति और तेज नहीं है। सबके प्रति उनका भाई के ऐसा व्यवहार रहता था, जिससे वे 'दादू' कहलाए और उनके द्रवणशील स्वभाव ने उन्हें 'दयाल' की उपाधि दिलाई। उनकी गहन आध्यात्मिक अनुभूति की कथा अकबर के कानों तक भी पहुँची। कहा जाता है कि बीरबल की प्रार्थना पर अकबर का निमंत्रण स्वीकार कर वे एक बार शाही दरबार में गए थे, जहाँ उनके सिद्धांतों की सत्यता को सबने एकमत होकर स्वीकार किया। उनके शिष्य रज्जबदास ने एक साखी में इस घटना का उल्लेख किया है[1]।

दादू के कुल मिलाकर १०८ चेले थे जिनमें से सुंदरदास सबसे प्रसिद्ध हुआ। सुंदरदास नाम के उनके दो शिष्य थे। बड़ा सुंदरदास, जिसने नागा साधुओं का संगठन किया, बीकानेर के राजघराने का था। प्रसिद्ध सुंदरदास छोटा था। वह छः ही वर्ष की अवस्था में दादू की शरण में भेज दिया गया था किंतु उनकी देख-भाल में वह एक ही वर्ष रह सका, क्योंकि एक साल बीतते बीतते दादू दयाल की मृत्यु हो गई। इसलिये सुंदरदास का गुरुभाई जग-

(१) अकबरि साहि बुलाइया गुरु दादू को आप।
साँच झूठ ब्योरो हुयो, तब रह्यो नाम परताप॥
—'सर्वांगी' पौढ़ी हस्तलेख, पृ० ३११ (अ)-३११।

जीवनदास उसे काशी ले आया, जहाँ उसने अठारह वर्ष तक व्याकरण, दर्शन और धर्मशास्त्र की शिक्षा पाई। निर्गुण-संतों में वही एक व्यक्ति है जिसे पोथी-पत्रों की शिक्षा मिली थी। उपर्युक्त जगजीवनदास नारनौल के उस सतनामी संप्रदाय का संस्थापक जान पड़ता है जिसके अनुयायियों ने औरंगजेब के विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया और जिन्हें उसकी सेना ने सं० १७२९ (१६७२ ई०) में समूल नष्ट कर दिया। दादू का प्रधान शिष्य और उत्तराधिकारी उन्हीं का पुत्र गरीबदास था। उनके दूसरे पुत्र का नाम मिस्कीनदास था।

उनके प्रायः सब शिष्य कवि थे। छोटे सुंदरदास ने **ज्ञान-समुद्र, सुंदरविलास,** ये दो मुख्य ग्रंथ लिखे। उनकी **साखियों** और **पदों** की भी संख्या काफी है। सुंदरदास के उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त **पौड़ी हस्तलेख** में गरीबदास, रज्जबदास, हरदास, जन-गोपाल, चित्रदास, बखना, बनवारी, जगजीवन, छीतम और बिसन-दास की रचनाएँ संगृहीत हैं। इनमें से रज्जबजी मुसलमान थे। उन्होंने **सर्वंगी** (सर्वांगी) नामक एक अत्यंत उपयोगी वृहत् संग्रह बनाया जिसमें निर्गुण संत-मतानुकूल कविताएँ संगृहीत हैं, चाहे उनके रचयिता निर्गुणी हों या न हों। स्वयं रज्जबदास ने भी सवैये अच्छे कहे हैं।

दादू पंथी साधुओं की दो प्रधान शाखाएँ हैं। एक भेषधारी विरक्त और दूसरे नागा। भेषधारी साधु संन्यासियों की तरह भगवा धारण करते हैं और नागा श्वेत वस्त्र धारण करते हैं तथा साधारण गृहस्थों की तरह रहते हैं। दोनों प्रकार के साधु ब्याह नहीं कर सकते, चेला बनाकर अपनी परंपरा चलाते हैं। नागा लोग जयपुर राज्य की सेना में अधिक संख्या में पाए जाते हैं। नराना में इनका जो शिष्य-समुदाय है, वह 'खालसा' कहलाता है; क्योंकि

वह दादू की मूल शिक्षाओं की रक्षा किए हुए है। उत्तराधी नाम की भी उनकी एक शाखा और होती है जिसके संस्थापक बनवारी थे।

दादूपंथी न तो मुर्दों को गाड़ते हैं, न जलाते; वे उन्हें योंही जंगल में फेंक देते हैं जिससे वह पशु-पक्षियों के कुछ काम आवे।

५. प्राणनाथ

प्राणनाथ जाति के क्षत्रिय थे और रहनेवाले काठियावाड़ के। उनका जन्म सं० १६७५ में हुआ था। सिंध, गुजरात और महाराष्ट्र में भ्रमण करने के बाद वे पन्ना में बस गए जहाँ महाराज छत्रसाल ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। जान पड़ता है कि उन्हें मुसलमान ईसाई सभी प्रकार के साधु-संतों का सत्संग लाभ हुआ था। उनकी रचनाओं से मालूम होता है उन्हें कुरान, इंजील, तौरेत आदि धर्म-पुस्तकों का ज्ञान था। फारसी लिपि में लिखा हुआ उनका एक ग्रंथ लखनऊ की आसफुद्दौला पब्लिक लाइब्रेरी में है जिसका नाम **कुलजमे-शरीफ** है। कुलजमशरीफ का अर्थ है मुक्ति की पवित्र धारा। यह हिंदी में बिगड़कर कुलजमस्वरूप हो गया है। इस ग्रंथ का कुछ अंश उनके मुख्य निवास-स्थान पन्ना में सुरक्षित है। **इंपीरियल गजेटियर ऑव इंडिया**[1] में उनके **महातरियाल** नाम के एक ग्रंथ की सूचना प्रकाशित हुई थी, जो मालूम होता है कि, **कुलजमेशरीफ** से भिन्न नहीं है। इसके अतिरिक्त उन्होंने, **प्रगटवानी**, **ब्रह्मवानी**, **बीस गिरोहों का बाब**, **बीस गिरोहों की हकीकत**, **कीर्तन**, **प्रेमपहेली**, **तारतम्य** और **राजविनोद**, ये ग्रंथ भी लिखे जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं। नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टों[2] में इन ग्रंथों से जो

---

(१) भाग १६, पृ० ४०४।

(२) १९२४ से २६ तक की रिपोर्टें और दिल्ली में खोज की अप्रकाशित रिपोर्टें।

अवतरण दिए गए हैं, उन्हीं से हमें संतोष करना पड़ता है। प्राणनाथ विवाहित थे। उनकी स्त्री भी कविता करती थी। **पदावली** इस दंपति की संयुक्त-रचना है।

प्राणनाथ बहु-भाषा-विज्ञ थे। जहाँ जाते वहाँ की भाषा सीख लेते थे। उनके **कलजमे शरीफ** की सोलह किताबों में से कुछ गुजराती में हैं, कुछ उर्दू में, कुछ सिंधी में और अधिकांश हिंदी में। हाँ, उनकी भाषा प्रत्येक दशा में ऊबड़-खाबड़ और खिचड़ी है। अरबी, फारसी तथा संस्कृत का भी उन्हें ज्ञान मालूम पड़ता है।

प्राणनाथ बहुत पहुँचे हुए साधु समझे जाते थे। यहाँ तक कहा जाता है कि उन्होंने महाराज छत्रसाल के लिये हीरे की एक खान का पता लगाया था। मैं तो समझता हूँ कि वह खान भगवद्भक्ति थी। उन्होंने एक नवीन पंथ का प्रवर्तन किया जो धामी पंथ कहलाता है और भगवान् के धाम की प्राप्ति जिसका प्रधान उद्देश्य है। इस पंथ के द्वारा उन्होंने प्रेम-पंथ का प्रचार किया जिसमें केवल हिंदू और मुसलमान ही नहीं, ईसाई भी एक हो सकें। अपने को तो वे मेहदी, मसीहा और कल्कि अवतार तीनों एक साथ समझते थे। राधा और कृष्ण के प्रेम के रूप में उन्होंने भगवान् और भक्त के प्रेम के गीत गाए। मुहम्मद उनके लिये परमात्मा का प्रेमी था। उनके अनुसार प्रेम परमात्मा का पूर्ण रूप था और विश्व उसका एक अंश मात्र[1]। उन्होंने मांस, मदिरा और जाति का पूर्ण रूप से निषेध कर दिया। काठियावाड़ और बुंदेलखंड में उनके भक्त बहुत पाए जाते हैं; किंतु वे नाम मात्र के लिये धामी हैं। हिंदू धर्म की सब प्रथाओं का वे पूरी तरह आचरण करते हैं।

---

(१) अब कहूँ इसक बात, इसक सबदातीय साख्यात...
महादृष्टि महा एक अंग, ये सदा अनंद अति रंग॥

—ब्रह्मवानी, पृ० १

प्राणनाथ की मृत्यु सं० १७५१ में हुई। पंचमसिंह और जीवन मस्ताने प्राणनाथ के अनन्य भक्तों में से थे। पंचमसिंह महाराज छत्रसाल का भतीजा था। इसने भक्ति, प्रेम आदि विषयों पर सवैये लिखे और जीवन मस्ताने ने पंचक दोहे।

६. बाबालाल

बाबालाल मालवा के क्षत्रिय थे। इनका जन्म जहाँगीर के राजत्वकाल में हुआ था। इनके गुरु चेतन स्वामी बड़े चमत्कारी योगी थे। उन्होंने इन्हें वेदांत की शिक्षा दी थी। स्वयं बाबालाल के आश्चर्यजनक चमत्कारों की कथाएँ प्रचलित हैं। कहते हैं, एक समय इन्हें भिक्षा में कच्चा अनाज और लकड़ी मिली। अपनी जाँघों के बीच लकड़ी जलाकर और जाँघ पर बर्तन रखकर इन्होंने भोजन को सिद्ध किया। शाहजादा दारा शिकोह बाबालाल के भक्तों में से था। बाबालाल की कोई हिंदी रचना नहीं मिलती, परंतु इनके सिद्धांत नादिरुन्निकात नामक एक फारसी ग्रंथ में सुरक्षित हैं। सं० १७०५ में शाहजादा दारा शिकोह ने इस संत के उपदेश श्रवण करने के लिये सात बार इसका सत्संग किया था। इस सत्संग में जिज्ञासु दारा शिकोह के प्रश्नों के बाबालाल ने जो जो उत्तर दिए, वे सब नादिरुन्निकात में संगृहीत हैं। इन्होंने सूफियों की कविताओं का भी अध्ययन किया था। मौलाना रूम के वचनों को इन्होंने स्थान-स्थान पर अपने मत की पुष्टि में उद्धृत किया है। सरहिंद के पास देहनपुर में बाबालाल ने मठ और मंदिर बनवाए थे, जो अब तक विद्यमान हैं। इनके अनुयायी बाबालाली कहलाते हैं[1]।

बाबा मलूकदास सच्ची लगन के उन थोड़े से संतों में से थे जिन्होंने सत्य की खोज के लिये अपने ही हृदय को क्षेत्र माना किंतु

---

(१) [illegible]

जिनके सिद्धांत किसी सीमा की परवा न कर नेपाल, जगन्नाथ, काबुल आदि दूर दूर देशों में फैल गए, वह भी उस ज़माने में जब दूर दूर की यात्रा इतनी आसान न थी, जितनी आज है। उपर्युक्त स्थानों के अतिरिक्त उनकी गद्दियाँ कड़ा, जयपुर, गुजरात, मुलतान और पटने में हैं। उनके भानजे और शिष्य मथुरादास ने पद्य में **परिचयी** नामकी उनकी एक जीवनी लिखी है, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है—

७. मलूकदास

मलूक को भगिनी-सुत जोई। मलूक को पुनि शिष्य है सोई॥
... ...। मथुरा नाम प्रगट जग होई॥
तिन हित-सहित **परिचयी** भाषी। बसै प्रयाग जगत सब साषी॥

इसके अनुसार बाबा मलूकदास के पिता का नाम सुंदरदास था, पितामह का जठरमल और प्रपितामह का बेणीराम। इनके हरिश्चंद्रदास, शृंगारचंद्र, रायचंद्र ये तीन भाई और थे। मलूकदास का प्यार का नाम मल्लू था। ये जाति के कक्कड़ थे। इनका जन्म वैशाख कृष्ण ५ सं० १६३१ में कड़ा में हुआ था और १०८ वर्ष की दिव्य और निष्कलंक आयु भेगकर वैशाख कृष्ण चतुर्दशी संवत् १७३९ में वहीं वे स्वर्गवासी भी हुए। मिस्टर ग्राउस ने अपनी **मथुरा** में इन्हें जहाँगीर का समकालीन बताया। बेणीमाधवदास ने अपने **मूल गोसाईंचरित** में लिखा है कि मुरार स्वामी के साथ इन्होंने गोस्वामी तुलसीदास जी के दर्शन किए थे[1]। कड़ा में अब तक इनकी समाधि, वह मकान जहाँ इनको परमात्मा का साक्षात्कार हुआ था, माला, खड़ाऊँ, ठाकुरजी[2] इत्यादि विद्यमान हैं जिनका दर्शन कराया जाता है। जगन्नाथजी में

---

(१) 'गोस्वामी तुलसीदास' (हिंदुस्तानी एकेडमी), पृ० २४४, ८३।

(२) इनकी रचनाओं से तो मालूम पड़ता है कि ये मूर्ति के ठाकुरजी की शायद ही पूजा करते रहे हों।

भी इनकी एक समाधि बतलाई जाती है, पर शायद वह किसी दूसरे मलूकदास की है। आचार्य श्यामसुंदरदासजी ने कबीर-ग्रंथावली की भूमिका में[1] कबीर के एक शिष्य मलूकदास का उल्लेख किया है, जिनकी प्रसिद्ध खिचड़ी का इन्होंने वहाँ अब तक भोग लगना बताया है और कहा है कि कबीर की नीचे लिखी साखी इन्हीं को संबोधित करके लिखी गई है—

> कबीर गुद बसै बनारसी सिख समंदाँ तीर।
>
> बीसारया नहिं बीसरै, जे गुण होइ सरीर[2] ॥

संभव है, पुरीवाली समाधि कबीर के शिष्य मलूक की हो। पीछे से दोनों मलूक एक ही व्यक्ति में मिल गए और लोगों ने दोनों स्थानों पर समाधि की उलझन को सुलझाने के लिये वह दंतकथा गढ़ डाली जिसके अनुसार मलूकदास के इच्छानुकूल उनका शव गंगाजी में बहा दिया गया और स्थान स्थान पर संतों से भेंट करता हुआ वह, समुद्र के रास्ते, जगन्नाथ पुरी पहुँच गया।

नाम मात्र की दीक्षा इन्होंने देवनाथजी से ली थी। किंतु आध्यात्मिक जीवन में उनको वस्तुतः दीक्षित करनेवाले गुरु मुरार स्वामी थे। संतवाणी-संग्रह में उनके गुरु का नाम गलती से विट्ठल द्रविड़ लिखा हुआ है। विट्ठल द्रविड़ तो उनके नाम-मात्र के दीक्षा-गुरु देवनाथ के गुरु माऊनाथ के गुरु थे। कहते हैं कि सिख गुरु तेगबहादुर ने कड़ा में आकर उनसे भेंट की थी। परिचयी में इस बात का उल्लेख नहीं है। हाँ, औरंगजेब द्वारा गुरु तेग के वध का उल्लेख अवश्य है।

औरंगजेब बहुत कट्टर तथा असहिष्णु मुसलमान था। किंतु कहते हैं कि मलूकदास का वह भी सम्मान करता था। एक बार

---

(१) क० ग्रं०, भूमिका, पृ० २।

(२) वही, पृ० ६८।

औरंगजेब ने उन्हें दरबार में भी बुलाया था। किंवदंती तो यह है कि बादशाह ने जो दो अहदी भेजे थे, उनके आने के पहले ही औरंगजेब के पास पहुँचकर मलूकदास ने उसे आश्चर्य में डाल दिया था। कहते हैं कि मलूकदास ही के कहने से औरंगजेब ने कड़ा पर से जज़िया उठा दिया था। फतहखाँ नामक औरंगजेब का एक कर्मचारी इनका बड़ा भक्त हो गया। और नौकरी छोड़कर उन्हीं के साथ रहने लगा। मलूकदास ने उसका नाम मीरमाधव रखा। दोनों गुरु-शिष्य जीवन में एक होकर रहे और मृत्यु में भी वे एक हो रहे हैं। कड़ा में उन दोनों की समाधियाँ आमने-सामने खड़ी होकर उनके इस अनन्य प्रेम का साक्ष्य दे रही हैं।

मालूम होता है कि मलूकदास ने कई ग्रंथों की रचना की है। लाला सीताराम ने इनके **रत्नखान** और **ज्ञानबोध** का उल्लेख किया है और विल्सन साहब ने **साखी, विष्णुपद** और **दशरतन** का। इनके स्थान पर इनका सबसे उत्तम ग्रंथ **भक्तिवच्छावली** माना जाता है। किंतु इनके ये ग्रंथ हमारे लिये नाम ही नाम हैं। हमें तो इनकी उन्हीं कविताओं से संतोष करना पड़ा है जो लाला सीतारामजी के संग्रह में दी गई हैं अथवा जो बेल्वेडियर प्रेस ने **मलूकदास की बानी** के नाम से छापी हैं। इनकी रचनाओं में विचारों की पूर्ण उदारता तथा स्वतंत्रता झलकती है। गीता के लिये इनके हृदय में बड़ा भारी सम्मान था। राम नाम की भी इन्होंने बड़ी महिमा गाई है। परंतु इनके राम अवतारी राम नहीं थे।

मलूकदास ने उक्तियाँ भी बहुत अच्छी अच्छी कही हैं। कबीर के नाम से यह दोहा प्रसिद्ध है—

चलती चक्की देखकर, दिया कबीरा रोय।
दोउ पाटन के बीच में, साबित रहा न कोय॥

इसके जवाब में मलूकदास ने कहा है—

> इधर उधर जेहि फिरैं तेहि पीसे जावैं।
> जे मलूक कीली लगैं, तिनको भय कछु नाहिं॥

एक जगह कबीर ने कहा है कि कोयला सौ मन साबुन से धोने पर भी सफेद नहीं होता। किसी ने इसके जवाब में कहा है कि अगर कोयला जलने के लिये तैयार हो जाय तो उसके सफेद होने में कोई अड़चन नहीं। हो सकता है कि यह भी मलूक का ही हो।

मलूकदास विवाहित थे। किंतु पहले ही प्रसव में उनकी स्त्री एक कन्या जनकर मर गई। उनके बाद कड़ा में उनके भतीजे रामसनेही गद्दी पर बैठे। तदुपरांत कृष्णसनेही, कान्हरवाल, ठाकुरदास, गोपालदास, कुंजबिहारीदास, रामसेवक, शिवप्रसाद, गंगाप्रसाद तथा अयोध्याप्रसाद, यह परंपरा रही। आजकल मलूक के सभी वंशज महंत कहलाते हैं, परंतु गद्दी अयोध्याप्रसादजी ही में समाप्त समझी जाती है। प्रयाग में इनकी गद्दी का संस्थापक दयालदास कायस्थ था, इरफ़ाहाबाद में हृदयराम, लखनऊ में गोमतीदास, मुल्तान में मोहनदास, सीताकोयल में पूरनदास और काबुल में रामदास। इनके संप्रदाय का एक स्थान और 'राम जी का मंदिर' वृंदावन में केशी घाट पर भी है। इनके संप्रदाय में गृहस्थ-जीवन निषिद्ध नहीं है परंतु गद्दी मिलने पर महंत को ब्रह्मचर्यमय जीवन बिताना पड़ता है, यद्यपि रहता वह अपने बाल-बच्चों ही में है।

८. दीन दरवेश

दीन दरवेश पाटन के रहनेवाले सूफी साधु थे जिन्होंने सब तरफ से निराश होकर अपने हृदय की शांति के लिये निर्गुण भक्ति की लहर में डुबकी लगाई। वे पढ़े-लिखे बहुत नहीं थे। फारसी का उनको कुछ मोटा सा ज्ञान था। किंतु सत्य की खोज में वे लगन के साथ लगे और अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को विकसित करने का उन्होंने

खूब प्रयास किया। सत्य की खोज में वे पहले मुसलमानी तीर्थ-स्थानों में गए फिर हिंदू तीर्थस्थानों में। प्रत्येक पूर्णिमा को वे बड़ी भक्ति-भावना के साथ सरस्वती में स्नान किया करते थे परंतु सब व्यर्थ। अंत में उस दिव्य ज्योति को उन्होंने अपने हृदय में ही, पूर्ण प्रकाश के साथ, चमकते हुए देखा। उन्हें अनुभव हुआ कि इस ज्योति का जगमग प्रकाश हमेशा हमारे हृदय को प्रकाश-मान किए रहता है। उसके दर्शन के लिये केवल दृष्टि को अंतर्मुख कर देने की आवश्यकता होती है।

अपने हृदय के उद्गारों को व्यक्त करते हुए उन्होंने बहुत सुंदर कुंडलिया छंद लिखे हैं। कहा जाता है कि उन्होंने सवा लाख कुंडलिया लिखी थीं। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ महामहोपाध्याय पं० गौरी-शंकर हीराचंद ओझा के पास उनकी **बानी** का एक संग्रह है। परंतु ओझाजी कहते हैं कि इस संग्रह में उनकी बानी की संख्या इसके शतांश भी नहीं है। किंतु इधर-उधर संतों के संग्रहों में इनकी कुछ वाणी मिलती है। इनकी कविता सादी, भाषा सरल तथा भाव सीधे हैं। इनका समय विक्रम की अठारहवीं शताब्दी का मध्य है।

१. यारी साहब और उनकी परंपरा

यारी साहब एक मुसलमान संत थे। इनका समय संवत् १७४३ से १७८० तक माना जाता है। इनकी **रत्नावली** बड़े भव्य भावों से पूर्ण है। आध्यात्मिक संयोग और वियोग की इनकी कविता में बड़ी मधुर व्यंजना हुई है। इनके पद्यों में साहित्यिक चमक दमक का अभाव होने पर भी लोच काफी रहता है। सूफी शाह, हस्तमुहम्मदशाह, बुल्ला और केशवदास इनके शिष्यों में से थे। बुल्ला साहब और केशव-दास की रचनाएँ प्रकाश में आई हैं। केशवदास का समय सं० १७४७ से १८२२ तक है। वे जाति के वैश्य थे। उन्होंने

अमीघूँट की रचना की। बुल्ला जाति के कुनबी थे। उनका असल नाम बुलाकीराम था। फैजाबाद जिले के बसहरी ताल्लुके में गुलाल नामक एक राजपूत जमींदार के यहाँ वे हल जोतते थे। बुल्ला कभी कभी काम करते करते ध्यानस्थ हो जाते थे। काम से उनका ध्यान खिंच जाता था। गुलाल उसे कामचोर समझकर उसके ऊपर खूब डाट-डपट रखता था, पीटने में भी कसर नहीं करता था, यहाँ तक कि एक बार तो उसने उसे लात भी चखा दी। परंतु धीरे धीरे गुलाल को अपनी भूल मालूम होने लगी। अब उसे अनुभव हो गया कि बुल्ला एक साधारण हरवाहा नहीं है, बल्कि पहुँचा हुआ साधु है तब वह उसका शिष्य बन गया। बुल्ला और गुलाल दोनों ने अपने हृदय के भावों को सीधे सादे अनलंकृत पद्यों में प्रकट किया है। दोनों का निवासस्थान भरकुड़ा गाँव था, जो जिला गाजीपुर में है। अवस्था में दोनों प्रायः एक समान रहे होंगे और केशवदास के समकालीन। प्रसिद्ध संत पलटू और उनके सम-सामयिक भीखा भी यारी की ही शिष्यपरंपरा में थे; क्योंकि वे गुलाल के शिष्य गोविंद के शिष्य थे।

दोनों जगजीवनदास और उनके चलाए हुए दोनों सत्तनामी संप्रदायों में कुछ अंतर समझना चाहिए। पहले जगजीवनदास का दादूदयाल के साथ उल्लेख हो चुका है। वह दादूदयाल का शिष्य था। पिछले सत्तनामी संप्रदाय के संस्थापक को जगजीवनदास द्वितीय कहना चाहिए।

१०. जगजीवनदास द्वितीय

यह जाति का क्षत्रिय था। जब वह दो ही वर्ष का रहा होगा, तभी औरङ्गजेब ने पहले सत्तनामी संप्रदाय को ध्वंस कर डाला था। जगजीवन का पिता किसान था। एक दिन जब जग्गा गोरू चरा रहा था तो बुल्ला और गोविंद दो साधु उस रास्ते से आए। उन्होंने जग्गा से तंबाकू पीने के लिये आग मँगवाई। जग्गा गाँव

से आग तो लाया ही, साथ ही उनको पिलाने के लिये दूध भी ले आया। थोड़ी ही देर के सत्संग से वह साधुओं को बहुत प्रिय हो गया और उसके हृदय में भी वैराग्य जाग गया। परंतु साधुओं ने उसे इस छोटी उमर में शिष्य बनाना स्वीकार नहीं किया; किंतु अपने सत्संग और स्नेह की स्मृति के रूप में उन्होंने उसे एक एक धागा दे दिया, एक ने काला और दूसरे ने सफेद। जगजीवन के अनुयायी इस घटना की स्मृति में अपने दाहिने हाथ की कलाई पर एक काला और एक सफेद धागा बाँधते हैं जो 'आँदु' कहलाता है। भीखापंथी इन्हें गुलाल साहब की परंपरा में मानते हैं परंतु अपने संप्रदाय में ये विश्वेश्वर पुरी के चेले माने जाते हैं इन्होंने शुद्ध अवधी में रचना की। इनकी **शब्दावली** प्रकाशित हो चुकी है। **ज्ञानप्रकाश, महाप्रलय** और **प्रथम ग्रंथ** भी इनकी रचनाएँ हैं, जो अब तक प्रकाश में नहीं आई हैं। इनके चलाए सत्तनामी संप्रदाय पर जनसाधारण के धर्म का विशेष प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव उनके शिष्य दूलमदास में अधिकता से दिखाई पड़ता है। दूलमदास ने हनुमान्‌जी, गंगा और देवी भगवती की प्रार्थना गाई है। दूलमदासजी की **बानी** भी प्रकाश में आ चुकी है। उनकी कविता में शक्ति और प्रवाह दोनों विद्यमान हैं।

पलटूदास जाति के काँदू बनिया थे। इनका जन्म फैजाबाद जिले के नागपुर (जलालपुर) में हुआ था। वे अयोध्या में रहते थे। इन्होंने गुलाल के शिष्य गोविंद से दीक्षा ली थी। **भजनावली** में इनका परिचय इस प्रकार दिया गया है—

११. पलटूदास

> नँगा जलालपुर जन्म भयो है, बसे अवध के खोर।
> कहै पलटू प्रसाद हो, भयो जक में सोर॥
> चारि बरन को मेटिके, भक्ति चलाई मूल।

गुरु गोविंद के बाग में, पलटू फूले फूल ॥
सहर जलालपुर मूँड़ मुँड़ाया, अवध तुड़ाकर धनियाँ।
सहज करें व्यापार घट में, पलटू निरगुन बनियाँ ॥

भजनावली इनके भाई पलटूप्रसाद की बनाई कही जाती है; लेकिन पलटूप्रसाद खुद इन्हीं का नाम भी हो सकता है।

इनका अखाड़ा अयोध्या से चार-पाँच मील की दूरी पर है। मूर्त्तिपूजा और जाति-पाँति के तीव्र खंडन से अयोध्या के वैरागी इनसे बहुत चिढ़ गए थे। इसी लिये इन्होंने इन्हें जाति से बाहर कर दिया था। किंतु पलटू ने इसकी कोई परवा न की—

वैरागी सब बदुरके पलटुहिं कियो अजात।...
लोक-लाज कुल छाँड़ि के, कर लीजे अपना काम।
जगत हँसी तो हँसन दे, पलटू हँसै न राम ॥

इन्होंने **रामकुंडलिया** और **आत्मकर्म** ये दो ग्रंथ लिखे हैं। इनकी सब रचनाएँ तीन भागों में वेलवेडियर प्रेस से छप चुकी हैं। इनके अरिल्ल और कुंडलिया बहुत सुंदर बने हैं। ये अवध के नवाब शुजाउद्दौला के समकालीन थे और सं० १८२७ के आस पास वर्तमान थे।

१२. धरनीदास

धरनीदास विहार के रहनेवाले एक कायस्थ मुंशी थे। संसार से इनका जी इतना उचटा हुआ था कि परमात्मा के साक्षात्कार में बाधक समझकर इन्होंने मुंशीगिरी छोड़ दी और ये भगवान् के प्रेम में तन्मय होकर निःस्वार्थ जीवन व्यतीत करने लगे। यह तन्मयता इनके ग्रंथ **प्रेमप्रकाश** और **सत्यप्रकाश** से स्पष्ट परिलक्षित होती है। देश के विभिन्न भागों में और खासकर विहार में अभी सहस्रों धरनीदासी हैं। इनके संप्रदाय का प्रधान स्थान छपरे जिले का माझी गाँव है। सं० १७१३ में इनका जन्म हुआ था। ये बड़े करामाती प्रसिद्ध हैं। कहते हैं

कि एक बार ये अचानक और अकारण अपने पाँव पर पानी डालने लगे। बहुत पूछने पर इन्होंने बतलाया कि जगन्नाथजी के पंडे का पाँव जल गया है उसी को पानी डालकर बुझा रहा हूँ। जाँच करने पर बात सही मालूम हुई।

संवत् १७२७ और १८३७ के बीच दरिया नाम के दो संत हो गए हैं। दोनों मुसलमान कुल में पैदा हुए थे। इनमें एक का जन्म बिहार में, आरा जिले के धारखंड नामक गाँव में हुआ और दूसरे का मारवाड़ के जैतराम नामक गाँव में। बिहारी दरिया दरजी था और मारवाड़ी धुनिया। बिहारी दरिया के पंथ में प्रार्थना का जो ढंग प्रचलित है वह मुसलमानी नमाज से बिलकुल मिलता-जुलता है। 'कोर्निश' और 'सिज्दः' ये उसके दो भाग हैं। सीधे खड़े होकर नीचे झुकना कोर्निश और माथे को जमीन से लगाना सिज्दः कहलाता है। यह दरिया कबीर के अवतार माने जाते हैं। कहते हैं कि इन्हें स्वयं परमात्मा ने दीक्षा दी थी। इनका लिखा **दरियासागर** छप चुका है।

१३. दरिया-द्वय

मारवाड़ी दरिया सात ही वर्ष की अवस्था में पितृविहीन हो गए थे। रैना, मेड़ता में इनके नाना ने इनका पालन-पोषण किया। इनके गुरु बीकानेर के कोई प्रेमजी थे। कहा जाता है कि अपनी चमत्कारिणी शक्ति से इन्होंने एक दूत भेजकर ही महाराज बख्तसिंह को एक बड़े भयंकर रोग से मुक्त कर दिया। इनकी भी **बानी** प्रकाश मे आ चुकी है।

बुल्लेशाह एक सूफी संत थे। कहा जाता है कि इनका जन्म सं० १७६० के लगभग रूम देश में हुआ था[1]। जान पड़ता है कि पारिवारिक विपत्ति ने इन्हें बहुत छोटी अवस्था में रमते फकीरों की संगति में डाल दिया

१४. बुल्लेशाह

(१) संतबानी-संग्रह, भाग १, पृ० १२१।

था जिनके साथ दस वर्ष की अवस्था में ही ये पंजाब आ गए। इनके गुरु का नाम शाह इनायत बतलाया जाता है। ये परंपरागत धर्म को नहीं मानते थे। कुरान और शरअ का इन्होंने खुल्लम-खुल्ला खंडन किया। इसी से मुल्लाओं और मौलवियों से इनकी कभी नहीं पटी। इन्होंने सीधी-सादी पंजाबी में कविता की है। अपने क्रांतिकारी भावों को इन्होंने अपनी रचनाओं में बड़े धड़ाके से पेश किया है। कबीर के भावों को इन्होंने बहुत अपनाया है। ये जन्म भर ब्रह्मचारी रहे। इनका आश्रम जिला लाहौर के कसूर गाँव में था। वहीं लगभग पचास वर्ष की अवस्था में, सं० १८१० में, इनका देहांत हुआ। इनकी गद्दी और समाधि भी वहीं है[1]।

१५. चरनदास

चरनदास धूसर बनिया थे। इनका जन्म अलवर (राजपूताना) के डेहरा नामक स्थान में सं० १७६० के लगभग हुआ था[1]। कहते हैं कि डेहरा में, जहाँ इनकी नाल गाड़ी गई थी वहाँ पर, एक छतरी बनी हुई है। यहाँ इनकी टोपी और सुमिरनी भी सुरक्षित बतलाई जाती हैं। इनके पिता का नाम मुरलीधर और माता का कुंजो था। इनका घर का नाम रनजीत था। सात ही वर्ष की अवस्था में ये घर से भाग निकले थे और अपने नाना के यहाँ दिल्ली चले आए। वहीं इनका लालन-पालन हुआ। कहते हैं कि वहीं इनको उन्नीस वर्ष की अवस्था में पारमात्मिक ज्योति का दर्शन हुआ। इन्होंने अपने गुरु का नाम श्रीशुकदेव बताया है। कहते हैं कि ये शुकदेव मुनि मुजफ्फरनगर के पास शुक्रताल गाँव के निवासी एक

(1) बानी (संतबानी सीरीज), भूमिका, पंडित महेशदत्त शुक्ल ने अपने 'भाषा काव्यसंग्रह' (नवलकिशोर प्रेस, सं० १९३०) में इन्हें पंडितपुर जिला फैजाबाद का निवासी बताया है। निधन संवत् १८३७ लिखा है।—राधाकृष्णग्रंथावली, भाग १, पृ० १००

साधु थे[1]। परंतु जान पड़ता है कि चरनदास उन्हें **श्रीमद्भागवत** के प्रसिद्ध शुकदेव ही समझते थे, जिनको माता के गर्भ में ही ज्ञान हो जाने की बात कही जाती है और जो अमर माने जाते हैं। जान पड़ता है कि इनके ज्ञान-चक्षु **भागवत** पुराण के ही अध्ययन से खुले थे। इस पुराण की समस्त कथा को शुकदेवजी ने राजा परीक्षित को पापों से मुक्त करने के उद्देश्य से कहा था। यदि **भागवत** का भली भाँति अध्ययन किया जाय तो पता लगेगा कि रहस्य-भावना से ओत-प्रोत होने के कारण वह संत साहित्य का सब से महत्त्वशाली महाकाव्य है, जिसमें कथानक के बहाने प्रेम को प्रतीक बनाकर ज्ञान की शिक्षा दी गई है। चरनदासियों के लिये **भागवत** का नायक श्रीकृष्ण समस्त कारणों का कारण है। **गीता** के भावों को उन्होंने स्वच्छंदता से अपनाया है और स्थान स्थान पर साहस के साथ उससे उद्धरण भी लिए हैं—साहस इसलिये कहते हैं कि निर्गुणी संतों ने प्राचीन ग्रंथों से अकारण घृणा प्रदर्शित की है; परंतु चरनदासियों में प्रेमानुभूति की यही विशेषता भी है जिसके कारण हम उन्हें निर्गुण संत-संप्रदाय से अलग नहीं कर सकते। चरनदास के **ज्ञानस्वरोदय** और **बानी** प्रकाश में आए हैं।

ज्ञानस्वरोदय योग का ग्रंथ है और **बानी** में संतमतानुकूल आध्यात्मिक जीवन के विभिन्न अंगों पर उपदेशात्मक विचार तथा स्वतंत्र उद्गार हैं। चरनदास की मृत्यु सं० १८३९ के लगभग दिल्ली में ही हुई जहाँ उनकी समाधि और मंदिर अब तक हैं। मंदिर में उनके चरणचिह्न बने हुए हैं। वसंतपंचमी को वहाँ एक मेला लगता है। चरनदास के बहुत शिष्य थे जिनमें से बावन शिष्यों ने अलग अलग स्थानों पर चरनदासी मत की शाखाएँ

(१) संतबानी-संग्रह, भाग १, १४२ साखी ४, ८, ६।

स्थापित की जो आज भी वर्तमान हैं। चरनदास की सहजोबाई और दयाबाई नाम की दो शिष्याएँ भी थीं जो स्वयं उसकी चचेरी बहनें थीं। उन्होंने भी अच्छी कविता की है। सहजोबाई ने **सहजप्रकाश** लिखा और दयाबाई ने **दयाबोध**।

१६. शिवनारायण

शिवनारायण ग़ाज़ीपुर ज़िले में चंदवन गाँव के रहनेवाले क्षत्रिय थे। वे बादशाह मुहम्मदशाह (सं० १७९१ में वर्तमान) के समकालीन थे। सैनिकों के ऊपर उनका बड़ा प्रभाव था। उनके अनुयायी प्रायः सभी राजपूत सैनिक थे। उनके मत में जाति-पाँति का कोई भेद नहीं माना जाता था। अब तो यह संप्रदाय प्रायः समाप्त हो चुका है और शिवनारायण के उत्तराधिकारियों को छोड़कर कुछ थोड़े से नीच जाति के लोग ही उसके माननेवालों में रह गए हैं। शिवनारायण की समाधि बिलसंडा में है। उनके ग्रंथों में **लवग्रंथ, संतविलास, भजनग्रंथ, शांतसुंदर, गुरुन्यास, संतअचारी, संतउपदेश, शब्दावली, संतपरवन, संतमहिमा, संतसागर** के नामों का उल्लेख होता है। उनका एक और मुख्य ग्रंथ है जो गुप्त माना जाता है। सिखों की भाँति शिवनारायणी भी पुस्तक की पूजा करते हैं। नवीन सदस्यों को संप्रदाय में दीक्षित करने के लिये एक छोटा सा उत्सव होता है जिसमें लोग मूल-ग्रंथ के चारों ओर पूर्ण रूप से मौन होकर वृत्ताकार बैठ जाते हैं। और पुस्तक में का कोई एक भजन गाकर पान, मेवा, मिठाई वितरण के बाद उत्सव समाप्त कर दिया जाता है।

१७. गरीबदास

गरीबदास कबीर के सबसे बड़े भक्त हो गए हैं। ये जाति के जाट और पंजाब के रोहतक जिले के छुड़ानी गाँव के रहनेवाले थे। इन्होंने **हिरंबरबोध** नामक एक बृहत् ग्रंथ की रचना की जिसमें सत्रह हजार पद्य बतलाए

जाते हैं। इनमें से सात हजार कबीर साहब के कहे जाते हैं। परंतु इनका यह ग्रंथ अभी प्रकाशित नहीं हुआ है, उसका केवल एक बहुत संक्षिप्त संकलित संस्करण, संतबानी पुस्तकमाला में, प्रकाशित हुआ है। इधर-उधर साधु-संतों की रचनाओं में उसमें से और भी अवतरण मिल जाते हैं। संतबानी-संपादक के अनुसार इनका समय संवत् १७७४ से १८३५ तक है। इनका दावा है कि स्वयं कबीर साहब ने मुझे संत-मत में दीक्षित किया है।

१८. तुलसी साहब

संतबानी माला के संपादक ने तुलसी साहब की एक जीवनी के आधार पर कहा है कि वे रघुनाथराव के जेठे लड़के और बाजीराव द्वितीय के बड़े भाई थे। संसार में मिथ्या के भार का वहन उन्हें अभीष्ट नहीं था। इसलिये राज-सिंहासन को अपने छोटे भाई के लिये छोड़कर वे आध्यात्मिक राज्य को अधिकृत करने के लिये घर से निकल पड़े। रमते-रमाते अंत में ये हाथरस में बस गए। जब अँगरेजों के कारण बाजीराव द्वितीय बिठूर में आकर बस गए तब, कहते हैं कि, तुलसी साहब एक बार उनसे मिले थे। इनका घर का नाम श्यामराव बतलाया जाता है, परंतु इतिहास रघुनाथराव के सबसे ज्येष्ठ पुत्र को अमृतराव के नाम से पहिचानता है। परंतु हो सकता है कि उसके दो नाम रहे हों।

तुलसी साहब अक्खड़ स्वभाव के आदमी थे, पर थे पहुँचे हुए संत। कहते हैं, एक बार उनके एक धनी श्रद्धालु ने अपने घर में उनकी बड़ी आव-भगत की। भोजन करते समय उसने उनके सामने संतान के अभाव का दुखड़ा गाया और पुत्र के लिये वरदान माँगा। तुलसी साहब बिगड़कर बोले कि "तुम्हें यदि पुत्र की चाह है तो अपने सगुण परमात्मा से माँगो। मेरे भक्त के यदि कोई बच्चा हो तो मैं तो उसे भी ले लूँ।" और यह कहकर बिना भोजन समाप्त किए चल दिए।

निर्गुण संप्रदाय में, समय की प्रगति के साथ, जो बाहरी प्रभाव आ गए थे उनसे उसे मुक्त करने का भी उन्होंने प्रयत्न किया। निर्गुण पंथ के अनुयायियों को उन्होंने समझाया कि एक संप्रदाय के रूप में उसका प्रवर्तन नहीं किया गया था। उस समय तक निर्गुण पंथ के आधार पर कई संप्रदाय उठ खड़े हुए थे जो सिद्धांत रूप में कर्मकांड के विरोधी होने पर भी स्वतः कर्मकांड के पाखंड से भर गए थे। तुलसी साहब ने समझाया कि निर्गुण पंथ किसी संप्रदाय के रूप में नहीं चलाया गया था। नाम-भेद से निर्गुण पंथ में अंतर नहीं पड़ सकता। अलग अलग नाम होने पर भी सब पंथ सार रूप में एक हैं।

जान पड़ता है कि उनका प्रायः सब धर्म के प्रतिनिधियों से वाद-विवाद हुआ था, जिसमें अंत में सबने उनके सिद्धांतों की सत्यता स्वीकार की। तुलसी साहब ने स्वयं अपनी घटरामायण में उनका उल्लेख किया है। यदि ये वाद-विवाद कल्पना मात्र भी हों, और यही अधिक संभव है, तो भी उनका महत्त्व कम नहीं हो सकता। उनसे कम से कम यह तो पता चलता है कि तुलसी साहब का उद्देश्य क्या था। परंतु उनके सिद्धांतों का गांभीर्य उनके ओछे श्लेषों तथा व्यर्थ के आडंबर के कारण बहुत कुछ घट जाता है। उन्होंने बहुधा विलक्षण नामों की तालिका देकर लोगों को स्तंभित करने का यत्न किया है। उनकी दीनता में भी बनावट और आडंबर स्पष्ट झलकता है।

इनके पंथ में इनकी आयु तीन सौ वर्ष की मानी जाती है। कहते हैं कि ये वही तुलसीदास हैं जिन्होंने **रामचरितमानस** की रचना की थी। घटरामायण में उनके किसी आडंबर-प्रिय शिष्य ने इस बात की पुष्टि के लिये एक क्षेपक जोड़ दिया है। उसके अनुसार घटरामायण की रचना **रामचरितमानस** से

पहले हो चुकी थी परंतु जनता उसके लिये तैयार नहीं थी। इसलिये उसके विरुद्ध आंदोलन उठता हुआ देखकर उन्होंने उसे दबा दिया और सगुण **रामायण** लिखकर प्रकाशित की। इस क्षेपक-कार को इस बात का ज्ञान था कि उसके जाल की ऐतिहासिक जाँच होगी। उसने तुलसी साहब से पलकराम नानकपंथी के साथ नानक के समय का, ऐतिहासिक ढंग से, विवेचन कराया है और इसका भी प्रयत्न किया है कि मेरी गढ़ंत भी ऐतिहासिक जाँच में ठीक उतर जाय। किंतु उसे इस बात का ध्यान न हुआ कि मैं अपने गुरु की प्रशंसा करने के बदले निंदा कर रहा हूँ। तुलसी साहब सरीखे मनुष्य को भी उसने ऐसे निर्बल चरित्रवाला बना दिया है जिसने लोक में अप्रिय होने के डर से सत्य को छिपा दिया और ऐसी बातों का प्रचार किया जिन पर उसको स्वयं विश्वास न था। वह इस बात को भी भूल गया कि स्वयं **घटरामायण** ही में अन्यत्र तुलसी साहब ने स्पष्ट शब्दों में सगुण **रामायण** का रचयिता होना अस्वीकार किया है[1]। इसके अतिरिक्त इस क्षेपक-कार ने एक ऐसा घोर अपराध किया है जिसका मार्जन नहीं। उसने **रामचरितमानस** को, जिसने समस्त मानव जाति के हृदय में अपने लिये जगह कर ली है, एक धोखे की कृति बना दिया है। तुलसीदास के साथ उनके नाम-सादृश्य से ही उनको अपनी पुस्तक का नाम घटरामायण रखने की सूझी होगी परंतु इससे आगे बढ़कर वे लोगों को यह धोखा नहीं देना चाहते थे कि **मानस** भी मेरी ही रचना है। उसका तो बल्कि उन्होंने खंडन किया है।

घटरामायण के अतिरिक्त तुलसी साहब ने **शब्दावली**, **पद्मसागर** और **रत्नसागर** इन तीन ग्रंथों की रचना की।

---

(१) राम रावन जुद्ध लड़ाई। सो मैं नहिं कीन बनाई।

—'घटरामायण', भाग २, पृ० १२१।

शिवदयालजी का जन्म सं० १८८५ में आगरे के एक महाजन कुल में हुआ था। इनके संबंध में कहा जाता है कि ये बाल्यकाल

१६. (स्वामीजी महाराज) शिवदयालजी

से ही मननशील और आध्यात्मिक प्रवृत्ति के थे। कई दिन तक ये एकांत में ध्यानमग्न रहा करते थे। इनसे जो संप्रदाय चला वह राधास्वामी मत कहलाता है। अपने संप्रदाय में ये स्वामीजी महाराज कहलाते हैं और सर्व-शक्तिमान् राधास्वामी के अवतार समझे जाते हैं। यद्यपि कहा जाता है कि इन्होंने किसी गुरु से दीक्षा नहीं ली फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि उनके ऊपर तुलसी साहब का पूर्ण प्रभाव पड़ा था। कहते हैं कि उनके जन्म के पहले ही तुलसी साहब ने उनके अवतार की भविष्यवाणी कर दी थी। तुलसी साहब की मृत्यु के उपरांत उनके प्रायः सब शिष्य शिवदयालजी के पास खिंच आए। राधास्वामी संप्रदाय की प्रमुख शाखाएँ आजकल आगरा, इलाहाबाद और काशी आदि स्थानों में हैं। संप्रदाय बहुत सुंदर रूप से गठित है और बड़े उपयोगी कार्य कर रहा है। दयालबाग़ आगरे में उनका विद्यालय एक अत्यंत उपयोगी संस्था है जो सांप्रदायिक ही नहीं राष्ट्रीय दृष्टि से भी महत्त्व पूर्ण है। स्वामीजी महाराज के शिष्य रायबहादुर शालिग्राम ने, जो इलाहाबाद में पोस्ट मास्टर-जनरल थे और संप्रदाय में हुजूर साहब के नाम से प्रसिद्ध हैं, संप्रदाय को दृढ़ भित्ति पर रखने के लिये बहुत काम किया। परंतु इस मत के सबसे बड़े व्याख्याता पं० ब्रह्मशंकर मिश्र (महाराज साहब) हुए हैं जिन्होंने अँगरेज़ी में **ए डिस्कोर्स ऑन राधास्वामी फ़ेथ** नामक ग्रंथ लिखा है। हुजूर साहब ने भी अँगरेजी में **राधास्वामी मत-प्रकाश** नामक पुस्तक लिखी। स्वामीजी महाराज की प्रधान पद्य-रचना **सारवचन** है। इसका गद्य सार भी मिलता है। हुजूर साहब का प्रधान ग्रंथ **प्रेमबानी** है। **जुगत प्रकाश** नामक उनका एक गद्य ग्रंथ भी है।

तीसरा अध्याय

निर्गुण संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत

जिन परिस्थितियों ने इस नवीन निर्गुण पंथ को जन्म दिया था, एकेश्वरवाद उनकी सबसे बड़ी आवश्यकता थी। वेदांत के अद्वैतवादी सिद्धांतों को मानने पर भी हिंदू बहु-देव-वाद में बुरी तरह फँसे हुए थे, जिससे वे एक अल्लाह को माननेवाले मुसलमानों की घृणा के भाजन हो रहे थे। एक अल्लाह को माननेवाले मुसलमान भी स्वयं एक प्रकार से बहु-देव-वादी हो रहे थे, क्योंकि काफिरों के लिये वे अपने अल्लाह की संरक्षा का विस्तार नहीं देख सकते थे, जिससे प्रकारांतर से काफिर का परमेश्वर अल्लाह से अलग सिद्ध हुआ। अतएव निर्गुणवादियों ने हिंदू और मुसलमान दोनों को एकेश्वरवाद का संदेश सुनाया[1] और बहु-देव-वाद का घोर विरोध किया। चरनदास चाहते हैं कि सिर टूटकर पृथ्वी पर भले ही लोटने लगे, मृत्यु भले ही आ उपस्थित हो, परंतु राम के सिवा किसी अन्य

१. एकेश्वर

---

(१) एक एक जिनि जांणियाँ, तिनहीं सच पाया।
प्रेम प्रीति ल्यौलीन मन, ते बहुरि न आया॥
—क० ग्रं०, पृ० १४६, १८१।

केवल नाम जपहु रे प्रानी परहु एक की सरना।
—वही, पृ० २९८, ११४।

और देवी देवता उपासना अनेक करै
आँवन की हौस कैसे, आकडोड़े जात है।
सुंदर कहत एक रवि के प्रकास बिन
जेंगना की जोति, कहा रजनी बिलात है?
—सं० बा० सं०, भाग २, पृ० १२३।

देवता के लिये मेरा सिर न झुके[1]। निर्गुणी एकेश्वर के भक्त को आलंकारिक भाषा में पतिव्रता नारी कहते हैं। कबीर की दृष्टि में बहु-देव-वादी उस व्यभिचारिणी स्त्री के समान है जो अपने पति को छोड़कर जारों पर आसक्त रहती है[2]; अथवा उस गणिका-पुत्र के समान जो इस बात को नहीं जानता कि उसका वास्तविक पिता कौन है[3]। नानक जिस समय—१ ॐ[4] सतिनामु करता पुरख निरभौ निरवैर अकालमूरति अजूनि सैभं (गुरु प्रसादि) की भक्ति का प्रचार कर रहे थे उस समय उनका प्रधान लक्ष्य बहु-देव-वाद का खंडन ही था। हिंदुओं को संबोधित कर कबीर ने कहा था—

एक जनम के कारणे कत पूजो देव सहेसो[5] रे।
काहे न पूजो रामजी जाके भक्त महेसो रे[6] ॥

---

(१) यह सिर नवे त राम कूँ, नाहीं गिरियो टूट।
आन देव नहिं परसिए, यह तन जावो छूट ॥
—मे० बा० सं० १, पृ० १४७।

(२) नारि कहावे पीव की, रहे और सँग सोय।
जार सदा मन में बसे, खसम खुसी क्यों होय ॥
—वही, पृ० १८।

(३) राम पियारा छाड़ि कर, करै आन को जाप।
वेस्या केरा पूत ज्यूँ, कहै कौन सूँ बाप ॥
—क० ग्रं०, पृ० ६, २१।

(४) ॐ के प्लुत होने से कभी कभी 'ओ३म्' इस तरह भी लिखा जाता है। इस तीन के अंक को कोई इस बात का सूचक भी मानते हैं कि ॐ अ+उ+म्—इन तीन अक्षरों के योग से बना है। इन बातों से कोई यह न समझ बैठे कि प्रणव का त्रिविध स्वरूप है अथवा यह संकेत हो सकता है, इस भय से नानक ने 'ओ ३ म्' की जगह '१ ॐ' कर दिया है।

(५) सहेसो=सहस्रों।

(६) क० ग्रं०, पृ० १२५, १२७।

मुसलमानों को

दुइ जगदीस कहाँ ते आए कहु कौने भरमाया।
अल्ला, राम, करीमा, केसो, हरि हजरत नाम धराया॥
गहना एक कनक ते गहना तामें भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ करि थापे, एक नमाज एक पूजा[1]॥

तथा दोनों को

कहै कबीर एक राम जपहु रे हिंदू तुरक न कोई[2]॥
हिंदू तुरक का कर्ता एकै ता गति लखी न जाई[3]॥

निर्गुण संतों ने बार बार इस बात पर जोर दिया है कि जगत का कर्ता-धर्ता एक ही परमात्मा है जिसको हिंदू और मुसलमान दोनों सिर नवाते हैं।

यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि हिंदू बहुदेववाद वैसा नहीं है जैसा बाहर बाहर देखने से प्रकट हो सकता है। हिंदुओं के प्रत्येक देवता का द्वैध रूप है—एक व्यावहारिक और दूसरा पारमार्थिक अथवा तात्त्विक। व्यावहारिक रूप में वह परब्रह्म परमात्मा के किसी पक्षविशेष का प्रतिनिधि है जिसके द्वारा याचक भक्त अपनी याचना की पूर्ति की आशा करता है। ब्रह्मा विश्व का सृजन करता है, विष्णु पालन और रुद्र उसका उद्देश्य पूर्ण हो जाने पर संहार; लक्ष्मी धनधान्य की अधिष्ठात्री है, सरस्वती विद्या की, चंडी वह प्रचंड दिव्य शक्ति है जो अत्याचारी राक्षसों का विध्वंस करती है और युद्ध-यात्रा में जाने के पहले जिसका आवाहन किया जाता है इत्यादि। परंतु *परमार्थरूप में प्रत्येक देवता पूर्ण परब्रह्म* परमात्मा है और व्यावहारिक पक्ष में अन्य सब देवता उसके

(१) क० ग्र०, ४, पृ० ७५।
(२) क० ग्रं०, पृ० १०६, २७।
(३) वही, १०६, २८।

अधीनस्थ हैं। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर मैक्समूलर ने भारतीय देववाद को **पैलीथीज्म** (बहुदेववाद) न कहकर **हीनोथीज्म** कहा है। हिंदू पूजा-विधान (यहाँ पर मेरा अभिप्राय दर्शन से नहीं कर्मकांड से है) को चाहे कोई किसी नाम से पुकारे उसके मूल में निश्चय ही एकेश्वर-भावना है। वैदिक काल के ऋषि भी जिन प्राकृतिक शक्तियों के विभव का गान किया करते थे, उनमें एक परमात्मा का दर्शन करते थे, उन्होंने घोषणा की कि बुद्धिमान् लोग एक ही सत्तत्त्व को अग्नि, इंद्र (जल का स्वामी), मातरिश्वान (वायु का अधिपति) आदि नामों से पुकारते हैं[1]। अतएव जो अलग अलग देवता समझे जाते हैं, वे वस्तुतः अलग देवता न होकर एक ही परमात्मा के अलग अलग रूप हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर स्पेन-निवासी अरब-वंशी काजी साईद ने, जिसकी मृत्यु सं० ११२७ में हुई थी, लिखा था कि "हिंदुओं का ईश्वरीय ज्ञान ईश्वर की एकता के सिद्धांत से पवित्र है[2]।" डाक्टर ग्रियर्सन को भी यह बात माननी पड़ी है कि हिंदुओं की मूर्तिपूजा और बहुदेववाद हिंदू धर्म के गहन सिद्धांतों के बाहरी आवरण मात्र हैं[3]। यदि हिंदू पूजा-विधान के इस मूल तत्त्व की अवहेलना न की गई होती तो कबीर उसका विरोध न करते। क्योंकि वे जानते थे कि एक परमात्मा के अनेक नाम रख देने से वह एक अनेक नहीं हो जाता। उन्होंने स्वयं ही कहा था "अपरंपार का नाउँ अनंत[4]।" परंतु तथ्य तो यह है कि जिस समय पश्चिमोत्तर के द्वार से देश में

---

(१) एकं सद्विप्रा बहुधा वदंत्यग्निमिन्द्रं मातरिश्वानमाहुः।

—ऋक् २, ३, २२, ६।

(२) तबकातुल उमम (बेरूत संस्करण), पृ० १२। अरब और भारत के संबंध, पृ० १०४।

(३) क० ग्रं०, प्रस्तावना, पृ० १६।

(४) क० ग्रं०, पृ० १६८, ६२०।

मुसलमानों की सैन्य-धारा निरंतर उमड़ी चली आ रही थी उस समय उन्होंने हिंदुओं को घोर बहुदेववादी पाया जो हिंदुओं को उनकी घृणा का भाजन बनाने का एक कारण हुआ। परंतु अल्लाह के इन प्यारों को स्वप्न में भी विचार न हुआ कि जिस बहुदेववाद से हम इतनी घृणा कर रहे हैं, हमारा मूर्ति-भंजक एकेश्वरवाद उससे भिन्न कोटि का नहीं है। विश्व का कर्ता-धर्ता चाहे एक देवता हो अथवा अनेक, इससे परिस्थिति में कोई विशेष अंतर नहीं आता। सामी एकेश्वरवाद और विकृत हिंदू बहुदेववाद एक ही देववाद के दो विभिन्न रूप हैं। किंतु निर्गुण संतों ने परमात्मा संबंधी जिस विचार-शृंखला का प्रसार किया वह इनसे तत्त्वतः भिन्न थी। उसका मूर्ति-पूजा का विरोधी होना, इस बात का प्रमाण नहीं कि वह और मुसलमानी एकेश्वरवाद एक ही कोटि के हैं। दोनों में आकाश-पाताल का अंतर है।

मुसलमानों के ईश्वर-संबंधी विश्वास का निचोड़

ला इलाहे इल्लिल्लाह मुहम्मदरंसूलिल्लाह

में आ जाता है, जो कुरान के दो सूरों के अंशों के मेल से बना है। इसका अर्थ है, अल्लाह का कोई अल्लाह नहीं, वह एक मात्र परमेश्वर है और मुहम्मद उसका रसूल अर्थात् पैग़ंबर या दूत है। इस पर टिप्पणी करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार गिबन ने कहा था कि जिस धर्म का मुहम्मद ने अपने कुल और राष्ट्र के लोगों में प्रचार किया था वह एक सनातन सत्य और एक आवश्यक कल्पना (ऐन एटर्नल ट्रूथ ऐंड ए नेसेसरी फिक्शन) के योग से बना है[1]। निर्गुण पंथ के प्रवर्तक कबीर ने इस कल्पना का तो सर्वथा निराकरण कर दिया और वह सत्य के मार्ग पर बहुत आगे बढ़ गया।

---

(१) रोमन इपायर, भाग ६, पृ० २२२

मुहम्मद के दूतत्व को तो उसने अस्वीकार कर दिया और ईश्वर-संबंधी विचार को और भी महान्, सूक्ष्म और आकर्षक बना दिया।

इस्लाम और निर्गुण पंथ दोनों परमेश्वर को एक मानते हैं। परंतु दोनों के एक मानने में अंतर है। इस्लाम की अल्लाह-भावना में अल्लाह एकाधिपति शाहंशाह के समान है जिसके ऊपर कोई शासनकर्ता नहीं, जिसकी शक्ति अनंत और अपरिमित है। हाँ, वह परम बुद्धिमान् और न्यायकर्त्ता है। उससे कोई बात छिपी नहीं रह सकती। हर एक आदमी के किए हुए छोटे से छोटे पाप और पुण्य का उसके यहाँ हिसाब रहता है। श्रद्धालु धर्मनिष्ठों को वह मुक्तहस्त होकर पुरस्कार वितरित करता है किंतु अविश्वासी पापिष्ठ उसकी निगाह से बच नहीं सकता, उसे अवश्य दंड मिलता है। क्योंकि जैसा **कुरान** कहती है, "जिधर ही मुड़ो उधर ही अल्लाह का मुख है"[1]।

यह बात नहीं कि इस्लाम में अल्लाह दयालु न माना गया हो। **कुरान** का प्रत्येक सूरा अल्लाह की दयालुता का उल्लेख करते हुए आरंभ होता है। मुहम्मद के अनुसार परमेश्वर क्षमाशील है। पक्षिणी का जितना गाढ़ा प्रेम अपने बच्चे पर होता है, उससे अधिक अल्लाह का आदमी पर। किंतु इतना होने पर भी **कुरान** में का अल्लाह 'भय बिनु होय न प्रीति' की नीति को बरतता है। वह प्रेम का परमात्मा होने के बदले भय का भगवान् है। उसकी अनुकंपा और दयालुता उसकी अनंत शक्ति के ही परिचायक हैं। वह घोर दंड भी दे सकता है तो असीम अनुग्रह भी दिखा सकता है। "इस्लाम में प्रेरक भाव परमात्मा का प्रेम

---

(१) २, १०६।

नहीं अल्लाह का भय है।" प्रेम से प्रभावित होना सामी जाति का स्वभाव नहीं है, उनके ऊपर केवल भय का असर पड़ सकता था[१]।

परमेश्वर की इस अनंत शक्ति को निर्गुण पंथी अस्वीकार नहीं करते। परंतु उनके लिये परमेश्वर के स्वरूप का यह केवल एक गौण लक्षण है। परमेश्वर इस विश्व का कर्ता-धर्ता, नियंता, शासक और अधिपति ही नहीं बल्कि व्यापक तत्त्व भी है। वह घट घट में, कण कण में, अणु-परमाणु में व्याप्त है और वही हममें सार वस्तु है। परमेश्वर परमेश्वर ही नहीं परमात्मा भी है। वह हमारे आत्मा का आत्मा है। मुसलमानी विश्वास और निर्गुण पंथी अनुभूति में जो अंतर है, उसे कबीर ने संक्षेप में इस तरह व्यक्त किया है—

मुसलमान का एक खुदाई। कबीर का स्वामी रह्या समाई[२]॥

दादू ने वेदांत के सर्वप्रिय दृष्टांत का आसरा लेकर कहा, दूध में घी की तरह परमात्मा विश्व में सर्वत्र व्याप्त है[३]। नानक ने परमात्मा के सम्मुख निवेदन किया—

"जेते जीअ जंत जलि थलि माहीं
अली जत्र कत्र तू सरब जीआ।
गुरु परसादि राखिले जन कउ
हरिरस नानक झोलि पीआ[४]॥"

---

(१) डिक्शनरी ऑव् इस्लाम, पृ० ४०१ में मिस्टर स्टेनली लेनपोल के अवतरण के आधार पर। उलटे कामाओं में उनके शब्दों का यथार्थ अनुवाद है—"दि फ़ियर रादर दैन दि लव ऑव् गॉड इज़ दि स्पर टु इस्लाम।"

(२) ग्रंथ, पृ० ६२६। क० ग्रं०, पृ० २००, ३००।

(३) घीव दूध में रमि रहा व्यापक सब ही ठौर।

—बानी, भा० १, पृ० ३२

(४) 'ग्रंथ', ६०३।

परमात्मा का यह व्यापकत्व उसकी अनंत शक्ति का एक पक्ष मात्र नहीं, जैसा सामी विचार-परंपरा के अनुसार ठहरेगा, बल्कि उसी में उसकी सार-सत्ता है। यही उनके प्रेम-सिद्धांत की आधार-शिला है।

यह व्याप्ति कहीं न्यून और कहीं अधिक नहीं। परमात्मा सब जगह अपनी पूर्ण सत्ता के साथ विद्यमान है। परंतु उसकी पूर्णता यहीं समाप्त नहीं हो जाती। इस विश्व में पूर्ण रूप से व्याप्त होने पर भी वह पूर्ण रूप से उसके परे है। इस अद्‌भुत राज्य में गणित की गणना बे-काम हो जाती है। बृहदारण्यकोपनिषत् के शब्दों में अगर कहें तो कह सकते हैं कि पूर्ण में से अगर पूर्ण को निकाल लें तो भी पूर्ण ही शेष रहता है[1]। इसी भाव को दृष्टि में रखकर दादू ने कहा था कि परमात्मा ने कोई ऐसा पात्र नहीं बनाया है जिसमें सारा समुद्र भर जाय और और पात्र खाली हो रह जायँ—

चिड़ी चोंच भर ले गई नीर निघट न जाइ।
ऐसा बासण ना किया सब दरिया माहिं समाइ[2]॥

यह व्याप्ति इतनी गहन है कि व्यापक और व्याप्त में कोई अंतर ही नहीं रह जाता। सिद्धांतवादी कबीर की सहायता के लिये उसी के हृदय में से कवि बाहर निकलकर रसपूर्ण व्याप्ति को इस तरह संदेह के रूप में व्यक्त करता है—

तुम्ह सन्ति पिव महि जिउ बसै, जिउ महि बसै कि पीउ[3]॥

पूर्ण सत्य तक तब पहुँच होती है जब यह संदेह निश्चय में परिणत हो जाता है और प्रिय हृदय में तथा हृदय प्रिय में बसा हुआ

---

(१) पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥—२. ५, १६।

(२) बानी (ज्ञानसागर), पृ० ६३, ३२७।

(३) क० ग्रं०, पृ० २९३, १८६।

दिखाई देता है। कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि परमात्मा विश्व में और विश्व परमात्मा में अवस्थित है—

खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्या समाई[1]।

परमात्मा की इसी व्यापकता के कारण उसे मंदिर मस्जिद आदि में सीमित मान लेना मूर्खता हो जाती है। मुसलमानों के लिये खुदा मस्जिद में और हिंदुओं के लिये ईश्वर मंदिर में है तो क्या जहाँ मंदिर मस्जिद नहीं वहाँ परमात्मा नहीं ?—

तुरक मसीत, देहुरै हिंदू, दुँहुठाँ राम खुदाई।
जहाँ मसीति देहुरा नाहीं, तहँ काकी ठकुराई[2]॥

निर्गुणी को मंदिर मस्जिद से कोई प्रयोजन नहीं। वह जहाँ देखता है, वहीं उसको परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं। सर्वत्र परमात्मा ही परमात्मा है, सत्ता ही केवल उसकी है—

जहँ देखौं तहँ एक ही साहब का दीदार[3]।

नानक—

गुरु परसादी दुरमति खोई, जहँ देखा तहँ एको सोई[4]॥

सब संत इस बात का उद्घोष करने में एकमत हैं।

२. पूर्ण ब्रह्म

किंतु निर्गुणियों का सर्वत्र परमात्मा का ही दर्शन करना केवल उसके अधिदेवत्व तथा व्यापकत्व का सूचक नहीं है। उन्मेषशील जीव को इस बात का अनुभव होता है कि मेरी सत्ता केवल भौतिक नहीं। अपनी पारमात्मिकता की भी उसे बहुत धुँधली सी झलक मिल जाती है। अतएव उद्धार की आशा से वह ऐसे किसी दृढ़ अवलंबन की आव-

(१) वही, पृ० १०४, ५१।
(२) वही, पृ० १०६, ५८।
(३) सं० बा० सं० १, पृ० ३३।
(४) 'ग्रंथ', पृ० १४३, आसा।

श्यकता का अनुभव करता है जो दूर से दूर होने पर भी निकट से निकट हो। परमात्मा के अधिदैवत्व और व्यापकत्व नाम रूप की उपाधियों से रहित उस परमतत्त्व को इसी पक्ष दृष्टि से देखने के परिणाम हैं। उसकी पूर्णता उन्हीं में नहीं; हाँ उनकी ओर वे अस्पष्ट संकेत अवश्य करते हैं।

पूर्ण रूप में उस सत्तत्त्व का कोई उपयुक्त विचार ही नहीं कर सकता है। वह वाङ्मनस के परे है। बुद्धि मूर्त रूप का आधार चाहती है और वाणी रूपक का। इसलिये उस अमूर्त और अनुपम को ग्रहण करने में बुद्धि, और व्यक्त करने में वाणी, असमर्थ है। बुद्धि से हमें उन्हीं पदार्थों का ज्ञान हो सकता है जो इंद्रियों के गोचर हैं, इंद्रियातीत का नहीं। इसी से नानक ने कहा था कि लाख सोचो, परमात्मा के बारे में सोचते बनता ही नहीं है[1]। यही कारण है कि 'यह परमात्मा है' ऐसा कहकर उसका निर्देश नहीं किया जा सकता।

इसी कठिनाई के कारण सब सत्यान्वेषकों को न-कारात्मक प्रणाली का अनुसरण करना पड़ता है। 'परमात्मा यह है' न कहकर वे कहते हैं 'परमात्मा यह नहीं है'। 'स एष नेति नेति आत्मा'[2] कहकर उपनिषदों ने इसी प्रणाली का अनुगमन किया है। हमारे संतों ने भी यह किया है। परमात्मा अवरण है, अकल है, अविनाशी है। न उसके रूप है, न रंग है, न देह[3]। न वह

---

(१) सोचै सोच न होवई जे सोची लख वार।—'ग्रंथ', पृ० १।

(२) 'बृहदारण्यकोपनिषद्', ४, ४, २२।

(३) अवरण एक अविनासी घट घट आप रहै।

—क० ग्रं०, पृ० १०२, ४२।

रूप वरण वाके कुछ नाहीं सहजो रंग न देह।

—सहजो, सं० बा० सं०, पृ० १९।

बालक है न बूढ़ा। न उसका तोल है, न मोल है, न ज्ञान है; न वह हल्का है, न भारी, न उसकी परख हो सकती है[1]। परंतु इससे परिणाम क्या निकलता है? परमात्मा के वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करने में हम कहाँ तक सफल होते हैं? कबीर ने कहा था, चारों वेद (नेति नेति कहकर) सब वस्तुओं को पीछे छोड़ते हुए आपका यशोगान करते हैं परंतु उससे वास्तविक लाभ कुछ होता नहीं दीखता, भटकता हुआ जीव लूटा अवश्य जाता है[2]। क्योंकि जैसा नानक कहते हैं, परमात्मा के संबंध में कितना ही कह डालिए, फिर भी बहुत कहने को रह जाता है[3] इसी से कबीर ने झुँझलाकर कहा कि 'परमात्मा कुछ है भी या नहीं[4]?' सुंदरदास ने तो उसे 'अत्यंताभाव' कह दिया—हाँ, नास्तिकों के मतानुकूल अत्यंताभाव नहीं। परमात्मा है भी और नहीं भी है। जिस अर्थ में संसार के भौतिक पदार्थ 'हैं' उस अर्थ में परमात्मा 'है' नहीं है और जिस अर्थ में परमात्मा 'है' उस अर्थ में सांसारिक पदार्थ नहीं हैं। इसी लिये सुंदरदास कहते हैं कि परमात्मा है भी और नहीं भी है। बल्कि उसको 'है' और 'नहीं' इन दोनों के

---

(१) ना हम बार बूढ़ हम नाहीं, ना हमरे चिलकाई हो।
—क० ग्रं०, पृ० १०४, ९०।

तोल न मोल, माप किछु नाहीं गिनै ज्ञान न होई।
ना सो भारी ना सो हलुआ, ताकी पारिख लखै न कोई॥
—वही, पृ० १४४, १६६।

(२) राबर को पिछवार कै गावैं चारिउ सैन।
जीव परा बहु लूट मैं ना कछु लैन न दैन॥
—'बीजक', पृ० ४८८।

(३) बहुता कहिए बहुता होई।—'जपजी', २२।

(४) तहाँ किछु आहि कि सुन्यं।—क० ग्रं०, पृ० १४३, १६४।

बीच देखना चाहिए[1]। सारी समस्या को हल करने के उद्देश से सहजोबाई के शब्दों में निर्गुणी उसे 'है' और 'नहीं' भाव और अभाव दोनों से रहित उद्घोषित करते हैं[2], जैसे हम एक अर्थ में परमात्मा को 'है' नहीं कह सकते वैसे ही 'नहीं' भी नहीं कह सकते, क्योंकि अन्य सभी पदार्थों का तो वही आधार है। परंतु यह भी एक प्रकार का अभाव ही है अतएव यह उन्हें एक स्वयं विरोधी स्थिति में पहुँचा देता है।

इसी स्थिति के कारण प्राचीन ऋषि भाव ने परमात्मा के वर्णन में एक नवीन प्रणाली का अनुसरण किया था। वास्कलि ने भाव से पूछा था कि आत्मा क्या है। पहली बार प्रश्न करने पर जब उत्तर न मिला तो वास्कलि ने समझा कि शायद ऋषि ने सुना या समझा नहीं। फिर पूछने पर भी जब उन्होंने तीव्र दृष्टि से वास्कलि की ओर केवल देखा भर तो उसे भय हुआ कि कहीं अनजान में मैंने ऋषि को अप्रसन्न तो नहीं कर दिया। इसलिये उसने बड़ी विनय के साथ प्रश्न को दुहराया। इस बार ऋषि ने झुँझलाकर उत्तर दिया—"मैं बताता तो हूँ कि आत्मा मौन है, तुममें समझ भी हो[3]!" और बात भी ठीक ही है। परमात्मा को निर्विशेष

---

(१) यह अत्यंताभाव है, यहई तुरियातीत।
यह अनुभव साचात है, यह निरचै अद्वैत॥
"नाहीं नाहीं" कर कहै, "है है" कहै बखानि।
"नाहीं" "है" के मध्य है, सो अनुभव करि जानि॥
—ज्ञान-समुद्र, ४४।

(२) "है" "नाहीं" सू रहित है, 'सहजो' यों भगवंत।
—सं० बा० सं०, भाग १, पृ० १६२।

(३) 'ब्रह्मसूत्र', शांकर भाष्य, ३, २, १७; दास गुप्त-हिस्टरी ऑव् इंडियन फिलॉसफी, भाग १, पृ० ४२।

कहने पर भी उस पर विशेषणों का आरोप करना—चाहे वह विशेषण 'निर्विशेष' ही क्यों न हो—असगत है। निर्गुणियों को भी इस बात का अनुभव हुआ था। ब्रह्म के वर्णन में वाणी की व्यर्थता की घोषणा करके कबीर ने भाव ऋषि का साथ दिया। उन्होंने कहा—भाई बोलने की बात क्या कहते हो ? बोलने से तो तत्त्व ही नष्ट हो जाता है[1]।

परंतु जैसा नानक कहते हैं, जो लोग परमात्मा में एकतान भावना से लीन हो जाते हैं, वे चुप भी तो नहीं रह सकते। परमात्मा के यशोगान की भूख इंद्रियार्थों से थोड़े ही बुझ सकती है[2]। अतएव वाणी का आधार लेना ही पड़ता है। बोलने से अधूरा सही, भगवद्विचार का आरंभ तो हो जाता है। बिना बोले वह भी नहीं हो सकता[3]। इसी लिये नानक ने कहा—"जब लगि दुनिया रहिए नानक, किछु सुणिए किछु कहिए[4]।" परमात्मा यद्यपि 'नयन' और 'वयन' के अगोचर है फिर भी वह संतों के 'कानों' और 'कामों' का सार है। भगवच्चर्चा में सम्मिलित होना उनके जीवन का प्रधान सुख है। परमात्मा के गुणगान ही में वे जिह्वा की सार्थकता मानते हैं[5]। बोलने की इसी आवश्यकता

---

(१) बोलना का कहिए रे भाई। बोलत बोलत तत्त नसाई।
—क० ग्रं०, पृ० १०६, ६७।

(२) चुपै चुपि न होवई लाइ रहा लिवतार।
भुखिया भूख न ऊतरी जेवना पुरिया भार ॥—'जपजी', २।

(३) बिन बोले क्यों होइ विचारा।—क० ग्रं०, १०६, ६७।

(४) 'ग्रंथ'; पृ० २२६।

(५) कहत सुनत सुख ऊपजै अरु परमारथ हीय।
नैना बैन अगोचरी स्रवणा करणी सार।
बोलन के सुख कारणे कहिए सिरजनहार ॥
—वही, पृ० २३६।

के कारण कबीर ने परमात्मा को 'बोल' और 'अबोल' के बीच बताया है[1]।

परंतु इतना सब होने पर भी कबीर के स्पष्ट शब्दों में सच तो यह है कि "परमात्मा को कोई जैसा कहे वैसा वह हो नहीं सकता, वह जैसा है वैसा ही है[2]।" कैसा है? कोई नहीं बता सकता। परमात्मा को संबोधित कर कबीर ने कहा था—

जस तूँ तस तोहिं कोइ न जान।
लोग कहैं सब आनहि आन[3]॥

सुंदरदास भी प्रायः इन्हीं शब्दों में कहते हैं—

जोइ कहूँ सोइ, है नहिं सुंदर, है तो सही पर जैसे को तैसो[4]।

यहाँ पर इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि सूक्ष्म ब्रह्म-भावना का विस्तार-पूर्ण उल्लेख थोड़े ही संतों में पाया जाता है। उदाहरण के लिये नानक में ऐसे स्थल भी मिलते हैं जो परब्रह्म की सूक्ष्म से सूक्ष्म निर्विकल्प भावना में भी घट सकते हैं। एक जगह नानक ने कहा है, और आगे क्या है, इसे कोई कह नहीं सकता, जो कहेगा उसे पीछे पछताना पड़ेगा[5]। क्योंकि उसका कथन

(१) जहाँ बोल तहँ आखर आवा। जहँ अबोल तहँ मन न रहावा॥
बोल अबोल मध्य है सोई। जस वोहु है तस लखै न कोई॥
—वही पृ० २१०।

बीजक में अंतिम पद का कुछ भिन्न पाठ है—
जहाँ बोल तहँ अक्षर आवा। जहँ अक्षर तहँ मनहिं दिढ़ावा॥
बोल-अबोल एक ह्वै जाई। जिन यह लखा सो बिरला होई॥
—'बीजक', साखी, २०४।

अबोल ही जब बोल हो जाता है तब अक्षर ब्रह्म के दर्शन होते हैं।

(२) जस कथिए तस होत नहिं, जस है वैसा सोइ।—वही, पृ० २३०।

(३) क० ग्रं०, पृ० १०३, ३७।

(४) 'ज्ञान-समुद्र'।

(५) ताकी आगला कथिआ ना जाई। जे को कहै पिछै पछिताइ॥
—'जपजी', ३५।

ठीक हो नहीं सकता, परंतु नानक ने अपने समय की स्थिति के कारण, जिसका मैं उनके जीवन-वृत्त में उल्लेख कर आया हूँ, एकेश्वर अधिदेवता की ही भावना की ओर अधिक ध्यान दिया है। इसी लिये उन्होंने जपजी में कहा कि अगर परमात्मा का लेखा हो सकता है तो लिखो, परंतु लेखा तो नाशवान् है, वह अविनाशी का कैसे वर्णन कर सकता है, नानक तू इस फेर में मत पड़, वह अपने को आप जानता है, तू केवल उसे बड़ा कह[1]।

परंतु कुछ संत ऐसे भी हैं जो, जैसा आगे चलकर मालूम होगा, इस निर्विकल्प भावना तक पहुँच ही नहीं पाए हैं। जहाँ पर वे पूर्ण अद्वैत ब्रह्म का सा वर्णन करते हैं, वहाँ पर निर्विकल्प अवस्था के स्थान पर उनका अभिप्राय परमात्मा की अद्वितीय महत्ता से होता है। किंतु इसके विपरीत कबीर और कुछ अन्य संतों की ब्रह्म-भावना तो ऐसी सूक्ष्म है कि वे उसे 'एक' भी कहना नहीं चाहते। कोई वस्तु 'अनेक' के ही विरुद्ध 'एक' हो सकती है। परंतु ब्रह्म तो केवल है[2], वह 'एक' कैसे हो सकता है? कबीर ही के शब्दों में परमात्मा को एक कहना—

> एक कहूँ तो है नहीं दोय कहूँ तो गारि।
> है जैसा तैसा रहै, कहै कबीर विचारि॥

क्योंकि वह जैसा है वैसा, वही जान सकता है, हम तो इतना ही कह सकते हैं कि केवल वही है और कोई है ही नहीं[3]।

---

(१) लेखा होइ लिखिए, लेखै होइ विणास।
नानक बड़ा आखिए, आपै जाणै आप॥—'जपजी', २२।

(२) अब मैं जाणि बैरे केवल राइ की कहाँणीं।
—क० ग्रं०, पृ० १४३, १६६।

(३) वो है तैसा वोही जानै, वोहि आदि, आदि नहिं आनै।
—वही, पृ० २४१।

दादू भी कहते हैं, "चर्म-दृष्टि से अनेक दिखाई देते हैं, आत्म-दृष्टि से एक, परंतु साक्षात् परिचय तो ब्रह्म-दृष्टि से होता है, जो इन दोनों के परे है[1]।" फिर कहा है—

> दादू देखौं दयाल कौं, बाहरि भीतरि सोइ।
> सब दिसि देखौं पीव कौं, दूसर नाहीं कोइ[2]॥

मीरा भी कहती हैं—

> मीरा केवल एक है, किरतिम भया अनेक।
> एकै आतम सकल घट, यह गति जानहिं संत[3]॥

हम यह देख चुके हैं कि परमात्मा भाव और अभाव दोनों प्रणालियों से अवर्णनीय है; क्योंकि वह भाव और अभाव दोनों के परे है। परमात्मा की सगुण भावना भावात्मक प्रणाली है, और निर्गुण भावना अभावात्मक। परंतु परमात्मा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये सगुण और निर्गुण दोनों के परे पहुँचना चाहिए। कबीर का अपने को निर्गुणी कहना नकारात्मक प्रणाली के अनुसरण मात्र की ओर संकेत करता है, जिसके साथ जिज्ञासु का ज्ञान-मार्ग में प्रवेश होता है। सूक्ष्म गुण तीन माने जाते हैं। इसलिये कबीर ने परमात्मा के सत्य स्वरूप को तीन गुणों से परे होने के कारण चौथा पद भी कहा है—

३. परात्पर

> राजस तामस सातिग तीन्यूँ, ये सब तेरी माया।
> चौथे पद को जो जन चीन्हैं तिनहिं परम पद पाया[4]॥

---

(१) चमदृष्टी देखे बहुत करि, आतमदृष्टी एक।
ब्रह्मदृष्टि परिचय भया, (तब) दादू बैठा देख॥
—बानी (ज्ञान-सागर), पृ० ४८।

(२) बानी, भाग १, पृ० ४२।

(३) सं० बा० सं०, भाग १, पृ० २१२।

(४) क० ग्रं०, पृ० १५०, १५७।

नीचे लिखी पंक्ति में भी इसी बात की ओर संकेत है—

कहै कबीर हमारे गोब्यंद चौथे पद में जन का ज्यंद[१]।

कबीर तीन सनेही बहु मिले, चौथे मिले न कोय।
सबै पियारे राम के, बैठे परबस होय॥

अंतिम उद्धरण में तीन का अर्थ त्रैलोक्य भी लगाया जा सकता है। बिहारी दरिया ने अभय सत्यलोक को त्रैलोक्य के ऊपर बतलाया है[२]। परमात्मा को त्रैलोक्य के परे मानना ठीक भी है। परंतु कबीर पंथ में इसका बिल्कुल ही बाह्यार्थ लगाया गया और सत्यपुरुष निर्गुण से दो लोक ऊपर माना गया। बीच के दो लोकों के नाम सुन्न और भँवरगुफा रखे गए और उनके धनियों (अधिष्ठाताओं) के बिना किसी संगति के ब्रह्म और परब्रह्म।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि सुन्न बौद्धों के शून्य-वाद की प्रतिध्वनि है, जिसमें सत्तत्व शून्यमात्र माना जाता है; योग में वह सूक्ष्म आकाश तत्त्व का बोधक होकर त्रिकुटी के लिये भी प्रयुक्त होने लगा। इसी प्रकार मुंडकोपनिषद् में परमात्मा का निवास गुहा में माना गया है[३]। यह ज्ञानगुहा अथवा हृदयगुहा दोनों हो सकता है। हृदय में योग के एक कमल (चक्र) का भी स्थान है अतएव हृदयस्थ परमात्मा उसका भ्रमर हुआ और हृदय उस भ्रमर की गुहा। भँवरगुफा आगे चलकर अनाहत

---

(१) क० ग्रं०, पृ० २१०, २६९।

(२) तीन लोक के ऊपरे अभयलोक विस्तार।
सत्त सुकृत परवाना पावै, पहुँचै जाय करार॥
—सं० बा० सं०, भाग १, पृ० १२३।

(३) बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥
—३, १, ७।

चक्र से अलग ही एक चक्र मानी जाने लगी। कबीर ने भी ऐसा ही किया है[1]। उन्होंने भँवरगुफा को लोक के अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया है।

नानक ने सचखंड अर्थात् सत्यलोक को वैष्णवों के समान सर्वोच्च लोक माना है जहाँ निरंकार कर्ता पुरुष का वास है। इसके नीचे चार और लोक हैं जिनके नाम उन्होंने—नीचे से ऊपर का क्रम रखते हुए—यों दिए हैं—धरमखंड, सरम (शर्म-) खंड, ज्ञानखंड और करमखंड। सचखंड की यह भावना भी बाह्यार्थ-परक ही है, परंतु ऐसा भी नहीं मालूम होता कि नानक ने सूक्ष्म भावना का सर्वथा त्याग ही दिया हो। उन्होंने अपने सत्यनाम करता पुरुख का वर्णन प्रायः वैसे ही शब्दों में किया जो कबीर के मुख में रखे जा सकते हैं। उन्होंने कहा कि परमात्मा त्रिगुणात्मक त्रैलोक्य में व्याप्त है, परंतु है वह तीनों लोकों अथवा तीनों गुणों से बाहर, 'तीनि समावे चौथे वासा'[2]। गुलाल उसे चौथे से भी ऊपर ले गए—"ब्रह्म-सरूप अखंडित पूरन, चौथे पद सों न्यारो[3]।" प्राणनाथ ने भी कहा है—

बाणी मेरे पीव की, न्यारी जो संसार।

निराकार के पार थें तिन पारहु के पार[4]॥

इस प्रकार परब्रह्म क्रमशः एक के बाद एक पद ऊपर उठने लगा। कबीर के नाम से भी कुछ ऐसी कविताएँ प्रचलित हैं, जो वस्तुतः कबीर की नहीं हो सकतीं, जिनमें सत्य समर्थ और

---

(१) बंकनालि के अंतरे, पछिम दिसा के बाट।
नीझर झरै रस पीजिए, तहाँ भँवरगुफा के घाट रे॥
—क० ग्रं०, पृ० ८८, ५

(२) "ग्रंथ", पृ० ४१।

(३) सं० बा० सं०, भाग २, पृ० २०६।

(४) प्रगट बानी, पृ० ३, ना० प्र० स०, खोज-रिपोर्ट।

निरंजन के बीच छः पुरुषों के लोक हैं। इन छः पुरुषों के नाम हैं—सहज, ओंकार, इच्छा, सोहम्, अचिंत्य और अक्षर। इन छः पुरुषों की सिद्धि के लिये एक नवीन सृष्टिविधान की कल्पना की गई जिसके अनुसार सत्य पुरुष ने क्रमशः छः ब्रह्मों और उनके लिये छः अंडों की रचना की। छठे अक्षर ब्रह्म की दृष्टि से छठा अंड फूटा तो उसमें से त्रैलोक्य का कर्ता निरंजन अपनी शक्ति ज्योति अथवा माया के साथ निकल पड़ा[1]।

परंतु इन नए नए बाह्यार्थवादी लोकों तथा उनके धनियों की कल्पना का क्रम यहीं पर न रुका, क्योंकि नाम तो शब्द मात्र हैं और परमात्मा की ओर संकेत मात्र कर सकते हैं। इन संकेतों को छोड़कर यदि उनका बाह्यार्थ लिया जाय तो उनका कोई भी पारमार्थिक मूल्य नहीं रह जाता। इस प्रकार हम परमात्मा को चाहे जिस नाम से पुकारें, वह उससे परे ही रहेगा; इसी लिये दर्शनशास्त्रों में उसे 'परात्पर' कहा है। परमात्मा, को परे से परे ले जा रखने की इस प्रवृत्ति के कारण आगे चलकर परमात्मा 'सत्य पुरुष' से भी परे चला गया। परिणामतः परमात्मा,

---

(१) प्रथम सुरति समरथ कियो घट में सहज उचार।
ताते जामन दीनिया, सात करी विस्तार॥...
तब समरथ के श्रवण ते मूल सुरति भै सार।
शब्द कला ताते भई, पाँच ब्रह्म अनुहार॥
पाँचों पाँचौं अंड धरि, एक एक मा कीन्ह।...
ते अचिंत्य के प्रेम ते उपजे अच्छर सार।...
जब अच्छर छे नींद गै, दबी सुरति निरबान।
स्याम बरन इक अंड है, सो जल में उतरान॥...
अच्छर दृष्टि से फूटिया, दस द्वारे कढ़ि बाप॥
तेहि ते जोति निरंजनौ, प्रकटे रूपनिधान।
—क० श०, पृ० ६५-६६।

जिसे कबीरपंथियों ने अनामी और शिवदयालजी ने राधास्वामी नाम से अभिहित किया, सत्य पुरुष से भी तीन लोक और ऊपर जा बैठा। बीच के पुरुषों का नाम अगम और अलख रखा गया। शिवदयालजी ने अनामी शब्द को राधास्वामी का विशेषण माना था परंतु राधास्वामी संप्रदाय के अनुयायियों ने अनामी को एक अलग पुरुष मानकर राधास्वामी के नीचे रख दिया। उनका कहना है कि शिवदयालजी ने जान बूझकर अनामी पुरुष को गुप्त रखा था।

इतना ही नहीं, शिवदयालजी ने सत्य को भी निर्गुण से चौथा न मानकर चार लोक ऊपर माना और इस प्रकार बढ़ी हुई जगह को भरने के लिये एक और लोक और पुरुष की कल्पना की जिनके नाम क्रमशः सोहंग लोक और सोहंग पुरुष रखे गए।

इस प्रकार सबसे नवीन संत-(राधास्वामी-) साहित्य में हम निरंजन अथवा निर्गुण को उत्तरोत्तर उच्च पदवाले धनियों अथवा पुरुषों की श्रेणी के पाद पर पाते हैं। निरजन के ऊपर क्रम से ब्रह्म, परब्रह्म, सोहंग (सोहम्) पुरुष, सत्य पुरुष, अलख पुरुष, अगम पुरुष और अनामी पुरुष हैं और सबके ऊपर राधास्वामी दयाल। इस संप्रदाय के अनुसार और धर्मों के लोग निरंजन अथवा उसके थोड़े ही ऊपर नीचे के किसी पुरुष की आराधना करते हैं। यदि संत संप्रदायों में यह पर-प्रवृत्ति इसी प्रकार बढ़ती रही तो क्या आश्चर्य कि परमतत्त्व को कोई राधास्वामी से भी ऊपर ले जा रखे। परंतु दर्शन-बुद्धि से तो यह आवश्यक जान पड़ता है कि आवश्यकता से अधिक 'पर' ब्रह्म पर न जोड़े जायँ। इस दृष्टि से इस अतिशय 'पर'-प्रवृत्ति की कोई संगति नहीं बैठती। एक बार जब परमात्मा को सगुण निर्गुण दोनों से 'पर' बतला दिया तब एक के बाद एक और 'पर' जोड़ने से लाभ ही क्या हो सकता है।

इस असंगत 'पर'-प्रवृत्ति का कारण यह है कि स्वामी रामानंदजी के सत्संग से प्राप्त जिन सूक्ष्म दार्शनिक विचारों का प्रचार कबीर ने किया था, कुछ काल उपरांत उनके तत्त्वार्थ को दर्शन-बुद्धि से समझना उनके अनुयायियों के लिये कठिन हो गया और वे अपने से पूर्ववर्ती संतों तथा अन्य धर्मावलंबियों के अनुभवों को अपने से नीचा ठहराने लगे। बौद्ध और सूफी भी आध्यात्मिक अभ्यास-मार्ग में उत्तरोत्तर अग्रसर आठ पद मानते हैं। संभवतः यह प्रवृत्ति इन्हीं के अनुकरण का फल है। परंतु बौद्धों और सूफियों में इन पदों की भावना विभिन्न पुरुषों और उनके विभिन्न लोकों के रूप में नहीं की गई है; किंतु केवल सोपानों के रूप में। अभ्यास पक्ष में संतों ने भी ऐसा ही किया है किंतु इससे उनको लोक और पुरुष भी मानना संगत नहीं ठहराया जा सकता।

एक स्थान पर शिवदयालजी ने राधास्वामी दयाल से कहलाया है कि अगम अलख और सत्य पुरुष में मेरा ही पूर्ण रूप है[1]। यदि यह बात है तो यह कैसे माना जा सकता है कि इन रूपों को ग्रहण करने के लिये राधास्वामी को नीचे उतरना पड़ा है। जहाँ परमात्मा को एक पग भी नीचे उतरना पड़ा वहाँ समझना चाहिए कि पूर्णता में कमी आ गई। साधक के पूर्ण आध्यात्मिकता में प्रवेश पाने में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मात्राएँ हो सकती हैं; परंतु निर्लेप परमतत्त्व में, जब तक वह निर्लेप परमतत्त्व है, न्यूनाधिक मात्राओं का विचार घट नहीं सकता। पूर्ण ब्रह्म की जब तक पूर्ण

---

(१) पिरथम अगम रूप मैं धारा। दूसर अलख पुरुष हुआ न्यारा॥
तीसर सत्त पुरुष मैं भया। सचलोक मैं ही रचि लिया॥
इन तीनों में मेरा रूप। हाँ से उतरीं कला अनूप॥
हाँ तक निज कर मुझको जानो। पूरन रूप मुझे पहचानो॥
—सारवचन, भाग १, पृ० ७४।

प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक साधक अपूर्ण ही कहलाएगा, चाहे उसकी अपूर्णता सूक्ष्म हो अथवा स्थूल।

यदि पूर्ण ब्रह्म-भावना पर वाच्यार्थ का आरोप किया जायगा तो वह अवश्य ही सारहीन होकर ऐसी अदार्शनिक प्रवृत्ति में बदल जायगी, यही यहाँ हुआ भी है।

कहना न होगा कि निरंजन, अलख, अगम, अनामी, सत्य आदि शब्दों को—जिन्हें पिछले संतों ने विभिन्न 'पुरुषों' का नाम मान लिया है—पहले के संतों ने परमतत्त्व या परमात्मा के विशेषण मानकर उसके पर्याय के रूप में ग्रहण किया है। विभिन्न लोक होने के बदले वे 'नेति नेति' प्रणाली के द्वारा पूर्ण पुरुष को ही देखने के विभिन्न दृष्टि-कोण हैं। निरंजन से भी (अंजन अथवा माया से रहित), जिसे पिछले संत काल-पुरुष का नाम मानते हैं, कबीर का अभिप्राय परमात्मा से ही था, यह इस पद से स्पष्ट होता है—

गोब्यंदे तू निरंजन, तू निरंजन, तू निरंजन राया।
तेरे रूप नाहीं, रेख नाहीं मुद्रा नाहीं माया।
तेरी गति तूही जाने कबीर तो सरना[1]॥

अभ्यास-मार्ग में उन्नति के सोपानों के रूप में इन पदों की चाहे जो सार्थकता मानी जाय, परंतु इसमें संदेह नहीं कि लोक अथवा पुरुष रूप में उनका कोई दार्शनिक महत्त्व नहीं।

४. परमात्मा, आत्मा और जड़ पदार्थ

निर्गुण संतों को सर्वत्र परमात्मा ही के दर्शन होते हैं। यदि कोई पूछे कि "यदि सत्ता 'एक' ही की है तो अनेक के संबंध में क्या कहा जायगा? क्या यह समस्त चराचर सृष्टि, जो इंद्रियों के लिये उस अलक्ष्य परमात्मा से भी वास्तविक है, मिथ्या है? क्या उसका अस्तित्व नहीं?" तो वे सब एक स्वर में उत्तर देंगे कि उनकी भी सत्ता है, वे भी वास्तविक

(१) क० ग्रं०, पृ० १६२, २११।

हैं, परंतु परमात्मा से अलग उनकी कोई सत्ता अथवा वास्तविकता नहीं। उसी की सत्ता मे उनकी सत्ता है, उसी की वास्तविकता में उनकी वास्तविकता, क्योंकि सबमें परमात्मा सार रूप से विद्यमान है। छोटे से छोटे जीव, तुच्छ से तुच्छ पदार्थ सबमें परब्रह्म का निवास है। कठिनाई केवल इतनी है कि जब तक हम इंद्रिय-ज्ञान पर आश्रित बुद्धि की माप से सब पदार्थों को मापने का प्रयत्न करते रहते हैं तब तक हम उनके अंतरतम में प्रवेश कर उनको पूर्ण रूप में नहीं समझ सकते।

परंतु इस कथन से सब संतों का एक ही अभिप्राय न होगा। हमें उनमें कम से कम तीन प्रकार की दार्शनिक विचार-धाराओं के स्पष्ट दर्शन होते हैं। वेदांत के पुराने मतों के नाम से यदि उनका निर्देश करें तो उन्हें अद्वैत, भेदाभेद और विशिष्टाद्वैत कह सकते हैं। पहली विचार-धारा को माननेवालों मे कबीर प्रधान हैं। दादू, सुंदरदास, जगजीवनदास, भीखा और मलूक उनका अनुगमन करते हैं। नानक और उनके अनुयायी भेदाभेदी हैं और शिवदयालजी तथा उनके अनुयायी विशिष्टाद्वैती। प्राणनाथ, दरियाद्वय, दीन दरवेश, बुल्लेशाह इत्यादि शिवदयाल की ही श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

कबीर आदि अद्वैती विचार-धारावालों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के भीतर परमात्म तत्त्व पूर्ण रूप से विद्यमान है। रहस्य केवल इतना ही है कि वह इस बात को जानता नहीं है। इस बात का अनुभव उसे तभी हो सकता है, जब वह मन और सामान्य बुद्धि के क्षेत्र से ऊपर चढ जाता है। मनुष्य (जीवात्मा) और परमात्मा में पूर्ण अद्वैत भाव है—दूर किया संदेह सब जीव ब्रह्म नहिं भिन्न[1]। अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाने के कारण वह अपने

---

(१) सुंदरदास, सं० बा० सं०, भाग १, पृ० १०७।

आपको महोतर समझता है। आत्मतत्त्व को भूलकर वह पंचभूतों की ओर दृष्टि डालता है और उन्हीं में अपने वास्तविक स्वरूप की पूर्णता मानता है—सूधी ओर न देखई, देखै दर्पन पृष्ठ[1]। यही देहाध्यास उसके भ्रम की जड़ है। जब व्यक्ति दृश्य आवरणों के भ्रम में न पड़कर, नाम और रूप को भेदकर, अपने अंतरतम में दृष्टि डालता है तब उसे मालूम होता है कि मैं तो वस्तुतः एक मात्र सत्तत्त्व हूँ। तब उसे विदित होता है कि किस प्रकार मैं अपने आपको भ्रम में डाले हुए था—सुंदर भ्रम थैं दोय घेर—और उसे तत्काल अनुभव हो जाता है कि मैं पूर्ण ब्रह्म केवल हूँ ही नहीं, बल्कि कभी उसके अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ था ही नहीं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण ब्रह्म है। उसके इस तथ्य से अनभिज्ञ होने और उसकी अनुभूति न कर सकने से भी उसके वास्तविक स्वरूप में कोई अंतर नहीं आता। वह जाने चाहे न जाने, पर ब्रह्म सो वह है ही। पाँचभौतिक जगत् के बंधनों से मुक्त होने के लिए यही अपरोक्षानुभूति अपेक्षित है।

संत-संप्रदाय के इन अद्वैती संतों ने इस सत्य को स्वयं अपने जीवन में अनुभूत कर लिया था। कबीर ने इस संबंध में अपने भाव बड़ी दृढ़ता तथा स्पष्टता के साथ व्यक्त किए हैं। आत्मा और परमात्मा की एकता में उनका अटल विश्वास था। इन दोनों में इतना भी भेद नहीं कि हम उन्हें एक ही मूल-वस्तु के दो पक्ष कह सकें। पूर्ण ब्रह्म के दो पक्ष हो ही नहीं सकते। दोनों सर्वथा एक हैं। अद्वैतता की इसी अनुभूति के कारण वे समस्त सृष्टि में अपने आपको देखते थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित किया था—

(१) सुंदरदास, सं० बा० सं०, भाग १, पृ० १० ।
(२) वही।

हम सब माहिं सकल हम माहीं। हम थैं और दूसरा नाहीं॥
तीन लोक में हमारा पसारा। आवागमन सब खेल हमारा॥
खट दर्शन कहियत हम भेखा। हमहिं अतीत रूप नहिं रेखा॥
हमहीं आप कबीर कहाया। हमहीं अपना आप लखाया[1]॥

जो कबीर को अंडरहिल के समान रामानुज के 'विशिष्टाद्वैत-वादी सिद्धांत' का और फर्कुहर के समान निंबार्क के 'भेदाभेद' का समर्थक मानते हैं वे भ्रम के कारण कबीर के संपूर्ण विचारों पर समन्वित रूप से विचार नहीं करते। कबीर ने पूर्ण ब्रह्म का एक ही दृष्टि-कोण से विचार नहीं किया है। उसका निर्वचन करने के लिये सब दृष्टि-कोणों से विचार करना पड़ता है, परंतु अंत में सबका समन्वय किए बिना पूर्णावस्था का ज्ञान नहीं हो सकता। कबीर जैसे पूर्ण अद्वैतवादियों ने यही किया भी है। इसी से कबीर में एक साथ ही निंबार्क के भेदाभेद और रामानुज के विशिष्टाद्वैत का दर्शन हो जाता है। उनकी उक्तियों में से कोई भी वाद निकाला जा सकता है। परंतु स्वतः कबीर ने उनमें से किसी एक को नहीं अपनाया है। उन सबसे उन्होंने ऊपर उठने के लिये सोपान मात्र का काम लिया है। कबीर के सूक्ष्म दार्शनिक विचारों को पूर्ण रूप से समझने के लिये हमें उनकी एक ही दो उक्तियों पर नहीं बल्कि उनकी सब रचनाओं पर एक साथ विचार करना होगा। ऐसा करने से इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि वे पूर्ण अद्वैती थे। वस्तुतः पूर्ण अद्वैत में कबीर का इतना अटल विश्वास है कि वे उस परमतत्त्व को कोई नाम देना भी पसंद नहीं करते, क्योंकि ऐसा करने से नाम और नामी में द्वैतभाव हो जाने की आशंका हो जाती है—

"उनको नाम कहन को नाहीं, दूजा धोखा होई[2]।"

---

(१) क० ग्रं०, पृ० २०१, २३२।
(२) क० श०, भा० १, पृ० ६८।

जो तर्क से द्वैत-सिद्धि करना चाहते हैं उनकी वे मोटी अक्ल मानते थे—

"पहि कबीर तरक दुइ साधै, तिनकी मति है मोटी[1] ।"

मुमुक्षु की दृष्टि से मोक्ष जीवात्मा का परमात्मा में घुल-मिलकर एकाकार हो जाना है। इस मिलन में भेद-ज्ञान जरा भी नहीं रहता। कबीर आदि संतों ने वेदांत का अनुसरण करते हुए इस मिलन को बूँद के सिंधु में, नमक के जल में तथा जल में रखे हुए घड़े के (घटाकाश दृष्टांत के अनुरूप) फूट जाने पर उसके भीतर के पानी के बाहर के पानी से मिल जाने के दृष्टांतों द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है। इन दृष्टांतों से कोई यह न समझ ले कि इस मिलन में आत्मा को परमात्मा से कम महत्त्व दिया गया है। इसलिये कबीर ने बूँद और समुद्र का एक दूसरे में पूर्णतः मिल जाना कह

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हेराइ।
बूँद समानी समुद में, सो कत हेरी जाइ॥
हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हेराइ।
समुद समाना बूँद में, सो कत हेर्या जाइ[2]॥

परंतु मुक्त पुरुष के दृष्टि-कोण से मिलन का सवाल ही नहीं उठता। क्योंकि कभी भेद तो था ही नहीं जिससे मुक्ति होने पर मिलन कहना संगत ठहरे। मोक्ष तो केवल दोनों की नित्य अद्वैतता की अनुभूति मात्र है, जिससे अज्ञान का आवरण मनुष्य को वंचित रखता है। इसी लिये कबीर ने अपनी मुक्ति के संबंध में परमात्मा के प्रति ये उद्गार प्रकट किए थे—

राम ! मोहि तारि कहाँ लै जैहौ।
सो बैकुंठ कहौ धौं कैसा, करि पसाव मोहिं दैहौ॥

---

(१) क० ग्रं०, पृ० १०५, २४।
(२) वही, पृ० १७, ७, ३ और ४।

जो मेरे जिउ दुइ जानत है। तो मोहि मुकति बतावौ।
एकमेक है रमि रह्या सबन में तौ काहे कौ भरमावौ॥
तारन तिरन तब लग कहिए, जब लग तत्त न जाना।
एक राम देख्या सबहिन में, कहै कबीर मन माना[1]॥

इस गहन अनुभूति की झलक इस श्रेणी के संतों की वाणियों में यत्र-तत्र मिल जाती है, क्योंकि वे दादू के शब्दों में अपने ही अनुभव से इस बात को जानते थे कि—

जब दिल मिला दयाल सों, तब अंतर कछु नाहिं।
जब पाला पानी कौं मिला त्यौं हरिजन हरि माहिं[2]॥

आत्मानंद में लीन दादू को सहज रूप पर-ब्रह्म को छोड़कर और कोई कहीं दिखलाई ही नहीं देता है—

सदा लीन आनंद में, सहज रूप सब ठौर।
दादू देखे एक कौ, दूजा नाहीं और[1]॥

इसी स्वर में मलूकदास भी कहते हैं—

साहब मिलि साहब भए, कछु रही न तमाई।
कहैं मलूक तिस घर गए, जहँ पवन न जाई[3]॥

भीखा भी कहते हैं—

भीखा केवल एक है, किरतिम भया अनंत[4]।

इस अद्वैतानंद की जगजीवनदास ने इस प्रकार उत्साहपूर्ण अभिव्यंजना की है—

आनंद के सिंध में आन बसे, तिनको न रह्यो तन को तपनो।
जब आपु में आपु समाय गए, तब आपु में आपु लह्यो अपनो॥

---

(१) क० ग्रं०, पृ० १०१, ५२।
(२) सं० बा० सं०, भाग १, पृ० ८२।
(३) बानी (ज्ञानसागर), पृ० ४२-४३।
(४) सं० बा० सं०, भाग २, पृ० १०४।
(५) वही, भाग १, पृ० २१३।

जब आपु में आपु लख्यो अपनो तब आपन्हीं आप रह्यो अपनो ।
जब ज्ञान को भान प्रकास भयो जगजीवन होय रह्यो सपनो[1] ॥

सुंदरदास को तो शांकर अद्वैत का पूर्ण शास्त्रीय ज्ञान था जो उनकी रचनाओं से पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है। अद्वैत ज्ञान के संबंध में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

परमातम अरु आतमा, उपज्या यह अविवेक ।
सुंदर भ्रम थें दोय थे, सतगुरु कीए एक[2] ॥

परंतु शिवदयाल, प्राणनाथ आदि अन्य संत यद्यपि इस बात को मानते हैं कि जीवात्मा का अंततः परमात्मा में निवास है फिर भी वे यह नहीं मानते कि वह पूर्ण ब्रह्म है। उनके अनुसार जीवात्मा भी परमात्मा है अवश्य, परंतु पूर्ण नहीं। परमात्मा अंशी है और जीवात्मा अंश। प्राणनाथ कहते हैं—

१. अंशांशि संबंध

यत कहूँ इसक बात, इसक सबदातीत साख्यात ।...
ब्रह्म सृष्टि ब्रह्म एक अंग, ये सदा अनंद अतिरंग[3] ॥

अर्थात् सृष्टि अत्यंत आनंदमय प्रेम-स्वरूप परमात्मा का एक अंग मात्र है। शिवदयाल ने अद्वैतवादी वेदांतियों के संबंध में कहा है कि सत्य पुरुष के पास से आनेवाली अंशरूप जीवात्मा (सुरत) का वे रहस्य नहीं जानते—

सुरत अंश का भेद न पाया। जो सतपुरुष से आन समाया[4] ॥

रायबहादुर शालिग्राम ने भी अपनी प्रेमबानी में कहा है—

जीव अंस सत पुरुष से आई ।... ...
पुरुष अंस तू धुरपद से आई। तिरलोकी में रही गुँसाई[5] ॥

(१) सं० बा० सं०, भाग २, पृ० १४१ ।
(२) वही, भाग १, पृ० १०७ ।
(३) 'ब्रह्मवानी', पृ० १ (खोज रिपोर्ट) ।
(४) 'सार बचन', भा० १, पृ० ८९ ।
(५) 'प्रेमबानी', भा० १, पृ० ५४ ।

शिवदयाल ने आत्मा और परमात्मा का भेद इस तरह स्पष्ट किया है—

> भक्ति और भगवत एक हैं, प्रेम रूप तू सतगुरु जान।
> प्रेम रूप तेरा भी भाई सब जीवन को येही जान॥
> एक भेद यामें पहिचानो, कहीं बुंद कहीं लहर समान।
> कहीं सिंध सम करे प्रकासा, कहीं सोत औ पोत कहान[1]॥

सुरत (जीवात्मा) और राधास्वामी (परमात्मा) मूल-स्वरूप में अवश्य एक हैं परंतु विस्तार अथवा महत्ता में नहीं। सुरत भी प्रेम-स्वरूप है, परंतु राधास्वामी तो प्रेम का भंडार ही है[2]। अगर सुरत जल की बूँद है तो परमात्मा समुद्र। जिस प्रकार सागर की एक बूँद में सागर के सब गुण विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार जीवात्मा में भी परमात्मा के सब गुण विद्यमान हैं, परंतु कम मात्रा में।

शाहजादा दाराशिकोह के प्रश्नों के उत्तर में बाबालाल ने भी इस संबंध में अपना मत बहुत स्पष्टता के साथ प्रकट किया है। दारा शिकोह ने पूछा—"क्या जीवात्मा, प्राण और देह सब छाया मात्र हैं?" बाबालाल ने उत्तर दिया—"जीवात्मा और परमात्मा मूल-स्वरूप में एक समान हैं और जीवात्मा उसका एक अंश है। उनके बीच वही संबंध है जो बुंद और सिंधु में। जब बुंद सिंधु में मिल जाता है तो वह भी सिंधु ही हो जाता है।" इससे भी जब दारा शिकोह का पूरा समाधान न हुआ तो उसने फिर पूछा—"तो फिर जीवात्मा और परमात्मा में भेद क्या है?" इसके उत्तर में बाबालाल ने कहा—"उनमें कोई भेद नहीं है। जीवात्मा को हर्ष-विषाद की अनुभूति इसलिये होती है कि वह पांचभौतिक शरीर के बंधन में

---

(१) 'सारवचन', भाग १, पृ० २२६।

(२) वह भंडार प्रेम का भारी जाका आदि न अंत देखात।
—'सारवचन', भाग १, पृ० २२७।

न तो अद्वैतधारा के अंतर्गत आते हैं और न बावालाल तथा नानक के अनुयायी हैं, अंश का अर्थ वस्तुतः अंश नहीं लेते, बल्कि अंश तुल्य। उनके लिये अंशांशि भाव केवल एक अनुपात की ओर संकेत करता है। परमात्मा के सामने जीव वैसा ही है जैसे समुद्र के सामने बूँद। जीवात्मा परमात्मा के एक लघु से लघु अंश के बराबर है। जीवात्मा के सम्मुख परमात्मा कितना बड़ा है, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह जीव का स्वामी और भाग्य-विधाता है। जीव परमात्मा न होकर परमात्मा का है।

इन दोनों मतों में जो भेद है वह उनके मुक्ति-संबंधी विचारों से और भी स्पष्ट हो जाता है। नानक और बावालाल के अनुसार मोक्ष होने पर जीवात्मा परमात्मा में इस प्रकार घुल-मिल जाता है कि जीवात्मा की कोई अलग सत्ता ही नहीं रह जाती। दोनों में जरा भी भेद नहीं रहने पाता।

परंतु शिवदयाल का दृष्टिकोण इससे बिलकुल भिन्न है। उनके मतानुसार मुक्ति होने पर सुरत (जीवात्मा) की अलग सत्ता बिलकुल नष्ट नहीं हो जाती, हाँ राधास्वामी (परमात्मा) के चरणों में उसे अनंत चिन्मय जीवन अवश्य प्राप्त हो जाता है। वे भी सुरत की उपमा बूँद से और राधास्वामी की सागर से देते हैं और इस तरह मोक्ष की प्राप्ति पर सिंधु और बूँद का मिलन मानते हैं। परंतु बूँद सिंधु में समाकर उसके साथ अभेद रूप से एक नहीं हो जाती। 'समाना' के स्थान पर उनके ग्रंथों में 'धँसना' क्रिया का भी प्रयोग हुआ है। धँसने का तात्पर्य है किसी वस्तु में प्रविष्ट होकर उसमें अपने लिये स्थान कर लेना। शिवदयालजी का मत यह मालूम होता है कि सागर में जलराशि का वह परिमाण जो भाप होकर कभी नहीं उड़ता राधास्वामी है और जो बूँदें प्रति पल उसमें से उड़ती तथा उसमें मिलती रहती हैं, वे सुरत हैं। ये बूँदें

देखने में तो उस मूल जलराशि में मिल गई हैं, परंतु फिर भी हम देख पावें चाहे न देख पावें, हैं तो वे वहाँ ही। मुक्त सुरत राधा-स्वामी के साथ सायुज्य-सुख भोगा करते हैं और अनंत काल तक उनकी शरण में विश्राम पाते हैं। धरनी ने भी निम्नांकित रूपक में यही बात कही है—"छुटो मजूरी, भए हजूरी साहिब के मन-माना[1]" (हजूरी=हुजूर में रहनेवाला, दरबारी)। **प्रेम पहेली** और **तारतम्य** के जो अवतरण नागरी-प्रचारिणी सभा की दिल्ली की खोज (अप्रकाशित) में दिए हुए हैं, उनको पढ़ने से मालूम होता है कि प्राणनाथ के अनुसार मोक्ष उस चिद्रूप लीला में सम्मि-लित होकर सहायक होने का सौभाग्य प्राप्त करना है, जिसमें 'ठाकुर' और 'ठकुराइन' अपने धाम में निरंतर निरत हैं। यह भी इसी बात का सूचक है कि अंत में भी प्राणनाथ जीवात्मा पर-मात्मा में स्पष्ट भेद मानते हैं।

इस प्रकार इस श्रेणी के संतों का मत है कि जीवात्मा की चरमावस्था परमात्मा के साथ सभेद मिलन है। अंत तक परमात्मा परमात्मा ही रहता है और जीव जीव ही; दोनों का भेद कभी नष्ट नहीं होता।

कबीर सदृश अद्वैतवादी के मतानुसार यह मत भ्रामक है, क्योंकि यह पूर्ण ब्रह्म का अपूर्ण स्वरूप है। इसके अनुसार अखंड ब्रह्म या तो इतनी जीवात्माओं में विभाजित हो जाता है या परब्रह्म परमात्मा के अतिरिक्त और वस्तुओं (जीवात्माओं) की भी सत्ता मान ली जाती है। और इस प्रकार अखंड पूर्ण ब्रह्म की अखंडता और पूर्णता व्यवधान में पड़ जाती है। अतएव उनके अनुसार ऐसे संतों की साधना अधूरी है। उन्हें अभी अपनी पूर्ण सत्ता का ज्ञान नहीं हुआ है, जैसा दादू ने कहा है—

(१) 'बानी', पृ० १४।

खंड खंड करि ब्रह्म को पख पख लीया बाँटि ।
दादू पूरण ब्रह्म तजि बँधे भरम की गाँठि[1] ॥

परंतु स्वयं इन अंशांशि भाववालों के अनुसार बात ऐसी नहीं है। वे भी इस बात की घोषणा करते हैं कि परमात्मा अखंड और पूर्ण है। जैसा प्राणनाथ कहते हैं, इश्क—जो सब संतों के लिये परमात्मा का ही दूसरा नाम है—अखंड, चिरंतन और नित्य है—"इसक अखंड हमेशा नित्त[2]"। जिस प्रकार समुद्र में की कुछ बूँदों के भाप बनकर उसमें से उड़ जाने से या कुछ और बूँदों के उसमें गिरकर मिल जाने से कुछ अंतर नहीं आता उसी प्रकार परमात्मा में भी जीवात्माओं के वियुक्त अथवा संयुक्त होने से कोई अंतर नहीं आता। दो वस्तुएँ केवलावस्था में एक होकर ही एक नहीं कहलातीं, एक समान होने से तथा एक में मिल जाने से भी एक कहलाती हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि उस ऐक्यावस्था से, चाहे वह किसी प्रकार का ऐक्य हो, आत्मा और परमात्मा वियुक्त कैसे होते हैं। शिवदयाल ने इस प्रश्न पर प्रकाश डालने के लिये सुरत और राधास्वामी के बीच एक संवाद कराया है। सुरत को इसका कारण समझाते हुए राधास्वामी कहते हैं—

"सुनो सुरत तुम अपना भेद। तुम हम थे थीं सदा अभेद ॥
काल करी हम सेवा भारी। सेवा वस होय कुछ न विचारी ॥
तुमको माँगा हमसे उसने। सौंप दिया तुम्हें सेवा वस में ॥"

सुरत—"सेवा वस तुम काल को, सौंप दिया जब मोहि।
तो अब कौन भरोस है, फिर भी ऐसा होइ !"

---

(१) 'बानी' (ज्ञानसागर), पृ० ११०।
(२) 'प्रेमपहेली', पृ० ४ (खोज रिपोर्ट)

राधास्वामी—"जान बूझ हम लीला ठानी। मौज हमारी हुइ सुन बानी॥
काल रचा हम समझ बूझ के। बिना काल नहिं रौफ जीव के॥
कदर यास नहिं बिना काल के। मौज उठी तब अस दयाल के॥
दिया निकाल काल को हाँ से। दरस काल अब कभी न हाँ से॥
काल न पहुँचे उसी लोक में। अब न करूँ ऐसी मौज मैं।
एक बार यह मौज जरूर। अब मतलब नहीं डालो दूर॥
तू शंका मत कर अब चित में। चलो देश हमरे रहो सुरत में[1]॥

इसके अनुसार अपनी 'मौज' अथवा लीलामयी स्वतंत्र इच्छा के कारण राधास्वामी (परमात्मा) सुरत (जीवात्मा) को अपने से वियुक्त कर कालपुरुष (यम) को सौंप देता है। अन्यथा जीव दयाल की दया के महत्त्व को नहीं समझ पाता। 'इसी दया के महत्त्व को प्रकट करने के उद्देश्य से कालपुरुष की भी रचना हुई है। जब सुरत को दयाल की दया का महत्त्व मालूम हो जाता है तब वह काल के फंद से छुड़ा लिया जाता है और उसे फिर परमात्मा के शाश्वत समागम का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है।

प्राय: सभी धार्मिक दर्शनों में वियोग का यही कारण बतलाया जाता है। विशिष्टाद्वैतियों तथा भेदाभेदियों के लिये यह वास्तविक कारण है और इस संबंध में वह उनकी जिज्ञासा को भी शांति कर देता है। परंतु अद्वैतवादियों के अनुसार तो वियोग भी केवल एक व्यावहारिक सत्य है। पारमार्थिक रूप में तो कभी वियोग हुआ ही नहीं था। इसलिये वियोग का यह कारण भी व्यावहारिक ही हो सकता है। इसका उपयोग केवल उन्हीं लोगों को समझाने के लिये किया जा सकता है जो अभी अज्ञान के आवरण को नहीं हटा पाए हैं।

---

(१) सारवचन, भाग १, ७७-८२।

(२) प्राचीन भारत में स्त्रियाँ

[लेखक—कुमारी रामप्यारी शास्त्री, बी० ए०, कोटा]

ऐसा विश्वास प्रचलित है कि आर्य शास्त्रों में स्त्रियों का स्थान बहुत नीचा है। निस्संदेह किसी समय कई कारणों से भारत में स्त्रियों की स्थिति में बहुत परिवर्तन आ गया था। परंतु स्त्रियों की परिस्थिति सदा से ही ऐसी नहीं रही। मध्यकालीन संकटों के कारण सच्छास्त्रों की चर्चा छूट गई थी और सामाजिक नियमों तथा मर्यादाओं में घोर रूपांतर हो गया था। फलतः अनेक कुरीतियों का प्रादुर्भाव हुआ और लोग शास्त्रों को भी अपनी हीन दशा का प्रतिबिंब समझने लगे।

मनु ने एक वाक्य में संक्षिप्त रीति से बतलाया था कि आर्य-समाज में स्त्रियों का क्या स्थान होना चाहिए और पिता, पति तथा पुत्रों का उनके प्रति क्या कर्त्तव्य है[1]। परंतु आदर्श मर्यादाओं को भुला देने के कारण लोग इसका यह अर्थ करने लगे कि पिता के घर में, विवाह होने पर पति के घर में और यहाँ तक कि वृद्धा हो जाने पर पुत्रों के समय में भी स्त्रियों को किसी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं होनी चाहिए।

प्राचीन इतिहास को देखने से विदित होता है कि स्मृतिकार का यह वाक्य वास्तव में आर्य-परिवार तथा आर्य-समाज में स्त्रियों के ऊँचे स्थान का स्मारक है।

उचित रीति से पुत्री का लालन-पालन करना, उसकी शिक्षा का पूर्ण प्रबंध करना तथा ब्रह्मचर्य व्रत को पूर्ण करने के पश्चात् योग्य

(१) पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति॥

वर से विवाह करना पिता का परम कर्त्तव्य था। इसी लिये तो मनु ने कहा था—'पिता रक्षति कौमारे'।

पिता अपनी पुत्री की शिक्षा के लिये उतना ही चिंतित रहता था जितना पुत्र के विषय में। आर्यावर्त आदिकाल से ही शौर्य तथा ज्ञान-प्रधान देश रहा है। माता-पिता अपनी संतान को इन गुणों से सुशोभित करने का प्रयत्न किया करते थे। प्राचीन आर्य-साहित्य में पुत्रियों के लिये दो प्रकार का शिक्षा-क्रम देखने में आता है। एक क्रम को पूरा करनेवाली सद्योद्वाहा कहलाती थीं और दूसरे क्रम के अनुसार शिक्षा पानेवाली ब्रह्मवादिनी[1]। इन दोनों प्रकार की पुत्रियों के लिये पाठ्य-क्रम पृथक् पृथक् होते थे।

सद्योद्वाहा वे होती थीं जिनको साधारण शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् विवाह हो जाया करता था। उन्हें प्रायः सुयोग्य गृहिणी, सुयोग्य पत्नी तथा सुयोग्य माता बनने की ही शिक्षा दी जाती थी। गृहस्थ-संबंधी सब ज्ञान उन्हें करवाया जाता था। सद्योद्वाहा कन्याओं को तीन प्रकार की शिक्षा दी जाती थी—धार्मिक, पारिवारिक तथा सामाजिक। इस पाठ्य-क्रम के अनुसार कन्याओं को लगभग आधुनिक मैट्रिक अथवा इंटरमीडिएट के बराबर तो योग्यता अवश्य हो जाती रही होगी। गृहस्थाश्रम में अनेक यज्ञों में उन्हें सम्मिलित होना पड़ता था; उन्हीं पर संध्या-वंदन, यज्ञ, पूजा-पाठ, व्रत-उपवास आदि का सारा भार होता था। अतः उन्हें सच्छास्त्रों का अध्ययन तथा मंत्रों का सस्वर उच्चारण करना विधिपूर्वक सिखाया जाता था[2]। परिष्कृत, परिमार्जित तथा प्रांजल भाषा में अपने हार्दिक भावों का पत्र द्वारा प्रकटीकरण गृहिणियों का एक अलंकार माना जाता था। वे गद्य तथा पद्य लिखने में यथोचित

---

(१) हारीत, २१-२०-२३।

(२) वात्स्यायन सूत्र, २०, २१।

योग्यता प्राप्त करती थीं। गणित का ज्ञान भी उनके लिये आवश्यक था; क्योंकि अपने भावी जीवन में उन्हीं को घर की आय तथा व्यय का ब्योरा रखना पड़ता था। आर्य-शास्त्रों ने शिशु-पालन को बड़ी महत्ता दी है। आर्य लोग सोलह संस्कारों द्वारा अपने शरीर तथा आत्मा को सुसंस्कृत करते थे। इन सोलह संस्कारों में से दस का बच्चे के साथ संबंध है[1]। पुत्रियों के लिये शिशु-पालन का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक समझा जाता था। इसके साथ साथ कन्याओं को धात्री-शिक्षा से भी अनभिज्ञ न रखा जाता था। शरीर-विज्ञान तथा पाक-शास्त्र की पंडिता भी वे अवश्य होती रही होंगी। इन विषयों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किए बिना 'जीवेम शरदः शतम्' का पाठ व्यर्थ प्रतीत होता है।

आजकल की भाँति पूर्व काल में भी स्त्री तथा पुरुष दोनों के लिये 'क्लब' (गोष्ठी) होते थे। कुमारी कन्याओं में इतनी योग्यता पैदा की जाती थी जिससे वे इनमें सम्मिलित हो सकें। कुमारी का गोष्ठी-प्रिय होना एक आवश्यक गुण समझा जाता था। इन गोष्ठियों में साहित्य तथा काव्य की चर्चा हुआ करती थी। अनेक प्रकार की कलाओं का प्रदर्शन होता था। गायन, वादन, नृत्य, कविता-निर्माण तथा चित्र-लेखन आदि कलाएँ उनका आभूषण थीं। राजा से लेकर रंक तक सभी अपनी पुत्रियों को इन कलाओं की

---

(१) Institutes of Vishnu 7·113, 114. (S. B. E.) Grihyasutras 25-4; 49-51; 210-14; 281-3. (S. B. E.)

अथर्ववेद, ६७, २६२, ५०२। उपनिषद्, २२३। जैनसूत्र, १६२-२२५। मनुस्मृति, २–२६, ३६।

(२) वात्स्यायन-सूत्र, १३, १५।

शिक्षा देते थे। बृहन्नला नामधारी अर्जुन ने मत्स्य-नरेश विराट की पुत्री उत्तरा और उसकी सखियों को गायन, वादन तथा नृत्य सिखाया था[१]।

जिस प्रकार ब्रह्मचारियों के पाठ्य-क्रम के तीन भेद थे उसी प्रकार ब्रह्मचारिणियों के भी तीन भेद अवश्य रहे होंगे[२]। एक वे जिनका, साधारण शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात्, विवाह होता था। दूसरी वे जो ऊँची शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होती थीं। इनके अतिरिक्त तीसरी श्रेणी की वे ब्रह्मचारिणियाँ होती थीं जिनका, चिरकाल तक सांगोपांग वेद-शास्त्र तथा दर्शन आदि अध्ययन कर लेने के उपरांत, विवाह होता था। इनमें से भी अनेक आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके तपश्चर्या द्वारा जीवन व्यतीत करती थीं। इस प्रकार उच्च शिक्षा प्राप्त करनेवाली महिलाओं को ब्रह्मवादिनी कहा जाता था।

भारतवर्ष ने सदा से ही धर्म को प्रधानता दी है। अध्ययन में ब्रह्म-परायणता मुख्य मानी जाती थी। चाहे कोई किसी भी विषय का विद्वान् क्यों न हो उसके लिये ब्रह्मविद्या आवश्यक थी। ब्रह्मविद्या में ही सब विद्याओं का समावेश समझा जाता था। इसी लिये तो केवल ब्रह्म-परायण विद्वानों को ही नहीं वरन् कृषि, संगीत, नाटक, चिकित्सा आदि भिन्न भिन्न विषयों के पारद्रष्टा विद्वानों को भी ऋषि तथा मुनि की उपाधि दी जाती थी। चिकित्सा-शास्त्र के परम विद्वान् चरक, सुश्रुत, अश्विनीकुमार तथा धन्वन्तरि आदि ऋषि कहलाते थे। संगीताचार्य नारद मुनि थे। नाट्य-शास्त्र के प्रणेता भरत भी मुनि कहलाते थे। इतना ही नहीं वरन् काम-शास्त्र के रचयिता वात्स्यायन भी ऋषि थे। किसी समय योरपमें

(१) महाभारत-विराटपर्व, ८–१०, १४।
(२) मनुस्मृति, ३–२।

भी दर्शन तथा वैद्यक को प्रधानता दी जाती थी और, इसी पुरातन प्रणाली के अनुसार अब भी साहित्य, इतिहास, गणित, विज्ञान, अर्थ-शास्त्र, कृषिविद्या आदि किसी भी विषय के विद्वान् को डी० फिल० अथवा पी-एच० डी० अर्थात् ब्रह्मवादी की उपाधि से ही अलंकृत किया जाता है। वास्तव में पी-एच० डी० या ब्रह्म-वादिनी का एक ही अर्थ है। प्राचीन भारत में भिन्न भिन्न विषयों की विदुषी स्त्रियाँ ब्रह्मवादिनी कही जाती थीं। उनको वर्तमान विश्वविद्यालयों की भाषा में पी-एच० डी० या डॉ० फिल० कहा जा सकता है। प्राचीन साहित्य में विशेषतः पंद्रह ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के नामों का उल्लेख है[1]। इनके अतिरिक्त अनेक और भी ब्रह्म-वादिनी स्त्रियाँ हुई होंगी जिनका अभी तक पता नहीं लग सका है। मंत्रद्रष्टा ऋषियों में विश्ववारा का नाम मुख्य है। इस ब्रह्म-वादिनी को वैदिक अग्निहोत्र आदि शुभ कार्यों का विशेष ज्ञान था[2]। घोषा ने स्त्रियों के विषय में अनेक बातों का अनुसंधान किया था। पुत्री पत्नी तथा माता के रूप में स्त्री का कर्त्तव्य, धर्म समाज राजनीति तथा परिवार में स्त्रियों का स्थान, ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ आश्रम में स्त्री के कर्त्तव्य, विवाह की आवश्यकता और विवाह के प्रकार इत्यादि के संबंध में गूढ़ विचार इसी ने तत्कालीन भारत के सामने रखे थे[3]। सूर्या ने भी विवाह के विषय में बड़ी गवेषणा की थी[4]। दान की महिमा—उत्तम, मध्यम, निकृष्ट तथा सात्त्विक, राजस और तामस दान के प्रकार, दान में कुपात्र तथा सुपात्र का विचार,

---

(१) लोपामुद्रा, विश्ववारा, शाश्वती, अपाला, घोषा, वाक्, शतरूपा, सूर्या, दक्षिणा, जूहू, रात्रि, गोधा, श्रद्धा, शची, सर्पराज्ञी।

(२) ऋग्वेद, अनु० २, सूक्त २८।

(३) वही, ३१, ४०।

(४) वही, १०—८५।

निष्काम दान की महत्ता तथा सकाम दान की निकृष्टता इत्यादि—को ब्रह्मवादिनी दक्षिणा ने ही सबसे प्रथम समझा था और दूसरों को इसका उपदेश किया था[1]। वैदिक कर्मकांड का महत्त्व पहले पहल ब्रह्मचारिणी जुहू को मालूम हुआ था। ब्रह्मचारिणी ब्रह्मवादिनी गार्गी ने महर्षि याज्ञवल्क्य के साथ विद्वत्ता-पूर्वक शास्त्रार्थ किया था। इसकी कथा उपनिषदों में प्रसिद्ध है। एक बार राजर्षि जनक ने बहुदक्षिण नामक यज्ञ किया। कुरु, पांचाल आदि सब देशों से ब्रह्म-परायण विद्वान् उस यज्ञ में सम्मिलित हुए। विदेहराज यह जानना चाहते थे कि उनमें से कौन सबसे अधिक ब्रह्म-परायण है। उन्होंने दस सहस्र गाएँ मँगवाकर, उनके सींगों पर स्वर्णमुद्राएँ बाँधकर, एकत्र ब्राह्मणों से कहा कि जो कोई अपने को सबसे अधिक ब्रह्मिष्ठ समझे वह इन गायों को ले सकता है। किसी भी ब्राह्मण ने जब इन्हें लेने का साहस न किया तब महर्षि याज्ञवल्क्य खड़े हुए। अन्य सब महर्षि बड़े क्रुद्ध हुए और उनकी परीक्षा लेने के लिये अनेक प्रकार के प्रश्न करके उन्हें हराने का प्रयत्न करने लगे पर जब उनमें से कोई भी उन्हें परास्त न कर सका तब गार्गी खड़ी हुई। इस देवी ने प्रश्नों की एक श्रृंखला बाँध दी। उसकी विद्वत्तापूर्ण प्रश्नावली, अलौकिक प्रतिभा तथा अद्वितीय तर्क-शक्ति से याज्ञवल्क्य घबरा उठे और उन्होंने बड़े सुंदर शब्दों में अपनी पराजय को स्वीकार किया[2]। मंडन मिश्र तथा शंकर में जब शास्त्रार्थ हुआ तब उसमें मध्यस्थ के आसन को मंडन मिश्र की विदुषी भार्या भारती ने अलंकृत किया। ऐसे अद्वितीय विद्वानों के शास्त्रार्थ की मध्यस्था एक परम विदुषी, तर्क-शिरोमणि, सर्वशास्त्रपारगत तथा प्रतिभा-संपन्न महिला ही हो सकती थी। यदि किसी स्थान पर कन्याओं की

---

(१) ऋग्वेद, १०—१०१।

(२) बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय ३, ब्राह्मण १—६।

शिक्षा का पूरा प्रबंध न होता था तो पिता उन्हें पुत्रों के साथ शिक्षा देने में संकोच न करते थे। आत्रेयी ने लव-कुश तथा अन्य ऋषि-कुमारों के साथ महर्षि वाल्मीकि से ब्रह्मविद्या का अध्ययन किया था[१]। बौद्ध काल में भी बुद्धघोषा, संघमित्रा आदि अनेक कवयित्रियाँ तथा टीकाकार और भाष्यकार हो चुकी हैं[२]। अनेक पिताओं को अपनी पुत्रियों की शिक्षा में इतनी रुचि थी कि वे, उनके पढ़ने के लिये, अनेक ग्रंथों की स्वयं रचना किया करते थे। किसी विशेष विषय में उनकी रुचि देखकर उनके नाम पर पुस्तकों का निर्माण करते थे। भास्कराचार्य को अपनी पुत्री के बीजगणित तथा रेखागणित पर इतना गौरव था कि उसने १११४ ई० में अपनी पुत्री लीलावती के नाम पर लीलावती नामक बीजगणित पर एक अद्भुत ग्रंथ लिखा।

कृषि-विद्या तथा चिकित्सा-शास्त्र में भी अनेक स्त्रियाँ निपुणता प्राप्त करती थीं। ब्रह्मवादिनी अपाला ने कृषि के संबंध में अनेक उपयोगी उपायों का आविष्कार किया था। ऊसर तथा अनुर्वर भूमि को कैसे उपजाऊ बनाया जा सकता है इसका पूर्ण ज्ञान इसी ब्रह्मचारिणी को हुआ था। कौन कौन सी खाद डालने से किन किन ऋतुओं में क्या क्या पदार्थ उत्पन्न किए जा सकते हैं तथा बिना ऋतु के भी उस ऋतु के फल, अनाज तथा तरकारियाँ किन किन उपायों से पैदा हो सकती हैं इत्यादि बातों का पता इसी देवी ने लगाया था। इसने अपने पिता की ऊसर भूमि को उपजाऊ तथा हरी-भरी बनाया था[३]। इसके अतिरिक्त इसने चिकित्सा-शास्त्र में भी पांडित्य प्राप्त किया था। जो कुष्ठ रोग आजकल प्रायः असाध्य

---

(१) उत्तर-रामचरित, अंक २।

(२) Heart of Buddhism.

(३) ऋग्वेद, ८-६१

माना जाता है उसकी यह विशेषता तथा सफल-चिकित्सिका थी। इस देवी ने ऐसी औषधियों का आविष्कार किया था जो कुष्ठ, क्षय आदि रोगों को समूल नष्ट कर देती थीं। इसने अपने पिता का कुष्ठ रोग दूर करके उसे पूर्ण स्वस्थ बना दिया था। इसी प्रकार इस देवी ने अन्यान्य अनेक राजरोगों से पीड़ित व्यक्तियों का प्रतिकार किया था[1]।

कितनी ही राजकन्याएँ शास्त्र विद्या तथा राजनीति का विशेष अध्ययन करती थीं। राजा द्रुपद ने अपनी पुत्री द्रौपदी को विधि-पूर्वक नीति शास्त्र का अध्ययन कराया था। द्रौपदी ने इस शास्त्र की शिक्षा बृहस्पति से प्राप्त की थी[2]। पांडवों को युद्ध के लिये प्रेरित करते हुए उसने इस ज्ञान का उपयोग किया था। जब कृष्ण संधि का संदेश लेकर दुर्योधन के पास प्रस्थान कर रहे थे तब उनके साथ द्रौपदी का जो वार्तालाप हुआ था उससे विदित होता है कि वह कितनी नीति-निपुण थी[3]। इसी प्रकार कुंती, गांधारी और विदुला आदि महिलाएँ भी अवश्य राजनीति में निष्णात रही होंगी; अन्यथा कुंती रोमांचकारी संदेश के द्वारा अपने पुत्रों को युद्ध के लिये प्रेरित नहीं कर सकती थी[4], गांधारी अपनी आँखों पर पट्टी बाँधे हुए भी उस राजसभा में सम्मिलित नहीं हो सकती थी जिसमें महायोगी श्रीकृष्ण जैसे चतुर राजनीतिज्ञ पांडवों की ओर से मानो युद्ध का 'अल्टीमेटम' देने के लिये उपस्थित हुए

---

(१) ऋग्वेद ८-९१, ४, ५, ६।
Rgvedic Culture, pp. 248, 249, 350.

(२) महाभारत वनपर्व, १०-४१३।

(३) महाभारत-उद्योगपर्व, ४-२७६-२८०।

(४) वही, ६-२१८-२२१।

थे[1] और विदुला रणांगण से भागे हुए अपने पुत्र में पुनः वीरता का संचार नहीं कर सकती थी[2]। ऋग्वेद में अनेक स्त्री-योद्धाओं का वर्णन है। इससे यह भली भाँति सिद्ध होता है कि युद्ध-कौशल भी स्त्रियों के लिये अनुपयुक्त न समझा जाता था[3]।

अनेक स्त्रियाँ मल्ल-विद्या में भी प्रवीण होती थीं। पंद्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में यद्यपि आर्यों का यथेष्ट पतन हो गया था तो भी स्त्रियों की उन्नति के द्वार बंद न हो पाए थे। विदेशियों के लेखों से विदित होता है कि विजयनगर राज्य में स्त्रियाँ अनेक विभागों में काम करती थीं। अनेक स्त्रियाँ युद्ध-कुशल और मल्ल-विद्या-विशारद थीं। वे राज्य के भिन्न भिन्न पदों पर नियुक्त थीं, राज्य के आय-व्यय का हिसाब रखती थीं। इस अवनति-काल में स्त्रियों का इन दायित्व-पूर्ण पदों पर नौकर होना यह सिद्ध करता है कि उस समय भी स्त्रियों की शिक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता था।

पिता यह तो चाहता ही था कि पुत्री को योग्य शिक्षा मिले पर यहीं उसके कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती थी। जब कन्या पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर चुकती थी और आवश्यक शिक्षा प्राप्त कर लेती थी तब पिता के दूसरे कर्त्तव्य का प्रारंभ होता था और यह था उसके लिये अनुकूल वर की खोज। पुत्री का विवाह करने के लिये पिता सदैव चिंतित रहता था। पुत्री के भावी जीवन को सुखमय, धर्ममय, पुण्यमय तथा समृद्धिमय बनाना पिता

---

(१) महाभारत-उद्योगपर्व, १२६-१-१५।
(२) वही, १३३-१-४५।
(३) ऋग्वेद, १-११७-११। १-११४-१८। १०-३६-८। ५-३०-६। १०-१-१०।

का मुख्य कर्त्तव्य था। राजा तथा रंक, वीतराग तथा साधारण सांसारिक जन सभी पुत्रियों के सुख के लिये चिंताग्रस्त रहते थे। महर्षि कण्व अपनी पुत्री शकुंतला के लिये उतने ही चिंतित थे जितने लोपामुद्रा के पिता विदर्भराज। सीता के लिये राजर्षि जनक की चिंता, द्रुपद या महाराज भीम से किसी प्रकार न्यून न थी। राजाधिराज प्रभाकरवर्धन अपनी पुत्री राज्यश्री का विवाह जब तक योग्य राजकुमार गृहवर्मा से न कर सके तब तक वे अत्यंत चिंतित रहे[1]।

पुत्री के जीवन को सुखी बनाने की अत्यधिक उत्सुकता तथा चिंता का ही परिणाम है कि आज वर तथा वधू की जन्मपत्रियाँ मिलाई जाती हैं, मुहूर्त तथा लग्न दिखाए जाते हैं और अनेक ग्रहों तथा नक्षत्रों की शांति कराई जाती है। कन्याओं के विवाह से पूर्व शिवव्रत, मौनव्रत, तुलसी-सेचन आदि अनेक व्रत तथा उपवास उत्तम वर-प्राप्ति के लिये ही कराए जाते हैं। पुत्री के भावी जीवन को सुखी बनाने की हार्दिक चिंता ही कदाचित् आज बाल-विवाह तथा वृद्ध-विवाह का कारण हुई होगी। पुत्री का उत्कृष्ट वर से विवाह करने के लिये पिता को इतनी चिंता रहती थी कि कभी कभी कन्या के पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत की समाप्ति के पूर्व ही अनुकूल वर मिलने पर उससे कन्या का विवाह कर दिया जाता था। शास्त्रों में भी ऐसे अवसर पर आयु के नियम को शिथिल कर देने का विधान है[2] और विशेष अवस्थाओं में वाग्दत्ता कन्याओं का दूसरे वर के साथ विवाह कर देने की आज्ञा है। किंतु धीरे धीरे समय के परिवर्तन के साथ साथ यह नियम इतना शिथिल हो गया

---

(१) हर्ष-चरित, चतुर्थ उच्छ्वास

(२) मनुस्मृति ९-८८।

कि लोग नन्हीं नन्हीं बच्चियों का विवाह करने लगे। इसी अत्यधिक चिंता ने यह रूप धारण कर लिया।

जैसे-तैसे विवाह कर देना ही पिता का कर्त्तव्य नहीं था किंतु कन्या के वैवाहिक जीवन को सुखी बनाना उसका पूर्ण कर्त्तव्य था। यदि समान गुण, कर्म, स्वभाव से युक्त योग्य वर नहीं मिलता था तो कन्या आजन्म ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करके पितृ-गृह में रहती थी। पिता अपनी पुत्री को आजन्म कुमारी रखना तो स्वीकार कर लेते थे किंतु अयोग्य वर से उसका विवाह कभी न करते थे। इसे वे महापातक समझते थे[1]।

कन्या के भरण-पोषण का पूर्ण प्रबंध पिता तथा भाई करते थे। यों तो पुत्री को पिता की संपत्ति लेने की कभी आवश्यकता ही न पड़ती थी क्योंकि उसके भरण-पोषण का सारा भार पिता अथवा भ्राता पर होता था। पुत्री तथा भगिनी का मान तथा प्रतिष्ठा करना और उनको अपने लिये किसी प्रकार की चिंता न करने देना पिता तथा भ्राता अपना मुख्य कर्त्तव्य तथा परम धर्म समझते थे। बहन भाई से इस विषय में कभी ईर्ष्या नहीं करती थी। इसकी आवश्यकता भी नहीं थी। वह भाई को समृद्धिशाली देखकर प्रसन्न होती थी। भाई जितना ही समृद्धिशाली तथा संपत्तिशाली होता था उतना ही अधिक वह अपने धन से बहन को सुखी रखता था। इसलिये बहन के मन में भाई के साथ पिता की संपत्ति बँटाने की अभिलाषा कभी न होती थी। किंतु जो कन्या आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करती थी वह, कानून की दृष्टि से, पिता की संपत्ति की अधिकारिणी अवश्य थी। पुत्र के अभाव में पुत्री को पैतृक संपत्ति मिलती थी। ऐसी स्थिति में इसकी आवश्यकता भी थी[2]। यदि

(१) मनुस्मृति, ९-८९। ऋग्वेद, ३-५५-१६।
(२) मनुस्मृति, ९-१३०। ऋग्वेद, २-१७-७।

पुत्री के 'पुत्रिका' बन जाने के पश्चात्—अर्थात् उसके संपत्ति की अधिकारिणी बन जाने के उपरांत—पुत्रोत्पत्ति होती थी तो पुत्र तथा पुत्री दोनों का अधिकार समान होता था[१]। मातृ-धन की अधिकारिणी पुत्री होती थी। उसे भगिनी के साथ भाई नहीं बँटा सकता था[२]। दौहित्र तथा पौत्र में किसी प्रकार का भेद नहीं माना जाता था। संपत्ति का अधिकारी अवस्था-विशेष में दौहित्र भी हो सकता था[३]।

कन्या को कभी अरक्षित तथा अनाश्रित नहीं छोड़ा जाता था। यदि कन्या के विवाह से पूर्व ही पिता की मृत्यु हो जाय तो विवाह का सारा भार तथा कन्या के भावी जीवन को सुखी बनाने का उत्तरदायित्व पितामह, भ्राता और माता पर होता था। यदि इनमें से कोई भी न हो तो वंश तथा जाति के अन्य लोग उसका अनुकूल वर के साथ विवाह करना अपना कर्त्तव्य समझते थे।

जो पिता अपनी पुत्री का समय पर विवाह नहीं करते थे वे पापी समझे जाते थे, समाज में उनकी बड़ी निंदा होती थी और लोगों का विश्वास था कि देवता उनसे प्रसन्न नहीं होते[४]। इसी प्रकार पिता के अभाव में पितामह, माता, भ्राता तथा वंश और जाति के अन्य लोग कन्या के प्रति यदि अपना कर्त्तव्य पालन नहीं करते थे और युवती कन्या को निराश्रित छोड़ देते थे तो वे महापापी समझे जाते थे[५]।

---

(१) मनुस्मृति, ६–१३४।

(२) वही, ६–१३१।

(३) वही, ६–१३६, ६–१३२।

(४) महाभारत-वनपर्व, अ० २६, १२२२-१२२३। मनुस्मृति, ६–४।

(५) याज्ञवल्क्य-आचार, विवाह-प्रकरण। नारद-स्मृति, १२-२८, २६, २७। ऋग्वेद, १०-२७-१२।

माता-पिता तथा भ्राता आदि तो पुत्री को सुखी बनाना अपना कर्त्तव्य समझते ही थे किंतु राजा का भी कन्याओं के प्रति बड़ा भारी उत्तरदायित्व था। उनके रक्षण, भरण-पोषण तथा संप्रदान का राजा पूरा निरीक्षण करते थे और यह उनकी दिनचर्या का एक भाग था[१]। परिवार, समाज और राजा तीनों का कर्त्तव्य था कि कन्याओं की सब प्रकार से यथोचित रक्षा करें।

यद्यपि पुत्री का अनुकूल वर से विवाह करना पिता का कर्त्तव्य था और वर की खोज आदि का पूरा उत्तरदायित्व उसी पर था तथापि पिता पुत्री की इच्छा का भी पूर्ण ध्यान रखता था; क्योंकि कन्याओं का विवाह प्रायः उनके पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर चुकने पर किया जाता था। सोलह वर्ष से पूर्व प्रायः कन्याओं का विवाह न किया जाता था। पितृ-गृह में कन्या जब विवाह के योग्य हो जाती थी और अपने हिताहित का निर्णय स्वयं कर सकती थी तब पिता उसका अनुकूल वर के साथ विवाह करता था[२]। ब्रह्मचर्य से ही कन्या समान गुण, कर्म तथा स्वभाव से युक्त सुयोग्य वर को प्राप्त करती थी[३]। अनेक वैवाहिक मंत्र भी इसी का प्रतिपादन करते हैं[४]। अश्मारोहण के समय पति जो मंत्र पढ़ता है उसका भाव तथा अन्य अनेक मंत्रों का सारांश एक युवती वधू ही समझ सकती है[५]। सूर्यपुत्री सूर्या का विवाह उसके पूर्ण यौवन प्राप्त कर लेने पर हुआ था[६] और घोषा का गृहस्थाश्रम में प्रवेश

---

(१) मनुस्मृति, ६–१५२।

(२) ऋग्वेद, ८१–२१, ७२।

(३) अथर्ववेद, ३–१८, १–११७–७, ७–११०–७, १०–३६–३, १०–४०–५।

(४) तैत्तिरीय एकाग्निकाण्डिका, अ० १, ख० ५, सू० ५।

(५) वही, १–६–४,५।

(६) ऋग्वेद, १०–८५–६।

तो उस समय हुआ जब उसकी यौवनावस्था लगभग व्यतीत हो चुकी थी।

विवाह के पूर्व कन्या की बुद्धि परिपक्व हो जाती थी। उसमें अपने हिताहित के विवेक की शक्ति होती थी। उसमें जीवन की इच्छाओं तथा अभिलाषाओं का विकास हो जाता था। वह अपने जीवन को किस प्रकार व्यतीत करेगी, इसकी उमंगें उसके हृदय में होती थीं। जीवन में उसे किस प्रकार के साथी तथा संरक्षक की आवश्यकता होगी, इसका निर्णय वह किसी अंश तक स्वयं कर सकती थी। इसलिए योग्य तथा अयोग्य वर का निर्णय करने का उसे पूर्ण अधिकार था। वह स्वयं अपने लिये वर चुनती थी पर इसका सारा उत्तरदायित्व पिता पर होता था। वर की खोज का पूरा प्रबंध पिता करता था। न तो योरप की युवतियों की भाँति कन्याएँ वर-प्राप्ति के लिये मारी मारी फिरती थीं और न उनके वर की खोज किया करते थे आजकल के नाई और पुरोहित। उन्हें न तो अनाश्रित छोड़ा जाता था और न उनकी अभिलाषाओं तथा आकांक्षाओं की ही अवहेलना की जाती थी। इस समय योरप में एक ओर 'अति' हो रही है तो भारत में दूसरी ओर। इन दोनों का सुंदर तथा सुमधुर समन्वय किया था प्राचीन भारत ने, जहाँ पर कन्याओं के विवाह का पूर्ण उत्तर-दायित्व पिता पर होते हुए भी कन्या वर का चयन स्वयं करती थी। स्वयंवर प्राचीन आर्यों की बड़ी अद्भुत संस्था थी। इसका सब प्रबंध तो पिता करता था किंतु वर का चयन कन्या स्वयं करती थी। कभी कभी पिता की ओर से ऐसी शर्त रख दी जाती थी जिसको पूरी करनेवाले को कन्या वर रूप से स्वीकार कर लिया करती थी। यह रखते समय भी पिता पुत्री की आकांक्षाओं का पूर्ण ध्यान रखता था। क्षत्रिय अपनी पुत्री का वीर पुरुष के साथ विवाह करता

था और ब्राह्मण विद्वान् के साथ। निश्चित शर्त को पूरी करनेवाला युवक यदि अयोग्य हुआ तो पुत्री को उसे अस्वीकृत करने का भी अधिकार था। द्रौपदी के स्वयंवर में जब सूतपुत्र कर्ण ने द्रुपद की शर्त को पूरा कर दिया तब उसने तुरंत कह दिया कि मैं सूतपुत्र के साथ कभी विवाह न करूँगी[१]। पर जब पार्थ मछली की आँख का वेधन करने में सफल हुए तब उसने सहर्ष उनके गले में जयमाल पहना दी। मद्राधिपति अश्वपति तथा महाराज हिमालय अपनी पुत्री सावित्री तथा पार्वती के विवाह के लिये सदैव दुःखित तथा चिंतित रहते थे। उनकी पुत्रियों के साथ विवाह करने के लिये किसी ने प्रार्थना नहीं की और वे स्वयं इसलिये प्रार्थना नहीं करते थे कि कहीं उनकी प्रार्थना भंग न हो जाय। इसमें वे अपनी पुत्रियों का बड़ा अपमान समझते थे। इसी भय से किसी से विवाह का प्रस्ताव स्वयं न करते थे। हिमालय ने जब यह देखा कि उसकी पुत्री महादेव के साथ विवाह करना चाहती है तब उसे अभीष्ट वर की प्राप्ति के लिये गौरी-पर्वत पर तपस्या करने की अनुमति दी। अश्वपति ने अपने मंत्रियों तथा बड़े बड़े राजकर्मचारियों को सावित्री के लिये वर खोजने के निमित्त भेजा। सावित्री ने द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान् से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। उस समय सत्यवान् की आयु का केवल एक वर्ष ही अवशिष्ट था। उसके पिता के अंधे हो जाने के कारण उसके शत्रुओं ने उसे राज्य-भ्रष्ट कर दिया था और वह जंगल में निवास करता था। इसलिये सावित्री का पिता नहीं चाहता था कि उसकी पुत्री का विवाह सत्यवान् के साथ हो। किंतु अंत में उसने अपनी पुत्री की इच्छा का अनुमोदन किया और सहर्ष उसे सत्यवान् के साथ ब्याह दिया[२]। इंदुमती तथा दमयंती के स्वयंवर भी इसी के साक्षी

(१) महाभारत-आदिपर्व, ११-३४।

(२) महाभारत-वनपर्व, १२१४-१२४२।

हैं। अनेक राजा महाराजा स्वयंवर में बुलाए गए और प्रत्येक के गुणों का वर्णन इंदुमती के सामने किया गया तब उसने अपने इच्छानुकूल वर स्वीकार किया[1]। दमयंती ने जब से नल के अनेक गुण तथा कीर्ति सुनी थी तभी से वह उसके साथ विवाह करना चाहती थी। इसलिये उसने उसी के साथ विवाह किया और राजा भीम ने भी सहर्ष अनुमति दी[2]। यद्यपि कन्या को इस बात का पूर्ण अधिकार था कि जिसे वह अपने योग्य समझे उसी से विवाह करे तथापि उसे अनाश्रित कभी नहीं छोड़ा जाता था और अनुकूल वर की खोज तथा विवाह आदि का पूरा उत्तरदायित्व पिता पर होता था।

समान गुण-कर्म तथा स्वभावयुक्त वर तथा वधू जब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे तब वे इसे साक्षात् स्वर्ग बना देते थे। पत्नी अपने गुणों के प्रकाश से घर को आलोकित करती थी। वह लक्ष्मी-रूप से पति को समृद्धिशाली तथा ऐश्वर्यवान् बनाती थी। वह सुख तथा शांति का केंद्र थी। वह मूर्तिमती भक्ति तथा श्रद्धा थी। वह सारे धार्मिक कृत्यों का स्रोत थी[3]। वह पति के अपूर्ण यज्ञों को पूर्ण करती थी। पति तथा अन्य संबंधियों का स्वर्ग भी उसी के अधीन था। वह गृह की अधिष्ठात्री देवी थी।

पति तथा पत्नी दोनों परस्पर सखा हैं। सप्तपदी होने के पश्चात् पति पत्नी से कहता है—"तू मेरी परम सखी है। मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि मेरी और तेरी मित्रता अटूट हो। हम दोनों एक दूसरे से प्रेम करें। हमारी अभिलाषाएँ, हमारे विचार, हमारी प्रतिज्ञाएँ, हमारे उद्देश्य और हमारा सुख एक हो। हम दोनों एकता के बंधन से सदैव बँधे रहें। हमारे चित्त, हमारे मन

---

(१) रघुवंश, सर्ग ६।

(२) महाभारत-वनपर्व, १३-४१७-६२२

(३) मनुस्मृति, ६-२६, २८।

तथा हमारे हृदय एक हों[१]। हम सर्वदा एक दूसरे के अनुकूल रहें[२]।" पति पत्नी के स्वातंत्र्य का किसी प्रकार भी अपहरण न करके उसे मित्र के सब अधिकार देता था। प्रेम-संबंध में छुटाई तथा बड़ाई को स्थान नहीं मिलता। मित्रता में अधिकार का प्रश्न ही नहीं उठता। पति तथा पत्नी दोनों शब्द समानता-द्योतक हैं। पत्नी पूर्ण स्वतंत्रता का उपभोग करती थी। पति स्वयं पत्नी से कहता है—"तू घर की सम्राज्ञी है। तू घर के सब सदस्यों पर शासन कर[३]।" परिवार के सब सदस्य सम्राज्ञी की भाँति उसका आदर करते थे। वह सौभाग्य का पुंज थी। पति सौभाग्य के लिये उसे ग्रहण करता था[३]। वह मंगल-कल्याण-मयी तथा सब सुखों की देनेवाली थी[४]। पति तथा परिवार के अन्य सदस्य उससे कल्याण की आकांक्षा रखते थे। पति तथा पत्नी का संबंध अटूट तथा अखंड था। ये दोनों मिलकर ही धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिये प्रयास करते थे और दोनों मिलकर ही उसका उपभोग करते थे[६]। पत्नी को सुखी तथा प्रसन्न रखने में ही पति अपना परम कल्याण समझता था। पति, देवर, पिता, भ्राता इत्यादि सब संबंधी गृहपत्नी का समुचित आदर करते थे। जो जितना इनका मान तथा आदर करता था उसे उतना ही अधिक सुख तथा शांति और कल्याण की प्राप्ति होती थी[७]। वे ही घर देवताओं के

(१) तैत्तिरीय एकाग्निकांडिका, १–३–१४, ऋग्वेद, १०–८५–४७।

(२) पारस्कर गृह्यसूत्र, १–४।

(३) ऋग्वेद, १०–८५–४६।

(४) वही, १०–८५–३६।

(५) वही, १०–८५–४४; १०–७–८५–४५; १०–७–८५–४३; ३–४–५३–६।

(६) मनुस्मृति, ६–१०१, १०२।

(७) वही, ३–५५, ५६।

निवास के योग्य माने जाते थे जहाँ पर स्त्रियों का समुचित सम्मान होता था। समाज में यह विचार प्रचलित था कि जिस कुल में स्त्रियों का आदर होता है उसी में उत्तम संतान की उत्पत्ति हो सकती है[1]। जिस वंश में देवहूति, इला, शतरूपा, ममता, उशिज और लोपामुद्रा के सदृश माताओं का सम्मान तथा पूजन होता था उसी में कणाद, पुरूरवा, उत्तानपाद, दीर्घतमा, काक्षीवान् तथा दढ़स्यु जैसे चमत्कारी बालकों की उत्पत्ति होती थी। तभी तो शास्त्रों ने माता, पिता तथा गुरु में माता को प्रथम आचार्य की पदवी दी है[2]। संपूर्ण गृह-कार्यों का संपादन तथा संचालन तो पत्नी करती ही थी किंतु इसके साथ साथ वह अनेक अन्य कार्यों में भी पूरा भाग लेती थी। प्रत्येक कार्य में पत्नी की सम्मति लेना पति का कर्त्तव्य था, यहाँ तक कि संधि-संदेश लेकर भगवान् कृष्ण जब धृतराष्ट्र के पास गए तब महारानी गांधारी की उपस्थिति संधि-परिषद् में आवश्यक समझी गई[3]। श्रीकृष्ण भी द्रौपदी का संदेश कभी नहीं भूले। भीमसेन आदि पाँचो पांडव द्रौपदी के अपमान का कभी विस्मरण नहीं कर सके। वे सदा इस ताप से जलते रहे। न केवल इसी देश में वरन् पश्चिमीय देशों तक में अधिकतर युद्ध स्त्रियों की सम्मान-रक्षा के लिये ही हुए हैं। पत्नी, माता तथा भगिनी की रक्षा के लिये हँसते हँसते प्राण न्योछावर करना साधारण बात समझी जाती थी। ग्रीस का सबसे बड़ा युद्ध हेलेन के सम्मान तथा प्रतिष्ठा की रक्षा करने के लिये और भारतवर्ष के दो महासमर सीता तथा द्रौपदी के अपमान का बदला लेने के लिये हुए थे। पति का धर्म है कि वह पत्नी को अपने भरण-पोषण आदि की चिंता से सदैव

---

(१) मनुस्मृति, ३-५६, ५७।

(२) बृहदारण्यक उपनिषद्, ४-१।

(३) महाभारत-उद्योगपर्व, १२९।

मुक्त रखे। वस्त्र, आभूषण आदि से स्त्री को सम्मानित करना पंगु तथा अंधे पति का भी प्रथम कर्त्तव्य था[1]। जो पति पत्नी के मान तथा प्रतिष्ठा की रक्षा करता है वही अपनी संतान, धर्म, तथा धन की और अपनी रक्षा समुचित रूप से कर सकता है[2]।

मातृ-पूजा को भारतवर्ष में सदैव से महत्ता दी गई है। पिता यदि सौ आचार्यों से अधिक पूजनीय है तो माता सौ पिताओं की अपेक्षा अधिक पूज्या है[3]। पिता के मरने पर जो पुत्र माता को अनाश्रित छोड़कर उसका भरण-पोषण नहीं करते थे तथा उसकी आज्ञा का पालन नहीं करते थे वे समाज में बड़े निंदनीय समझे जाते थे[4]। पांडवों ने घर में तथा वन में, राजा तथा भिखारी की अवस्था में, अपनी माँ का जो सम्मान किया है वह प्रशंसनीय है। कुंती का शासन सदैव उन पर रहा। उन्होंने भी माता की आज्ञा का कभी उल्लंघन नहीं किया। कुंती ने श्रीकृष्ण द्वारा अपने पुत्रों को यह संदेश भेजा था कि "जिस दिन के लिये क्षत्राणियाँ अपने पुत्रों को जन्म देती हैं वह समय अब आ गया है"। यह संदेश सुनकर ही उनमें क्षात्र-धर्म का संचार हुआ था[5]। माता का संदेश सुनकर ही युद्ध-पराङ्मुख संजय वीरता-पूर्वक शत्रु का सामना करने के लिये उद्यत हुआ था और प्राणपण से युद्ध करके विजयी हुआ था[6]। माता की आज्ञा की अवहेलना उससे न हो सकी। माता के क्रोध का पात्र बनना उसके लिये मृत्यु से भी अधिक भयानक था। छत्रपति

---

(१) मनुस्मृति, ६–६।
(२) वही, ६–७।
(३) वही, २–१४५।
(४) वही, ६–४। महाभारत वनपर्व, २३–११, २२।
(५) महाभारत-उद्योगपर्व, ८–१३८, २२१।
(६) वही, १३३।

शिवाजी को अपनी माता की ओजस्विनी प्रेरणा से राष्ट्रीय संग्राम में बड़ा यश प्राप्त होता था।

केवल पिता, पति तथा पुत्र का ही पुत्री, पत्नी तथा माता के प्रति महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य नहीं था वरन् समाज तथा राजा का भी स्त्रियों के प्रति बड़ा भारी कर्त्तव्य था, जिसका पालन न करने से वे पापी समझे जाते थे। स्त्री का अपमान करनेवाले व्यक्ति को राज्य की ओर से दंड मिला करता था। अनाथ स्त्री का सारा भार समाज पर होता था; उसकी रक्षा करना समाज का कर्त्तव्य था।

स्त्री पुरुष की सच्ची सहायिका, श्रद्धा तथा प्रेम की मंदाकिनी, कुलाचार की सुदृढ़ रक्षिका तथा भावी राष्ट्र की निर्माणकर्त्री है। इसी लिये तो शास्त्रों ने इनकी रक्षा का उपदेश निम्न-लिखित शब्दों में किया है—

> पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
> रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति॥

———

(३) नालंदा महाविहार के संस्थापक

[लेखक—श्री वासुदेव उपाध्याय, एम० ए०, काशी]

इतिहास के प्रेमियों को यह भली भाँति ज्ञात है कि बौद्ध-कालीन शिक्षालयों में नालंदा महाविहार का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण था। इस विहार में भारतीय तथा विदेशीय लोग सुदूर प्रांतों से विद्योपार्जन के लिये आते और नालंदा के नाम से अपने को गौरवान्वित समझते थे। एक समय प्रायः दस सहस्र विद्यार्थी नालंदा में अध्ययन करते थे जिससे इसका नाम बहुत विख्यात हो गया था। इतने विशाल महाविहार के संस्थापकों के विषय में परिचय प्राप्त करना परमावश्यक है। सातवीं शताब्दी के बौद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ने नालंदा महाविहार के जन्मदाता तथा इसके कलेवर के वृद्धि-कर्त्ताओं के नामों का उल्लेख किया है[1]। ये नाम इस प्रकार हैं—(१) शक्रादित्य, (२) बुधगुप्त, (३) तथागतगुप्त, (४) बालादित्य, और (५) वज्र। यह तो निश्चित रूप से ज्ञात है कि ये राजा गुप्त-वंशज थे, परंतु इनका समीकरण आधुनिक काल तक निश्चित रूप से स्थिर नहीं हो पाया है। 'द्विवेदी-अभिनंदनग्रंथ' में पृ० ३१९ पर नालंदा महाविहार के वर्णन के अंतर्गत, विद्वान् लेखक ने इसके संस्थापकों का गुप्त-वंश के कतिपय राजाओं से समीकरण करने का प्रयत्न किया है। अपने समीकरण को लेखक महोदय ने सत्य तथा निःसंदिग्ध

---

(१) बील—ह्वेनसांग का जीवन-चरित, पृ० ११०-११।

माना है। किंतु आज तक की संपूर्ण खोजों तथा लेखों पर विचार किया जाय तो लेखक का समीकरण कसौटी पर नहीं उतरता। विद्वान् लेखक ने यह समीकरण इस प्रकार किया है—(१) शक्रादित्य का कुमारगुप्त से, (२) बुधगुप्त का स्कंदगुप्त से, (३) तथागतगुप्त का पुरगुप्त से, (४) बालादित्य का नरसिंहगुप्त से, और (५) वज्र का कुमारगुप्त द्वितीय से।

यहाँ उन राजाओं के प्राप्त लेखों के आधार पर प्रत्येक समीकरण पर विचार करने का प्रयत्न किया जायगा। यदि पाठक-वर्ग उनकी तिथियों पर ध्यान देंगे तो स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि उपर्युक्त समस्त समीकरण समीचीन नहीं माना जा सकता।

नालंदा महाविहार के जन्मदाता शक्रादित्य तथा गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम की समता मानने में किसी को संदेह नहीं है। प्रथम तो कुमारगुप्त प्रथम से पूर्व किसी गुप्त-नरेश ने 'शक्रादित्य' की पदवी धारण नहीं की थी, दूसरे कुमारगुप्त प्रथम की प्रधान उपाधि 'महेंद्रादित्य' है, जिसका 'शक्रादित्य' पर्यायवाची शब्द हो सकता है। महेंद्र तथा शक्र के अर्थ में समता होने के कारण शक्रादित्य का कुमारगुप्त प्रथम से समीकरण उपयुक्त ज्ञात होता है।

यह तो निश्चित है कि कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र स्कंदगुप्त पिता की मृत्यु के पश्चात् सिंहासनारूढ़ हुआ, परंतु बुधगुप्त का स्कंदगुप्त से समीकरण भारी भूल है। यदि उनके लेखों पर विचार किया जाय तो बुधगुप्त और स्कंदगुप्त के समय में बहुत अंतर दिखलाई पड़ता है। प्रायः सभी प्रसिद्ध ऐतिहासिक पंडितों ने यह स्वीकार कर लिया है कि स्कंदगुप्त (शासन-काल, ई० स० ४५५-४६७) के पश्चात् उसका सौतेला भाई पुरगुप्त राज्य का उत्तराधिकारी हुआ[१]। भितरी

---

(१) राखालदास बैनर्जी—गुप्त लेक्चर, पृ० २१४।

(जि० गाजीपुर, संयुक्तप्रांत) के मुद्रालेख में पुरगुप्त के वंश-वृक्ष का उल्लेख मिलता है[1]। इस लेख के आधार पर यह ज्ञात होता है कि पुरगुप्त के बाद उसका पुत्र नरसिंहगुप्त, तत्पश्चात् कुमारगुप्त द्वितीय क्रमशः गुप्त-राज्य पर शासन करते रहे। बनारस के समीप सारनाथ में दो लेख गुप्त-संवत् १५४ और १५७ के मिले हैं[2]। पहले लेख (गु० सं० १५४) से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त द्वितीय ई० स० ४७३-७४ में शासन करता था[3]। तिथि के अनुसार दूसरे लेख गु० सं० १५७ में उल्लिखित गुप्त-नरेश (बुधगुप्त[4]) ने कुमारगुप्त द्वितीय के बाद शासन की बागडोर हाथ मे ली होगी, या यों कहा जाय कि ई० स० ४७६-७७ में बुधगुप्त शासक था। अतएव उक्त विवेचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि स्कंदगुप्त, पुरगुप्त, नरसिंहगुप्त तथा कुमारगुप्त द्वितीय के शासन-काल के पश्चात् ही बुधगुप्त गुप्त-सिंहासन का उत्तराधिकारी हुआ होगा[5]। इस अवस्था मे बुधगुप्त का स्कंद-

---

(१) महाराजाधिराजकुमारगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो महादेव्यां अनंतदेव्यां उत्पन्नो महाराजाधिराजश्रीपुरगुप्तस्य तत्पादानुध्यातो महादेव्यां श्रीवत्सदेव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराजश्रीनरसिंहगुप्तस्य पुत्रः । तत्पादानुध्यातो महादेव्यां श्रीमतीदेव्यां उत्पन्नो परमभागवतो महाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्तः।

(J. A. S. B. 1889)

(२) आर्क्यालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९१४-१५, पृ० १२४-२५।

(३) वर्षे शते गुप्तानां चतुः पञ्चाशत उत्तरे भूमिं रक्षति कुमारगुप्ते।

(४) गुप्तानां समतिक्रांते सप्तपञ्चाशत उत्तरे शते समानां पृथ्वीं बुधगुप्ते प्रशासित।

(५) कुछ विद्वान् भितरी तथा प्रथम सारनाथ के लेखों में उल्लिखित कुमारगुप्त को गुप्त-सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम मानते हैं। परंतु यह ध्यान रखना चाहिए कि कुमारगुप्त प्रथम ई० स० ४५५ में ही परलोकवासी हो गया था और यह कुमारगुप्त ई० स० ४७३ में राज्य करता था। अतएव इसे कुमारगुप्त द्वितीय ही मानना पड़ेगा।

गुप्त से समीकरण नहीं माना जा सकता। इस गुप्त-नरेश बुधगुप्त के लेखों तथा सिक्कों से निम्न-लिखित चार तिथियाँ ज्ञात हैं—

(अ) सारनाथ का लेख, गु० सं० १५७[1]।

(ब) दामोदरपुर (उत्तरी बंगाल) का ताम्रपत्र, गु० सं० १६३[2]।

(स) एरण (सागर, मध्यप्रदेश) का लेख, गु० सं० १६५[3]।

(द) बुधगुप्त के चाँदी के सिक्के, गु० सं० १७५[4]।

इन तिथियों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि बुधगुप्त ई० स० ४७६-७७ से लेकर ई० स० ४९४-९५ तक शासन करता था। अतः इस अवधि के शासनकर्ता का स्कंदगुप्त (ई० स० ४५५-४६७) से समीकरण करना नितांत भूल है। इस समीकरण के निर्मूल सिद्ध होने के कारण सारी इमारत नष्ट हो जाती है और तथागत-गुप्त का पुरगुप्त से, बालादित्य का नरसिंहगुप्त से तथा वज्र का कुमार-गुप्त द्वितीय से समीकरण नहीं हो सकता।

यदि इन राजाओं के लेखों तथा सिक्कों में उल्लिखित उपाधियों पर विचार किया जाय तो विद्वान् लेखक के समीकरण को कोई व्यक्ति मानने के लिये प्रस्तुत नहीं हो सकता। कुमारगुप्त प्रथम के अतिरिक्त गुप्त-नरेशों की जितनी उपाधियाँ मिलती हैं उन सबका ह्वेनसांग के उल्लिखित राजाओं में अभाव दिखलाई पड़ता है। स्कंद-गुप्त के लेखों में विक्रमादित्य तथा क्रमादित्य की पदवियाँ मिलती हैं[5]; परंतु बुधगुप्त के लिये कोई भी उपाधि नहीं मिलती। इसी प्रकार पुरगुप्त के लिये 'प्रकाशादित्य' (सिक्कों में) और 'विक्रमादित्य'

---

(१) आर्क्यालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९१४-१५, पृ० १२४-१२५।

(२) ए० इं०, जिल्द १५।

(३) फ्लीट—गुप्त लेख, नं० १९।

(४) राखालदास बैनर्जी—गुप्त-लेक्चर, पृ० २४६।

(५) जूनागढ़ का लेख। (गु० ले० नं० १४)

(परमार्थ-कृत वसुबंधु के जीवन-वृत्तांत में) की पदवियाँ प्रयुक्त हैं; परंतु तथागतगुप्त के नाम के साथ इनका सर्वथा अभाव है। बालादित्य का नरसिंहगुप्त से समीकरण करने में विद्वान् इसकी (नरसिंहगुप्त की) पदवी बालादित्य का ही अवलंबन लेते हैं। एलन तथा भट्टशाली महोदय ह्वेनसांग के वर्णित बालादित्य से गुप्त-नरेश नरसिंहगुप्त की समता बतलाते हैं;[1] किंतु इसे मानने में अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं। उसी समय के प्रकटादित्य के सारनाथवाले लेख से ज्ञात होता है कि उसके वंश में कई व्यक्ति बालादित्य के नाम से प्रसिद्ध थे[2]। ऐसी परिस्थिति में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि किस बालादित्य ने हूण राजा मिहिरकुल को परास्त किया, जिसका वर्णन ह्वेनसांग ने किया है[3]। दूसरे यदि ह्वेनसांग के बालादित्य तथा नरसिंहगुप्त के वंशवृक्ष का अवलोकन करते हैं तो दोनों में बड़ी भिन्नता दिखलाई पड़ती है। ह्वेनसांग के वर्णित बालादित्य के पिता का नाम तथागतगुप्त और पुत्र का वज्र था, परंतु भितरी के मुद्रालेख में नरसिंहगुप्त के पिता पुरगुप्त और पुत्र कुमारगुप्त द्वितीय के नामों का उल्लेख मिलता है। इस अवस्था में बालादित्य का नरसिंहगुप्त से समीकरण युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता। इस विवेचन के आधार पर यह ज्ञात होता है कि केवल पदवी की समानता से कोई सिद्धांत स्थिर नहीं किया जा सकता।

इसी संबंध मे एक बात और विचारणीय है। चीनी यात्री ह्वेनसांग के कथन से या बौद्ध महाविहार के संस्थापक होने के नाते शक्रादित्य से लेकर वज्र पर्यंत सभी बौद्ध-धर्मावलंबी थे। यदि

---

(१) एलन—गुप्त-सिक्कों की भूमिका।

(२) फ्लीट-गुप्त-लेख, पृ० २८९।

(३) संभवतः बालादित्य गुप्त राजा भानुगुप्त की उपाधि थी, जिसने एरण के समीप गोपराज के साथ हूणों से युद्ध किया था। उसी स्थान के लेख से उसका नाम भी उल्लिखित है।—गु० ले० नं० २०, ई० स० ५१०।

इनसे समीकरण किए गए गुप्त राजाओं के धर्म पर विचार करें तो समीकरण की पुष्टि नहीं होती। यह तो प्रसिद्ध बात है कि गुप्त-नरेश वैष्णवधर्मानुयायी थे। कुमारगुप्त प्रथम भी वैष्णवधर्मावलंबी था जिसकी पुष्टि उसके लेखों तथा सिक्कों में उल्लिखित 'परमभागवत' की उपाधि[1] तथा गरुडध्वज से होती है[2]। परंतु इस राजा के नालंदा महाविहार के संस्थापक होने से आश्चर्य नहीं होना चाहिए। यदि गुप्त-लेखों का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि गुप्त-काल में दूसरे धर्म भी प्रचलित थे तथा उनके प्रति गुप्त-नरेश उदारता का व्यवहार करते थे। कितने अन्य धर्मानुयायी (अभय, वीरसेन, आम्रकार्दव) गुप्तों के पदाधिकारी थे[3]। ऐसे समय में यदि कुमारगुप्त प्रथम ने नालंदा की संस्थापना की तो वह बौद्ध नहीं कहा जा सकता। स्कंदगुप्त भी परमभागवत कहलाता था[4]। पुरगुप्त तथा नरसिंहगुप्त के विषय में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है; परंतु कुमारगुप्त द्वितीय 'भितरी के मुद्रालेख' में 'परमभागवत' कहा गया है[5]। इस मुद्रा पर गरुड़ की आकृति है जो वैष्णवधर्म का चिह्न है। अतएव यह स्पष्ट प्रकट होता है कि गुप्त राजा वैष्णवधर्मानुयायी थे, परंतु ह्वेनसांग के वर्णित नालंदा के संस्थापकगण बौद्ध थे।

उपर्युक्त तिथि, उपाधि तथा धर्म के विवेचनों से यही ज्ञात होता है कि नालंदा महाविहार के संस्थापकों का कुमारगुप्त प्रथम के अतिरिक्त अन्य राजाओं से पूर्वोल्लिखित समीकरण समीचीन नहीं

---

(१) फ्लीट—गुप्त लेख नं० ८, ६, १२।

(२) गरुडध्वज सोने के प्रत्येक सिक्के पर अंकित है।

(३) गुप्त-लेख नं० ५, ६, ११।

(४) गु० ले०, नं० १२, चाँदी के सिक्के।

(५) J. A. S. B. 1889 (परमभागवत महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्तः)।

है। इन संस्थापकों के विषय में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये गुप्त वंश के अंतिम नरेश थे। इस विहार के जन्मदाता शकादित्य की गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र कुमारगुप्त प्रथम से समता बतलाई जा चुकी है। कुमारगुप्त प्रथम बहुत समय तक शासन करता रहा। इसकी मृत्यु के पश्चात् स्कंदगुप्त ई० स० ४५५-४६७ तक राज्य करता रहा। स्कंदगुप्त का सौतेला भाई पुरगुप्त और उसके पुत्र तथा पौत्र कुमारगुप्त द्वितीय ई० स० ४६७ से ४७६ तक शासन करते रहे। इन राजाओं का नालंदा महाविहार से कोई संबंध था या नहीं इसके विषय में ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिलता। बुधगुप्त ने कुमारगुप्त द्वितीय के बाद ई० स० ४७६ से ४९४ तक राज्य किया और इस विहार की बहुत सहायता की। यह शक्तिशाली नरेश था। बुधगुप्त का साम्राज्य बहुत विस्तृत था। इसने दामोदरपुर (उत्तरी बंगाल) से लेकर एरण (मालवा) पर्यंत शासन किया। ह्वेनसांग ने वर्णन किया है कि शकादित्य के पुत्र 'बुधगुप्त राज' ने अपने पिता के संघाराम से दक्षिण दिशा में दूसरे विशाल संघाराम की संस्थापना की। बुधगुप्त के पुत्र 'तथागत राज' ने पूरब की ओर एक संघाराम बनवाया[1]। इसका पुत्र बालादित्य अपने पूर्वजों से भी अधिक इस महाविहार की वृद्धि में संलग्न रहा। उसने चार विशाल संघाराम बनवाए[2]। ऐतिहासिकों में बालादित्य के विषय में बहुत विवाद है। कोई इसकी नरसिंह गुप्त से समता बतलाते हैं, जिसका खंडन ऊपर किया जा चुका है। ह्वेनसांग के कथन से बालादित्य हूण राजा मिहिरकुल का समकालीन था। स्मिथ महोदय के मतानुसार यदि मिहिरकुल

---

(१) बील—ह्वेनसांग का जीवन-चरित, पृ० ११०।

(२) वाटर—ह्वेनसांग, जिल्द १, पृ० २८९।

ई० स० ५१० में शासन करता था[1] तो बालादित्य को गुप्त राजा भानुगुप्त से समता करना बहुत ही युक्ति-संगत प्रतीत होता है। इस (भानुगुप्त) के नाम का उल्लेख एरण की प्रशस्ति (गु० ले० नं० २०) में मिलता है। लेख के वर्णन से ज्ञात होता है कि ई० स० ५१० में भानुगुप्त ने अपने सेनापति गोपराज के साथ हूणों से युद्ध किया जिसमें गोपराज मारा गया। यदि ह्वेनसांग के वर्णित बालादित्य और मिहिरकुल के युद्ध से उपर्युक्त लड़ाई का तात्पर्य हो, तो यह ज्ञात होता है कि बालादित्य, गुप्त-नरेश भानुगुप्त की उपाधि थी। जो हो, इस विषय में कोई सिद्धांत स्थिर नहीं किया जा सकता। बालादित्य के पुत्र वज्र ने उत्तर दिशा में एक सघाराम बनवाया था। डा० राय चौधरी का मत है कि इसी वज्र को मालवा के राजा यशोधर्मन् ने ई० स० ५३३ के समीप मार डाला[2]। इस प्रकार गुप्त-वंश का नाश हुआ। इन सब विवेचनों का सारांश यही है कि कुमारगुप्त प्रथम तथा बुधगुप्त के वंशज ही नालंदा के महाविहार की वृद्धि करने में संलग्न रहे। इनके गुप्त-वंशज होने में तनिक भी संदेह नहीं है।

---

(१) स्मिथ—भारत का प्राचीन इतिहास, पृ० ३१६।

(२) राय चौधरी—प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास, पृ० ४०३।

(४) इतिहास-प्रसिद्ध दुर्ग रणथंभोर का संक्षिप्त वर्णन

[लेखक—श्री पृथ्वीराज चौहान, बूँदी]

रणथंभोर का किला जयपुर राज्य में जयपुर से कोई ४५ कोस दक्षिण की ओर सघन पहाड़ियों में, सघन झाड़ियों के भीतर, बना हुआ है। नागदा-मथुरा रेलवे लाइन पर मथुरा से कोई ७० कोस बंबई की ओर जाने पर सवाई माधवपुर स्टेशन पड़ता है। यहाँ से कोई सवा कोस पर पहाड़ों के बीच सवाई माधवपुर नगर है जिसे, ऐसा प्रतीत होता है कि, जयपुर के महाराज सवाई माधवसिंहजी ने रणथंभोर हाथ आने पर बसाया था। यहाँ जयपुर राज्य की निजामत है। राज्य की ओर से एक नाजिम (डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट), तहसीलदार, थानेदार और डाक्टर रहते हैं। यह नगर भी पुराना, कहीं कहीं टूटा-फूटा और बे-मरम्मत, बड़े विस्तार में, बसा हुआ है। आबादी आठ-दस हजार से अधिक नहीं है। यहाँ से ही रणथंभोर को जाना पड़ता है। कोई साढ़े चार कोस सघन झाड़ियों और ऊँची-ऊँची पहाड़ियों के बीच एक पगडंडी की राह से चलना पड़ता है, जिसमें शेर, बघेरे, चीते, रीछ आदि हिंसक जीवों की बहुतायत है। मार्ग में स्थान स्थान पर ओदियाँ लगी हुई हैं और कठहरे बँधे हुए हैं जिनमें पाड़े (भैंसे) बाँधे जाते हैं। दिन ही में रास्ता चलता है, रात को नहीं। मार्ग में पहाड़ियों का चढ़ाव-उतार यात्री को थका देता है। जगह जगह पानी के चश्मे बहते मिलते हैं। झाड़ियों में एक नाले के किनारे पानी का एक छोटा

सा कुंड है, जिसे मोरकुंड कहते हैं। और भी कई बावलियाँ पड़ती हैं। मोरकुंड से पहाड़ी का चढ़ाव है। कुछ चढ़ने के अनंतर एक पक्का परकोटा और मोर-दरवाजा नाम की पौरी (गोपुर) है। यह परकोटा दोनों ओर पहाड़ों पर चला गया है। दरवाजे से रास्ता फिर नीचे को उतरता है और कुछ पहाड़ी उतार-चढ़ाव के पीछे फिर उसी प्रकार का एक दरवाजा आता है जो बड़ा दरवाजा कहलाता है। यहाँ भी पहले की तरह दोनों ओर की पहाड़ियों पर पक्का परकोटा चला गया है। इस दरवाजे से नीचे उतरकर एक बड़ा मैदान है जो तीन तरफ पहाड़ियों से घिरा हुआ है। उसी में एक ओर दीवार की तरह खड़े पहाड़ पर रणथंभौर का दृढ़ और अभेद्य दुर्ग है। इस मैदान में एक बड़ा ताल है जो पद्मला कहलाता है (छोटा पद्मला दुर्ग में है) और लगभग ६-७ मील के घेरे में है। इसमें कमल फूले रहते हैं। कोई आध कोस चलने पर किले पर चढ़ने का फाटक आता है जिसका नाम नौलखा है। यहाँ पर एक पैसा देकर एक आदमी को किलेदारों के पास भेज प्रवेश करने की परवानगी मँगवानी पड़ती है, जो घंटे डेढ़ घंटे में आ जाती है। इतनी देर में पथिक पास के एक कुएँ पर स्नान-ध्यान से निपटकर थकावट दूर कर ले सकता है। यहाँ से किले की शोभा अच्छी दिखाई पड़ती है। किले का पहाड़, छोर से छोर तक, दीवार की तरह सीधा खड़ा है। उस पर मजबूत पक्का परकोटा और बुर्ज (गढ़) बने हुए हैं जिन पर तोपें चढ़ी हुई हैं। दरवाजे से ऊपर तक पक्की सीढ़ियाँ बनाई गई हैं, जिन पर तीन फाटक बीच में पड़ते हैं। एक गणेश रणधीर दरवाजा है जिसमें पीतल के पत्र पर संवत् १८७८ खुदा हुआ है। इसी दरवाजे के ऊपर एक बुर्ज (गढ़) पर तीन मुँह की तोप रखी हुई है, जो लगभग चार गज लंबी है।

गढ़ रणथंभौर में ६ जागीरदारों की किलेदारी है। मोरा, माला, पचेवर, बरमाला, भिलाय और धूलावड़ा के जागीरदार किलेदार हैं। इनमें से प्रत्येक के पचहत्तर पचहत्तर जवान यहाँ रहते हैं और जयपुर राज्य खालसे के भी ५०० जवान रहते हैं। इनके सिवा चारों दरवाजों के तालों पर दो दो मीने और कुछ चौकियों पर भी मीने रहते हैं। किले में मुख्य गणेशजी की प्रसिद्ध और भव्य मूर्ति, एक सुंदर मंदिर में, विराजमान है। इन्हें गढ़ रणथंभौर के विनायक कहते हैं। समस्त राजपूताने की छत्तीसों जातियों में विवाह के समय इनका आह्वान किया जाता है। यहाँ पर यह कहावत प्रसिद्ध है कि "विनायक मनायो नाज आयो, टोडरमल जीतो नाज धीतो" अर्थात् विवाह के समय विनायक गणेश बैठते हैं तब घर में ऋद्धि सिद्धि आकर विवाह को पूर्ण करा देती हैं, किसी बात की कमी नहीं रहती। विवाह होने पर गणेशजी का पट्टा उठा दिया जाता है, तब प्रत्येक चीज की तंगी दिखाई देने लगती है। राजपूताने के बाहर भी दूर दूर तक इन गजानन भगवान् का आह्वान होता है। किले में ५ बड़े बड़े टाँके (तालाब) हैं। एक के सिवा सबमें पानी भरा रहता है और सब स्वाभाविक बने हुए हैं। इन टाँकों के नाम पद्माला (छोटा), सुखसागर, बड़ा हौद, राणी हौद और जगाली हैं।

गढ़ के मुख्य मंदिरों में गणेशजी, शिवजी और रामलला के मंदिर हैं। एक जैन मंदिर भी है। रामललाजी का मदिर शिखरबंद मंदिर है। बत्तीस बत्तीस खंभों की तीन बड़ी बड़ी छतरियाँ हैं, जिनमें से प्रत्येक में लिंगाकार शिवजी की दीर्घ मूर्ति अत्यंत सुंदर और दर्शनीय है। परंतु देख रेख न होने के कारण कबूतरों की बीटों से बिगड़ रही है। यहाँ पर एक गुफा में गुप्तगंगा (जिसे कोई कोई आकाशगंगा भी कहते हैं) नाम का, गज भर लंबा-

चौड़ा, एक कुंड है जिसके विषय में कहावत है कि कितनी ही रस्सियाँ जोड़कर डाली जाने पर भी थाह न मिली। इस गंगा का पानी निर्मल, स्वच्छ और मीठा है। इस गुफा में शिवजी की एक मूर्त्ति है। इसके पास ही भौंरा भौंरी नाम के दो मकान हैं जो प्रायः बंद रहते हैं। इनमें प्राचीन समय के मसालों की वाटियाँ रखी हुई हैं तथा लड़ाई के सामान हैं। यहाँ पर बुर्जों पर तोपें चढ़ी हुई हैं। रानी तालाब पर सदरुद्दीन पीर का मकबरा है। दिल्ली-दरवाजे पर शंकर का मंदिर है जो सदा बंद रहता है और वर्ष में केवल एक बार शिवरात्रि को खुलता है। यहीं पर राव हम्मीर-देव का सिर है जो मनुष्य के सिर के बराबर है। कहते हैं, राव हम्मीर जब अलाउद्दीन को परास्त करके आए तब उन्होंने गढ़ में रानियों को न पाया। वे सब चिता में भस्म हो गई थीं। राव को इससे इतनी ग्लानि हुई कि उन्होंने आत्मघात करने का निश्चय कर लिया, लेकिन कुछ विचार कर वे शिवजी के मंदिर में आए और, पूजन कर, कमल काटकर शिव पर चढ़ा दिया

गढ़ रणथंभौर केवल साढ़े तीन कोस के घेरे में है, पर है सीधे खड़े पहाड़ पर। किले के तीन ओर प्राकृतिक पहाड़ी खाई (जिसमें जल बहता रहता है) और झाड़ियों का झुरमुट है। खाई के उस तरफ वैसा ही खड़ा पहाड़ है जैसा किले का है। उस पर परकोटा खिंचा हुआ है। फिर चौतरफा कुछ नीची जमीन के बाद तीसरे पहाड़ का परकोटा है और पक्की मजबूत दीवारें खिंची हुई हैं। इस प्रकार कोसों के बीच में किला फैला हुआ है। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और कोसों तक लंबा-चौड़ा मैदान है जिसके चारों ओर पहाड़ियों का सिलसिला परकोटे का काम दे रहा है। कुछ दूर पूर्व की ओर एक गढ़ खंधार इसी पहाड़ी सिलसिले में और है जो मजबूत गिना जाता है। यद्यपि किले में भी जंगल-पहाड़ है, पर फाटकों

पर पहरा रहने के कारण किले में जंगली जानवर नहीं हैं। दूसरे दो परकोटों के बीच अनेक प्रकार के जंगली जानवर बहुतायत से झाड़ियों में रहते हैं। किले से तीन कोस के फासले पर दक्खिन ओर एक छोटी सी पहाड़ी पर मामा-भानजे की कबरें हैं। संभव है उस पर से किले को विजय करने का प्रयत्न किया गया हो। इस किले की मजबूती इसके देखने ही से मालूम हो सकती है। संसार के किसी देश में इस प्रकार का कोई किला शायद ही हो। यदि इसको सजाया जाय तो यह एक अपूर्व दुर्गम गढ़ बन जाय।

यह दुर्गम दुर्ग किसके समय में, किसने बनवाया, इसका अभी तक पता नहीं। पर यह दीर्घ काल से चौहानों के अधीन चला आता था और अंत में चौहानों के हाथ से ही मुसलमानों के हाथ में गया। संभव है कि यह किला चौहानों के द्वारा ही बना हो, क्योंकि राजपूताने के अनेक मजबूत किले चौहानों के द्वारा ही बनाए गए थे, जैसे अजमेर का तारागढ़, नाडोल का गढ़, घोसा का मांडलगढ, मेरा का गढ़, बूँदी का तारागढ़, गागरोण का गढ़, ईदर गढ़, छापुर का गढ, ये सब चौहानों के बनाए हुए हैं[1]। अतः रणथंभोर भी चौहानों का बनाया हुआ हो तो आश्चर्य क्या? ऐसी जनश्रुति है कि इस विकट वन और दुर्गम पहाड़ियों में एक पद्मला नाम का तालाब था (जो अब भी वही नाम धारण किए है)। उसके किनारे पद्म ऋषि नाम के कोई महात्मा अपना नित्य-कर्म कर रहे थे उस समय में दो राजकुमार, जिनमें एक का नाम जयत और दूसरे का रणधीर था, सूअर के पीछे घोड़ा दौड़ाते हुए इस वन में चले आए। सूअर भयभीत हो पद्मला तालाब में

---

(१) अलवर गढ़ भी मैनपुरी के इतिहास में चौहान आल्हनदेव का बनाया हुआ लिखा है। पर एक बड़वे की पुस्तक में अलवर का गढ़ आमेर के राजा कांकिलदेव के दूसरे पुत्र अलगरायजी का बनाया हुआ लिखा है।

कूद पड़ा और जल में गायब हो गया। राजकुमार इस दृश्य को खड़े खड़े देखते रहे पर सूअर उनको नजर न आया। अचानक किनारे पर इनकी दृष्टि महात्मा पर पड़ी। ये दोनों तुरंत महात्मा के पास आए और प्रणाम कर बैठ गए। महात्मा ने आँखें खोलकर उनकी ओर देखा और प्रीतिपूर्वक कहा—"कुमार! शिकार जल में चला गया; खैर, शिवजी का ध्यान करो।" ध्यान करते ही शिव-पार्वती के दर्शन हुए, जिन्होंने उन्हें आशीर्वाद देकर किला निर्माण करने की आज्ञा दी। आज्ञानुसार राजकुमारों ने वहाँ पर एक किला बनवाया जिसका नाम शिवजी की आज्ञा से रणस्तंभर या रणथंभौर रखा। किले की प्रतिष्ठा खूब धूमधाम से की गई। प्रथम गणेशजी की स्थापना हुई और सर्वत्र—राज्य भर में—विवाह के समय आरंभ में इन्हीं गणेशजी को निमंत्रित कर पूजने की आज्ञा प्रचलित की गई और राजकुल में इन्हीं गणेशजी का आह्वान करना प्रधान रखा गया। पास ही शिवजी की स्थापना करके प्रतिष्ठा का कार्य पूर्ण किया गया।

चौहानों की वंशावली में राव शूर के दो बेटों का नाम जैत (जयत्) और रणधीर है। जैतराव हम्मीर के पिता, और रणधीर काका थे जिनको छाण का परगना मिला था। अतः इस कथा को ठीक नहीं मान सकते क्योंकि इनसे पहले रणथंभौर का दुर्ग था[1] और दीर्घ काल से चौहानों के अधिकार में चला आ रहा था। संवत् १२४९ वि० में पृथ्वीराज के पीछे दिल्ली में मुसलमानों का अधिकार हो जाने पर अजमेर और रणथंभौर में पृथ्वीराजजी के

(१) मैनपुरी के इतिहास में चौहान राजा रणथंभनदेव का बनाया लिखा है जो बहुत पहले हुए थे। १२ वीं शताब्दि के मध्य में बीसल के पुत्र पृथ्वीराज प्रथम की रानी रासलदेवी ने, जैन साधु अभयदेव (मलधारी) के उपदेश से, रणस्तंभपुर (रणथंभौर) के जैन-मंदिर पर स्वर्ण का कलश चढ़ाया था।

पुत्र और भाई का अधिकार रहा। जब पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने पृथ्वीराज के पुत्र रेणसी (राजदेव जिसे किसी किसी ने गोविंद-राज (कोला) भी लिखा है) से अजमेर का राज्य छीनकर दिल्ली पर चढ़ाई की, तब रेणसी रणथंभौर चला गया। इसके पुत्र का नाम वाल्हणदेव था जिसके प्रह्लाददेव और वाग्भट, प्रह्लाद के वीर-नारायण हुआ जो शमसुद्दीन अल्तमश से लड़ा और मारा गया। संवत् १२८३ वि० में रणथंभौर पर मुसलमानों का अधिकार हुआ। प्रह्लाद का छोटा भाई मालवा विजय करने चला गया था और वहाँ राज्य कर रहा था। समाचार सुनकर उसने रणथंभौर पर चढ़ाई की और मुसलमानों को मारकर उस पर अपना अधिकार कर लिया। जलालुद्दीन खिलजी के समय में उलगखाँ नामक किसी सेनापति ने दो बार संवत् १३४७-४८ में रणथंभौर पर चढ़ाई की, पर उसे परास्त होकर लौटना पड़ा। वाग्भट (शूरजी) के पुत्र जयत[1] और रणधीरजी हुए। रणधीर को ६ लाख की जागीर का छाण का परगना मिला। जयत का पुत्र प्रसिद्ध राव हम्मीर (हठी हमीर) हुआ। इसके समय में मीर मुहम्मदशाह नाम का कोई सरदार बादशाह अलाउद्दीन खिलजी की किसी बेगम को लेकर इसकी शरण में चला आया जिसको इसने शरण में रखा। बादशाह ने दूत भेज धमकी के साथ अपने बागी सर्दार को माँगा, पर राव ने शरणागत को देना क्षत्रिय-धर्म के विरुद्ध समझ बादशाह को कोरा उत्तर दे दिया। अलाउद्दीन जलकर चढ़ आया और

---

(1) कवालजी (राज्य कोटा की पलायन कोठरी में) के मंदिर में रा० ब० पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा को एक प्रशस्ति मिली है जो संवत् १३४५ की है। उसमें जैत्रसिंह के विषय में लिखा है कि उसने मंडप (मांडू = मालवा) के जयसिंह को सताया; कूर्मराजा और करकराळगिरि के राजा को मारा और झंपापथा के घाटे में मालवा के राजा के सैकड़ों लड़ाकू वीरों को परास्त किया।

कूद पड़ा और जल में गायब हो गया। राजकुमार इस दृश्य को खड़े खड़े देखते रहे पर सूअर उनको नजर न आया। अचानक किनारे पर इनकी दृष्टि महात्मा पर पड़ी। ये दोनों तुरंत महात्मा के पास आए और प्रणाम कर बैठ गए। महात्मा ने आँखें खोलकर उनकी ओर देखा और प्रीतिपूर्वक कहा—"कुमार! शिकार जल में चला गया; खैर, शिवजी का ध्यान करो।" ध्यान करते ही शिव-पार्वती के दर्शन हुए, जिन्होंने उन्हें आशीर्वाद देकर किला निर्माण करने की आज्ञा दी। आज्ञानुसार राजकुमारों ने वहाँ पर एक किला बनवाया जिसका नाम शिवजी की आज्ञा से रणस्तंभर या रणथंभौर रखा। किले की प्रतिष्ठा खूब धूमधाम से की गई। प्रथम गणेशजी की स्थापना हुई और सर्वत्र—राज्य भर में—विवाह के समय आरंभ में इन्हीं गणेशजी को निमंत्रित कर पूजने की आज्ञा प्रचलित की गई और राजकुल में इन्हीं गणेशजी का आह्वान करना प्रधान रखा गया। पास ही शिवजी की स्थापना करके प्रतिष्ठा का कार्य पूर्ण किया गया।

चौहानों की वंशावली में राव शूर के दो बेटों का नाम जैत (जयत) और रणधीर है। जैतराव हम्मीर के पिता, और रणधीर काका थे जिनको छाण का परगना मिला था। अतः इस कथा को ठीक नहीं मान सकते क्योंकि इनसे पहले रणथंभौर का दुर्ग था[१] और दीर्घ काल से चौहानों के अधिकार में चला आ रहा था। संवत् १२४६ वि० में पृथ्वीराज के पीछे दिल्ली में मुसलमानों का अधिकार हो जाने पर अजमेर और रणथंभौर में पृथ्वीराजजी के

(१) मैनपुरी के इतिहास में चौहान राजा रणथंभनदेव का बनाया लिखा है जो बहुत पहले हुए थे। १२ वीं शताब्दि के मध्य में वीसल के पुत्र पृथ्वीराज प्रथम की रानी रासलदेवी ने, जैन साधु अभयदेव (मलधारी) के उपदेश से, रणस्तंभपुर (रणथंभौर) के जैन-मंदिर पर स्वर्ण का कलश चढ़ाया था।

पुत्र और भाई का अधिकार रहा। जब पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने पृथ्वीराज के पुत्र रेणसी (राजदेव जिसे किसी किसी ने गोविंद-राज (कोला) भी लिखा है) से अजमेर का राज्य छीनकर दिल्ली पर चढ़ाई की, तब रेणसी रणथंभौर चला गया। उसके पुत्र का नाम वाल्हणदेव था जिसके प्रह्लाददेव और वाग्भट, प्रह्लाद के वीर-नारायण हुआ जो शमसुद्दीन अल्तमश से लड़ा और मारा गया। संवत् १२८३ वि० में रणथंभौर पर मुसलमानों का अधिकार हुआ। प्रह्लाद का छोटा भाई मालवा विजय करने चला गया था और वहाँ राज्य कर रहा था। समाचार सुनकर उसने रणथंभौर पर चढ़ाई की और मुसलमानों को मारकर उस पर अपना अधिकार कर लिया। जलालुद्दीन खिलजी के समय में उलगखाँ नामक किसी सेनापति ने दो बार संवत् १३४७-४८ में रणथंभौर पर चढ़ाई की, पर उसे परास्त होकर लौटना पड़ा। वाग्भट (शूरजी) के पुत्र जयत[1] और रणधीरजी हुए। रणधीर को ६ लाख की जागीर का छाण का परगना मिला। जयत का पुत्र प्रसिद्ध राव हम्मीर (हठी हमीर) हुआ। इसके समय में मीर मुहम्मदशाह नाम का कोई सरदार बादशाह अलाउद्दीन खिलजी की किसी बेगम को लेकर इसकी शरण में चला आया जिसको इसने शरण मे रखा। बादशाह ने दूत भेज धमकी के साथ अपने बागी सर्दार को माँगा, पर राव ने शरणागत को देना क्षत्रिय-धर्म के विरुद्ध समझ बादशाह को कोरा उत्तर दे दिया। अलाउद्दीन जलकर चढ़ आया और

---

(१) कवालजी (राज्य कोटा की चलबन कोठरी में) के मंदिर में रा० ब० पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा को एक प्रशस्ति मिली है जो संवत् १३४५ की है। उसमें जैत्रसिंह के विषय में लिखा है कि उसने मंडप (मांडू = मालवा) के जयसिंह को सताया; कूर्मराजा और करकरालगिरि के राजा को मारा और झंपायथा के घाटे में मालवा के राजा के सैकड़ों लड़ाकू वीरों को परास्त किया।

वर्षों तक लड़ाई हुई। संवत् १३५७ में बादशाह को परास्त होकर हटना पड़ा। वह एक बार दिल्ली लौट गया और फिर संवत् १३५८ में सजकर आया। खूब लड़ाई हुई। राव हम्मीर अपनी रानियों को किले में रक्षित रख और यह समझाकर रण में चला कि जब तक हमारे निशान का झंडा दिखाई पड़ता रहे तब तक हमें जीवित समझना, पीछे अपने धर्म की रक्षा करना, क्योंकि मुसलमान प्रायः स्त्रियों के सतीत्व को नष्ट करते हैं और दुष्ट अलाउद्दीन ने तो रमणियों का सतीत्व नष्ट करने का बीड़ा उठा रखा है। यह कहकर राव केसरिया बाना पहन मुसलमानी सेना पर टूट पड़ा। कई पहाड़ों की घनघोर लड़ाई में मुसलमानों के पैर उखड़े और वे पीठ दिखाकर भागे। राव की फौज ने कोसों तक पीछा किया। राव संग्राम में विजय प्राप्त कर धौंसा देता लौट रहा था कि मार्ग में किसी घायल मुसलमान ने उठकर निशान के हाथी का हौदा काट डाला जिससे निशान और आदमी नीचे गिर पड़े। यद्यपि वह मुसलमान वहीं काट डाला गया परंतु झंडे के गिरते ही रानियों ने चिता लगाकर अपने कोमल शरीरों को उसमें भस्मीभूत कर दिया। राव विजय का आनंद मनाता हुआ गढ़ में आया तो वहाँ सब निरानंद हो गया। वह बड़े सोच में पड़ गया। संसार को स्वप्न का खेल समझ वह शरीर का मोह छोड़ शिवमंदिर में आया और अपने हाथ अपना सिर उतार शिवजी पर चढ़ा कमल पूजा कर शिव-लोक सिधारा। उसके विषय में एक प्राचीन दोहा है—

> सिंह विषय और नर वचन, कदली फलै इक बार।
> तिरिया तेल हमीर हठ, चढ़ै न दूजी बार॥

राव हम्मीर के इस प्रकार के समाचार सुन अलाउद्दीन अपनी सेना को मार्ग में फिर इकट्ठा कर लौटा और विकट लड़ाई में विजय प्राप्त कर वहाँ का मालिक हुआ। यह संवत् १३५८ वि० में हुआ

था। चौहान लोग मालवा, गुजरात आदि देशों में इधर-उधर अपना ठिकाना जमाने लगे। हम्मीर का पुत्र रत्नसिंह पहले से मेवाड़ में था। उसका वंश वहाँ फैला। तैमूर के समय तक रणथंभौर साधारण हालत में पड़ा रहा। संवत् १५७१ तक मालवा-वालों के अधिकार में रहा और तब मेवाड़ के राणा संग्रामसिंह के हाथ आया और विक्रमादित्य के समय तक मेवाड़वालों के अधिकार में रहा। संवत् १६०० विक्रमी में शेरशाह सूर के पुत्र आदिलखाँ को जागीर में दिया गया।

संवत् १६१५ तक इस किले पर मुसलमानों का अधिकार रहा। इसी समय में बूँदी के सामंतसिंह हाड़ा नामक एक सर्दार ने बेदला और कोठारिया (ये मेवाड़ के १६ सर्दारों में से हैं) के चौहानों की सहायता से मुसलमान क़िलेदार जुझारखाँ से, कुछ रुपये देकर, किला छीन लिया और बूँदी के अधिपति राव सुर्जनजी को सहायता के लिये बुलाया। थोड़े से वीर हाड़ाओं को लेकर सुर्जनजी वहाँ पहुँचे और मुसलमानों को वहाँ से निकाल अपना अधिकार कर लिया।

संवत् १६२४ वि० में अकबर ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। बूँदी का पदच्युत राव सुरतान शाही सेना को पट्टी देकर बूँदी पर चढ़ा लाया। यहाँ राव सुर्जन के भाई रामसिंह थे। उन्होंने रात्रि के समय दो बार धावा मारकर शाही फौज भगा दी और तोपें छीन लीं, लेकिन अपने भाई के पीछे बादशाह से बिगाड़ करना अच्छा न समझ तोपें लौटा दीं। जब अकबर को यह मालूम हुआ तब उसका दाँत रणथंभौर पर लगा। चित्तौड़ विजय कर उसने उसी संवत् में रणथंभौर पर चढ़ाई की। राजा मान भी साथ थे।

भारत के राजसिंहासन पर विराजमान होकर मुगल-कुल-तिलक अकबर की इस प्राचीन और अभेद्य गढ़ रणथंभौर पर अधि-

कार करने की विशेष अभिलाषा थी। उसने सेना सहित स्वयं इस विकट किले को जा घेरा। वीर तेजस्वी सुर्जन ने अपने असीम और अमानुषी पराक्रम से मुगल बादशाह की अगणित सेना का आक्रमण तुच्छ कर दिया। यद्यपि अकबर ने इस अभेद्य किले की दीवारों को ध्वंस करने में कोई कसर न की, पर केवल दीवारों के ध्वंस होने ही से किला हाथ आ जाय ऐसी बात न थी। वहाँ तो पहाड़ों के तीन परकोटों के भीतर ७, ८ सौ फुट ऊँची दीवार खड़े पहाड़ की थी। इतने पर भी वह किला वीर हाड़ाओं से संरक्षित था। कुछ दिनों तक चेष्टा कर अकबर हतोद्योग हो गया। तब उसने आमेर के राजा भगवानदास और उनके कुँअर मानसिंह से कहा कि क्या उपाय करूँ। यदि एक बार किले को देख भी लेता तो इच्छा होती। तब मानसिंह ने कहा—दिखा तो हम सकते हैं, पर आपको वेश बदलकर चलना होगा। बादशाह ने इसे स्वीकार किया।

कुँअर मानसिंह ने राव सुर्जन से आतिथ्य की याचना की, जो राजपूत-रीत्यनुसार स्वीकृत हुई। मानसिंह गढ़ में बुलाए गए। उनके साथ अकबर एक साधारण सेवक के वेश में गया। मानसिंह ने किले में पहुँचकर जिस समय राव सुर्जन के साथ बातचीत की उसी समय राव के काका भीमजी ने कपटवेषधारी अकबर को पहचान लिया और उसके हाथ से खड्ग छीन लिया। अकबर के होश उड़ गए। उसने राव से कहा—अब क्या होगा? राजा मानसिंह ने राव को समझा-बुझाकर अकबर से मेल करा दिया। अकबर ने रणथंभौर लेकर उसके बदले में ५२ परगने राव सुर्जनजी को दिए—२६ परगने बूँदी के पास और २६ चुनार, काशी आदि पूरब देश में। अकबर ने १० शर्तों पर हस्ताक्षर किए[1] जिनके

---

(१) दे० *"बूँदी का सुलहनामा"*, *नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ७,* संख्या २।

कारण बूँदीवालों की स्त्रियाँ नौरोजे पर जाने तथा डोला दिए जाने आदि से बची रहीं। काशी की सूबेदारी राव सुर्जन को मिली, जहाँ उन्होंने अच्छे अच्छे धार्मिक कार्य किए तथा सुंदर महल और बाग भी बनवाया जो आज तक "हाड़ाओं का बाग" के नाम से प्रसिद्ध है। इस संधि-पत्र के अनुसार राव सुर्जनजी के वंश, जाति और धर्म की पूर्ण रक्षा रही। अकबर ने सब स्वीकार कर सुर्जनजी को रावराजा की पदवी प्रदान की। राव सुर्जनजी ने लोभवश किला दे दिया पर सामंतसिंह ने अकबर के दाँत खट्टे कर मरकर किला छोड़ा। इस प्रकार फिर यह प्राचीन प्रसिद्ध दुर्ग चौहानों के हाथ से निकलकर मुसलमानों के हाथ चला गया। संवत् १६७८ वि० में जहाँगीर इस किले की सैर करके खुश हुआ। संवत् १६८८ वि० में यह दुर्ग राजा विट्ठलदास गौड़ को मिला, किंतु उससे औरंगजेब ने ले लिया।

संवत् १८११ वि० तक यह दुर्ग मुसलमानों के अधिकार में रहा। इस दुर्ग के अधीन ८३ महाल थे। कई एक रजवाड़ों का भी इससे संबंध था, जिनमें बूँदी, कोटा, शिवपुर आदि बड़ी बड़ी रियासतें भी थीं। संवत् १८१२ वि० में दिल्ली की शक्ति को घटाकर मरहठों ने राजपूताने में लूट-मार मचा रखी थी। उन्होंने, अन्यान्य किलों की भाँति, इस किले को भी जा घेरा। पर यह किला साधारण तो था नहीं। दुर्गाध्यक्ष ने बड़ी वीरता से मरहठों का सामना किया और वह तीन वर्ष तक लगातार लड़ा। बार बार उसने दिल्ली से मदद माँगी पर वहाँ कौन सुनता था? तब दुर्गाध्यक्ष ने बूँदी के महाराव राजा उम्मेदसिंहजी को लिखा पर वे उस समय अपने ही राज्य के उद्धार में लगे थे, दुर्गाध्यक्ष की बातों पर उन्होंने ध्यान न दिया। दुर्गाध्यक्ष के पास जब तक सामान रहा, बराबर मरहठों से लड़ता रहा। संवत् १८१६ वि०

में भोज्य सामग्री चुक जाने पर उसने जयपुरवालों को बिना शर्त किला समर्पण करने को लिखा। उस समय जयपुर की गद्दी पर सवाई माधवसिंहजी थे। माधवसिंहजी ने तुरंत सहायता भेजी और दुर्ग हस्तगत किया, जिस पर मरहठे चढ़ आए। इस समय माचाड़ी के महाराव राजा प्रतापसिंहजी की वीरता और बुद्धिमानी ने बड़ा काम किया। संवत् १८१६ वि० में मरहठे, जयपुर की सेना को देख, घेरा उठाकर चल दिए। किला जयपुरवालों के अधिकार में आया। तब से यह ऐतिहासिक प्रसिद्ध प्राचीन और सुदृढ़ दुर्ग जयपुर-महाराज के अधिकार में चला आ रहा है।

---

(४) विविध विषय

(१) पुरातत्त्व

सेप्टेंबर १९३३ के इंडियन ऍंटिक्वेरी में श्रीमान् के० पी० जायस-वाल ने, अशोक के "जंबू द्वीप" पर, एक लेख लिखा है। महाभारत के समय में जंबू द्वीप से प्रायः सारे एशियाखंड का अर्थ लिया जाता था। निषध और मेरु इसके मध्यस्थ और परस्पर निकटस्थ पर्वत थे। पुराणों का मेरु और सिकंदर के साथी इतिहास-लेखकों के मेरस एक ही पर्वत के नाम थे। जंबूवृक्ष से शायद आलूबुखारे के वृक्ष (Plum-tree) का अर्थ है, जो इस प्रदेश का विशेष वृक्ष है। मेरु के दक्षिण और निषध के उत्तर में एक नदी का वर्णन है जो बहुत करके पंजशीर (Panjshir) नदी है। जंबू द्वीप का मध्य-भाग मेरु देश है। महामेरु उसकी श्रेणी है। तिब्बत का नाम किन्नरी देश या किंपुरुषवर्ष था क्योंकि वहाँ के निवासियों में मूँछों का अभाव रहता है। उत्तर कुरु से पुराणों में साइबीरिया का देश लिया गया है। भद्राश्व से चीन और केतुमाल से एशिया माइनर का देश माना जाता था—ऐसी आपकी राय है। केतुमाल का पश्चिमीय नगर रोमक अर्थात् कुस्तुंतुनिया (Constantinople) था।

अक्टूबर १९३३ ई० के कलकत्ता रिव्यू में प्रोफेसर डी० आर० भांडारकर "क्या हिंदू धर्म में पुनःप्रवेश (reconversion) या 'शुद्धि' हो सकती है", इस शीर्षक का एक लेख लिखते हैं। देवल-स्मृति, अत्रि-संहिता, अत्रि-स्मृति, बृहद्यम-स्मृति आदि में शुद्धि का विधान है और आर्योपदेशक पंडित जे० पी० चौधरी ने इन आधारों को एक पुस्तक में संग्रह करके १९३० में अलग छपा भी दिया है। लेखक महाशय विशेषकर देवल-स्मृति का उल्लेख करते हैं। देवल

ऋषि सिंधु नदी के किनारे पर ठहरे थे जहाँ ऋषियों ने जाकर उनसे शुद्धि के प्रश्न किये थे।

आपका मत है कि देवल-स्मृति का समय दसवीं शताब्दी का आरंभ था। स्मृति के म्लेच्छों से आप मुस्लिम-धर्मावलंबियों का अर्थ निकालते हैं क्योंकि ये लोग उस समय भारत की सीमा पर आ गए थे। स्मृति में सिंधु (Monsuhra) और सौवीर (मुलतान) सीमाप्रांतों का उल्लेख है जहाँ जाने से हिंदू को लौटने पर शुद्धि करनी पड़ती थी। ये प्रांत ९४३ ई० में मुसलमान लोगों के अधिकार में आ गए थे।

स्मृति में जो सिंधु का उल्लेख है वह पंजाब की सिंधु नदी का है क्योंकि वहाँ पर हिंदू बलात्कार से मुसलमान बनाए जाते थे। सिंध प्रदेश इसके बहुत पूर्व से मुसलमानों के अधिकार में आ गया था। इस स्मृति की शुद्धि एक-दो मनुष्यों के लिये ही नहीं थी; वरन् यह उनके हेतु नियत की गई थी जहाँ सारे गाँव के गाँव शुद्ध किए जाते थे। आपका मत है कि सन् ईसवी के आरंभ से और उसके पूर्व से लगाकर दसवीं शताब्दी तक बराबर शुद्धि होती रही।

दिसंबर १९३३ के जरनल आफ इंडियन हिस्टरी में डा० एस० एन० प्रधान का एक लेख है जिसमें उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जनमेजय ने वाजसनेय याज्ञवल्क्य और उनके शिष्य वाजसनेयी लोगों को अपने दो अश्वमेध यज्ञों में पुरोहित नियत किया। इस कारण वैशंपायन ने राजा और पुरोहित दोनों को शाप दिया। पर जनमेजय ने, वाजसनेय याज्ञवल्क्य के नियमानुसार दो अश्वमेध यज्ञ करके, शुक्ल यजुर्वेद को प्रचलित कर ही दिया। इस पर विपक्ष के ब्राह्मण राजा से क्रुद्ध हो गए और उसके विपरीत उन्होंने बगावत का झंडा खड़ा कर दिया जिसके कारण जनमेजय का अधिकार उसके तीन सीमांत-प्रांतों से उठ गया।

इस कारण उसे राज्य छोड़कर जंगल में चला जाना पड़ा। इसके पश्चात् उसका क्या हुआ कुछ ज्ञान नहीं पड़ता।

ब्रह्मांड, वायु और मत्स्य पुराणों में यह कथा प्रायः समान रूप में पाई जाती है; इस कारण इसका सही होना बहुत कुछ संभव है।

मांडूक्य उपनिषद् और गौडपाद—अक्टूबर १९३३ के इंडियन ऐंटिक्वेरी में इस विषय का मि० ए० व्यंकट-सुब्बैया का एक लेख है। यह दस प्रधान उपनिषदों में से एक उपनिषद् है। इसमें केवल छोटे छोटे १२ वाक्य हैं। प्रथम ७ में इस उपनिषद् का विशेष कथन समाप्त हो जाता है और ये नृसिंह-पूर्वतापिनी (४,२), नृसिंह-उत्तरतापिनी (१), रामोत्तरतापिनी उपनिषदों में प्रायः विना कुछ परिवर्तन के उद्धृत कर लिए गए हैं। इनका सारांश योगचूड़ामणि (७२) और नारदपरिव्राजक (७-३) उपनिषदों में भी दिया है। इन सूत्रों के ऊपर गौडपादाचार्य ने १२५ कारिकाओं में टीका लिखी है, जो आगम प्रकरण, वैतथ्य प्रकरण, अद्वैत प्रकरण और अलातशांति प्रकरण नाम के ४ प्रकरणों में विभाजित है। अद्वैतवाद में उपर्युक्त १२ वाक्य ही श्रुति माने गए हैं और २१५ कारिकाएँ गौडपादाचार्य की बनाई मानी गई हैं। गौडपादाचार्य को गोविंद भागवतपाद का गुरु और शंकराचार्य का दादागुरु मानते हैं। श्री मध्वाचार्य का द्वैत संप्रदाय प्रथम प्रकरण की कारिकाओं को भी श्रुति मानता है। लेखक यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि ये दोनों निश्चय गलत हैं और १२ वाक्य तथा २१५ कारिकाएँ दोनों गौडपादाचार्य की लिखी हैं। उसकी राय में शंकराचार्य का भी यही सिद्धांत है। शंकराचार्य ने इस उपनिषद् (१२ वाक्य और २१५ कारिकाओं) का प्रमाण कहीं भी श्रुति के रूप में नहीं दिया है। गौडपादाचार्य के शंकर के परमगुरु होने में

भी संदेह किया गया है, क्योंकि इन कारिकाओं का प्रमाण कई आदि माध्यमिक बौद्ध लेखकों ने दिया है जिनका काल अष्टम शताब्दी नहीं हो सकता। डा० वेलेसर इन कारिकाओं का समय लगभग ५५० स० ई० अनुमान करते हैं। इनकी राय में गौडपाद एक लेखक का नाम न होकर एक संप्रदाय का है। प्रो० बेल्वलकर और रानडे भी इस राय में शामिल हैं। पर मि० व्यंकटसुब्बैया का मत है कि गौडपाद नाम के आचार्य अवश्य हुए हैं जिन्होंने अद्वैतवाद को इस मांडूक्य उपनिषद् में सिद्ध किया है और उस वाद का पूर्ण रूप बनाया है।

पंड्या बैजनाथ

---

(२) महामहोपाध्याय महाकवि श्री शंकरलाल-निर्मित "अमर मार्कंडेय" नाटक

पिछले सौ वर्षों में संस्कृत भाषा में नवीन ग्रंथ रचनेवाले विद्वानों में काठियावाड़ के विद्वद्रत्न पंडित शंकरलाल अति गौरवारूढ़ हो चुके हैं। इनका जन्म मंगलवार आषाढ़ वदि ४ वि० सं० १८९९ और स्वर्गवास आषाढ़ सुदि १५ वि० सं० १९७५ में हुआ। ये जामनगर के पंडित भंट्ट वैद्य के कुटुंबी थे। इनके पिता महेश्वर भट्ट ने इनका उपनयन संस्कार कराकर प्राचीन परिपाटी के अनुसार संस्कृत भाषा का अध्ययन प्रारंभ कराया। इन्होंने विशेष रूप से सुप्रसिद्ध दैवज्ञशिरोमणि केशवजी मुरारजी से परिश्रम-पूर्वक विविध शास्त्र पढ़े। तदनंतर कई एक महत्त्वपूर्ण छोटे छोटे लेखों के अतिरिक्त इन ग्रंथों की रचना की—सावित्री-चरित, चंद्रप्रभा-चरित, अनसूयाभ्युदय, सेव्यसेवक-धर्म, लघुकौमुदीप्रयोग-मणिमाला, अध्यात्मरत्नावली, बालाचरित, विपन्मित्रं पत्रम्, श्रीकृष्णचंद्राभ्युदय

श्रौर श्रमर मार्कंडेय। श्रीकृष्णचंद्राभ्युदय कवि के स्वर्गवास के कुछ काल के पश्चात्, महामहोपाध्याय श्री हाथीभाईजी शास्त्री की टीका सहित, छपा श्रौर श्रमर मार्कंडेय नाटक गुजराती टीका सहित इसी १९३३ ई० में, श्री लींमडीनरेश की उदार कृपा तथा महामहोपाध्याय हाथीभाईजी शास्त्री के सस्नेह परिश्रम से, लोकलोचन-गोचर हुश्रा है। शंकरलालजी स्वाभाविक कवि थे। ये पुराण, काव्य, दर्शन श्रादि नाना शास्त्रों के प्रगाढ़ पंडित थे। इनकी रचनाएँ सरल, सरस एवं सदुपदेशपूर्ण हैं। इनके रचे हुए नाटकों को स्त्रियाँ तथा पुरुष समान रूप से बिना संकोच के पढ़ सकते हैं। ये विष्णु श्रौर शिव के श्रभेद रूप से उपासक थे।

श्रमर मार्कंडेय में पाँच श्रंक हैं। प्रथम श्रंक में दिखाया है कि संतान न होने से खिन्न विशालाक्षी श्रपने पति मृकंड मुनि के प्रति श्रसंतोष प्रकट करती है जिसके कारण मुनि सर्वस्व दान कर निर्जन वन में तप करने जाते हैं। दूसरे श्रंक में बतलाया है कि भगवान् कृष्ण रासलीला श्रारंभ करते हैं श्रौर उस प्रसंग में निमंत्रित किए हुए भगवान् शंकर समय पर नहीं श्राते हैं श्रतः नारदजी उन्हें बुलाने को जाते हैं, परंतु वे ऐसे समय पर पहुँचते हैं जब शंकरजी का मन मृकंड की तपस्या से खिचा जाता है। तीसरे श्रंक में यह बताया है कि नारद द्वारा मुनि को वर मिलता है, परंतु इस शर्त के साथ कि मूर्ख पुत्र लेना स्वीकार हो तो दीर्घायु श्रौर सर्वज्ञ पुत्र चाहो तो स्वल्पायु मिलेगा। दंपति सर्वज्ञ पुत्र प्राप्त करना श्रच्छा समझते हैं। "तथास्तु" कहकर नारद वृंदावन चले जाते हैं। वहाँ पर वे रासलीला के विषय मे कुछ ऐसी शंकाएँ उठाते हैं जिनका समाधान कवि ने श्रत्यंत सुंदर शैली से करके कृष्ण के प्रति परस्त्रीगमन दोष की शंका को समूल नष्ट कर दिया है। चतुर्थ श्रंक में मृकंड के पुत्र मार्कंडेय का उपनयनपूर्वक उपमन्यु के पास विद्याध्ययन

करके कावेरी के तीर पर महामृत्युंजय का जप करना और शुद्ध-चरित बालक से व्याधि आदि मृत्यु के साधनों का परास्त होना दिखाया है। अंतिम अंक में धर्मराज द्वारा कर्म-विपाक की सूचना तथा अपने आचरण द्वारा मुनि-पुत्र का दीर्घायु होना प्रदर्शित किया है।

यह ग्रंथ वर्तमान लींमडी-नरेश महाराणा श्री दौलतसिंह वर्मा के पौत्र सदगतराम राजेंद्रसिंह-स्मारक ग्रंथमाला का प्रथम पुष्प है और जामनगर के आतंक-निग्रह नामक मुद्रणालय में छपा है। छपाई सफाई अच्छी है। गुजराती अनुवाद भी देखने योग्य है।

शिवदत्त शर्मा

---

(३) ऊमर-काव्य

यह पुस्तक चारण-महाकवि ऊमरदान 'बालक' की कविताओं का संग्रह है, जो चार सौ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। छपाई, कागज आदि की उत्तमता के साथ इसका १।) रु० मूल्य कम है।

आरंभ में रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पुरोहित हरिनारायणजी बी० ए०, श्री जयकर्णजी बारहट बी० ए०, एल्-एल० बी० आदि कई विद्वानों के अनुवचन आदि २९ पृष्ठों में दिए गए हैं, जिनसे पुस्तक का महत्त्व प्रकट होता है। इसके बाद ग्रंथ का आरंभ होता है। पहले ईश्वर की स्तुति कर भजन की महिमा बतलाई गई है और सब भक्तों की वंदना की गई है। संत-असंत की विवेचना करते हुए वैराग्य, धर्म आदि पर कुछ कहा गया है और तदनंतर राव जोधा, दुर्गादास, राणा प्रताप आदि क्षत्रिय वीरों की स्तुति की गई है। इसके सिवा साधारण उपदेश, मदिरापान आदि के विरोध में, कविता में किया गया है।

कवि ऊमरदानजी आशुकवि थे। राजस्थानी भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था और इनकी कविता का सरल प्रवाह श्रवणीय तथा पठनीय है। लोकोक्तियों के समावेश से कविता में सरसता आ गई है। प्रसादगुण तथा सरल अभिव्यंजना के कारण यह ग्रंथ . चित्ताकर्षक हो उठा है। इसी से इसका राजपूताने मे बहुत प्रचार है और इसे छोटे-बड़े सभी चाव से पढ़ते हैं। ऊमरदानजी विनोद-प्रिय सुकवि थे तथा उनकी कविता में हास्यरस का भरपूर पुट है। वास्तव में ये डिंगल भाषा के श्रेष्ठ कवि हो गए हैं। इस ग्रंथ का संपादन श्री जगदीशसिंह गहलोत ने, अत्यंत सुचारु रूप से, किया है। इनकी यथेष्ट पाद-टिप्पणियों से कविता का भाव स्पष्ट हो जाता है तथा जिन स्थानों, ऐतिहासिक पौराणिक घटनाओं या व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है उनके विषय में पूर्ण जानकारी भी हो जाती है। आपका यह परिश्रम सर्वथा प्रशंसनीय है। यह पुस्तक प्रत्येक हिंदी-प्रेमी के लिये संग्रहणीय है।

व्रजरत्नदास

---

(४) हिंदू जाति-विज्ञान में पशु-पक्षियों एवं प्राकृतिक वस्तुओं का महत्त्व

हिंदुओं की अनेकानेक जातियों की व्युत्पत्ति के विषय में पशु-पक्षी और प्राकृतिक वस्तुएँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। चारों वर्णों के गोत्रों के नाम ऋषियों से मिलते हैं और कहा जाता है कि इन गोत्रों की उत्पत्ति उन्हीं ऋषियों से हुई। भारद्वाज, पाराशर, कौत्स, आत्रेय, गौतम, कौंडिन्य, वशिष्ठ , जामदग्नि, काश्यप, कृष्णात्रेय, गार्गीयस, वाछस, लोहित्यान, मुद्गल, दलभ्य, सौनिल्य, भार्गव, वत्स अथवा वतस, अगस्त्य, मैत्रायण और

शांडिल्य आदि अनेक ब्राह्मण-गोत्र क्रमशः इन्हीं ऋषियों के नाम से उत्पन्न हुए बतलाए जाते हैं। परंतु उपर्युक्त सब नामों का सादृश्य इन्हीं नामवाले पशु-पक्षियों और प्राकृतिक वस्तुओं से भी है। भारद्वाज नीलकंठ के लिए, पाराशर कपोत के लिये, वात्सम बच्छे अथवा बछड़े के लिये, गौतम गाय के लिये, कृष्णात्रेय काले हरिण के लिये, लोहित्यान अग्नि के लिये, मुद्‌गल अँगूठी के लिये, दल्लभ्य बंदर के लिये, कौशिक उलूक के लिये, भार्गव एक प्रकार के वृक्ष के लिये, कौंडिन्य चीते के लिये, अगस्त्य पात्र के लिये, मैत्रेय मंडूक के लिये और शांडिल्य साँड़ के लिये प्रयुक्त किया गया है। उड़ीसा में उपर्युक्त गोत्रों के ब्राह्मण इन पशु-पक्षियों अथवा प्रकृति-पदार्थों को पवित्र मानते हैं और विशेष तीज-त्योहारों पर इनकी मानता मानते हैं। कहते हैं कि गोत्रों के नाम पशु-पक्षियों अथवा प्राकृतिक पदार्थों पर होने का एक कारण है। उड़िया ब्राह्मण इस कारण को एक कथा के रूप में वर्णित करते हैं जो अत्यंत मनोरंजक है। शिवजी के श्वशुर दक्ष प्रजापति ने एक बड़ा यज्ञ किया जिसमें उन्होंने शिवजी के अतिरिक्त सब ऋषियों को आमंत्रित किया। निमंत्रण न आने पर भी सती ने पितृ-यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये शिवजी से बहुत आग्रह किया। अतः शिवजी ने सती को अपने पिता के यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये आज्ञा प्रदान कर दी। परंतु सती को यज्ञ में पहुँचकर बहुत दुःख हुआ। उसके पिता ने उसके सम्मुख शिवजी को खूब कोसा और उनके प्रति अति अपमानसूचक शब्द कहे। सती अपने पति की निंदा सहन न कर सकी और उसने प्राण त्याग दिए। जब शिवजी को सब वृत्तांत विदित हुआ तब वे अति रुद्र रूप धारणकर यज्ञस्थ सब देवताओं का संहार करने को उद्यत हुए। उस समय सब देवता तथा ऋषिगण वहाँ से पशु-पक्षियों के रूप में उड़ गए।

यही कारण है कि इन पशु-पक्षियों को आज तक बहुत से ब्राह्मण सम्मान की दृष्टि से देखते हैं।

मिस्टर रिजले (Mr. Risley) अपने Tribes and Castes of Bengal शीर्षक ग्रंथ में (पृष्ठ १६१ में) लिखते हैं—"द्रविड़ अथवा अर्द्ध-द्रविड़ लोगों में प्रचलित यह विश्वास कि जन-समूह की उत्पत्ति पशु-पक्षियों अथवा प्रकृति-पदार्थों से है[1], बहुत काल पीछे उड़ीसा के ब्राह्मणों में भी पाया जाता है। इस प्रकार वातस-गोत्रीय ब्राह्मण वत्स अर्थात् बछड़े को अपना पूर्वज समझकर पूजते हैं। भारद्वाज-गोत्रीय ब्राह्मण इस नाम के ऋषि से नहीं वरन् इस नाम के पक्षी से अपनी उत्पत्ति का पता लगाते हैं। इसी प्रकार आत्रेय-गोत्रीय ब्राह्मण हरिण की उपासना करते हैं और उसका मांस भक्षण नहीं करते। सम्मानार्थ वे मृगचर्म पर भी नहीं बैठते हैं। कौछस कछुए और कौडिन्य चोते से अपनी सृष्टि मानते हैं और इसी कारण कौडिन्य सिंहचर्म पर आसीन नहीं होते। अनुमानतः इन विश्वासों के तीन कारण हैं—(१) प्राचीन आर्य-विचारों एवं विश्वासों का पुनर्जागरण; (२) आए हुए ब्राह्मणों द्वारा द्रविड़ विश्वासों का अपनाया जाना; (३) संभवतः उड़िया ब्राह्मण द्रविड़ों के ही वंशधर हों।"

परंतु रायबहादुर शरतचंद्र राय का मत है कि द्रविड़ों के कतिपय सिद्धांतों और विश्वासों के सादृश्य से उड़िया ब्राह्मण द्रविड़ों के वंशधर कदापि नहीं हो सकते। वे यह भी कहते हैं कि उच्च संस्कृति-युक्त जातियों ने ही अपने सिद्धांतों में हीन संस्कृतिवाली जातियों से सदैव कुछ न कुछ समावेश किया है और इस बात का प्रमाण समस्त भारतवर्ष का इतिहास देता है। उनका कहना है कि ऋग्वेद में भी मत्स्य, गौतम, वत्स्य, शुनक, कौशिक, मंडूक आदि

(१) इस 'विश्वास' के लिये अँगरेजी शब्द totemistic belief है।

जातियों अथवा गोत्रों का उल्लेख मिलता है। कुरुवंश का पूर्वज संवरण का पिता 'ऋच' था।

ब्राह्मणों के सदृश क्षत्रियों के भी तीन प्रधान गोत्र—(१) काश्यप, (२) गार्ग और (३) वात्सस्—इसी प्रकार के हैं। करण जाति—जो आधुनिक कायस्थ जाति है—के मुख्य गोत्र भी भारद्वाज, पाराशर, नागस और शंखस हैं। परंतु काश्यप-गोत्रीय क्षत्रिय कच्छप को, गार्ग-गोत्रीय गार्गी पक्षी को और वात्सस्-गोत्रीय वत्स (बछड़े को) उसी प्रकार पूज्य दृष्टि से देखते हैं जिस प्रकार ब्राह्मण लोग अपने गोत्रों से संबंद्ध पशु-पक्षियों अथवा प्रकृति-पदार्थों को देखते हैं। इसी प्रकार भारद्वाज-गोत्रीय 'करण' लोग भारद्वाज ऋषि और पक्षी की, पाराशर-गोत्रीय पाराशर ऋषि और कपोत की, नागस-गोत्रीय नाग की और शंखस-गोत्रीय शंख की उपासना करते हैं। नागस-गोत्रीय 'करण' लोग सर्पों के मारने अथवा सताने को वर्जित समझते हैं तथा सर्पों का राजा 'अनंत' उनका इष्ट देवता है।

गजस्, नागस्, काश्यप और साल इन गोत्रों के शूद्र गज, नाग, कच्छप और साल मछली को मारते, छेड़ते अथवा दुःख नहीं देते हैं। कहा जाता है, कुछ तो जब इन्हें देखते हैं इनको नमस्कार करते हैं। ये लोग इन पशु-पक्षियों को अपना इष्ट देवता समझते हैं।

वस्तुतः हमारा जाति-विज्ञान बड़ा जटिल है। हिंदुओं में अनेक कारणों से अनेक जातियों का प्रादुर्भाव हुआ। जटिल धार्मिक-ग्रंथियों के कारण जाति-समस्या एवं विधान भी जटिल है।

वृंदावनदास

---

(५) 'नवसाहसांक-चरित'-परिचय

पद्मगुप्त (उर्फ परिमल) कवि, धारा नगरी के विख्यात सरस्वती-समाराधक महाराजा वाक्पतिराज मुंज की विद्वत्सभा का यशस्वी

कवि था। वाक्पतिराज बड़ा ही विद्याव्यसनी रहा है। पंडितों ने इसके अभाव में कहा है कि "गते मुंजे यशःपुंजे निरालंबा सरस्वती"। वाक्पतिराज मुंज स्वयं उत्कृष्ट कवि और विविधागम-निष्णात था[१], वाक्पतिराज के पश्चात् राज्य का उत्तराधिकारी सिंधुराज हुआ। सिंधुराज वाक्पतिराज का बंधु था और विख्यात सरस्वती-कंठाभरण महाराजा भोज का जनक था।

कहा जाता है कि श्रीहर्षदेव द्वितीय 'सीयक' को कोई पुत्र नहीं था। मुंज-वन में मृगया के समय अकस्मात् जो सुंदर बालक प्राप्त हुआ था और जो 'मुंज' नाम से विख्यात हुआ उसी को अपना राज्याधिकारी बनाया था। मुंज के पश्चात् जो औरस संतान उत्पन्न हुई, वही 'सिंधुराज' है[२]। कहते हैं कि सिंधुराज से मुंज ने भोज को दत्तक ले लिया; परंतु 'नवसाहसांक-चरित' में इसका कहीं उल्लेख नहीं है।

सिंधुराज ने हूणों[३], दक्षिण कोशलों और बाग्जड़, लाट तथा मुरलवालों को जीता था[४]। सिंधुराज की 'नवसाहसांक' की उपाधि थी। इसके अतिरिक्त उसे मालवेश, अवंतीपति और 'सिंधुल' भी कहते थे।

---

(१) वाक्पतिराज मुंज के दो ताम्रशासन अभी प्राप्त हुए हैं जो १०३८ संवत् के हैं। दो शिलालेख भी सं० १०११ और १०२१ के मिले हैं।

—इंडियन एंटिक्वेरी, १६१२, पृष्ठ २०१।

"कविवाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः ॥ १४४ ॥"

—राजतरंगिणी, ४ तरंग।

(२) मेरुतुंग सूरि ने 'प्रबंध-चिंतामणि' में श्रीहर्षदेव की संतानाभाव लिखा है। पहले 'मुंज'-प्राप्ति और पश्चात् 'सिंधुराज' का होना बतलाया है।

(३) एपिग्राफिका इंडिका, भा० १, पृ० २३५।

(४) नवसाहसांक-चरित, सर्ग १०, श्लोक १५-१६।

सिंधुराज वि० सं० १०६६ से कुछ पूर्व सोलंकी चामुंडराज के साथ युद्ध कर वीर गति को प्राप्त हो गए। ई० स० की चौदहवीं सदी के जयसिंहदेव सूरि ने कुमारपाल-चरित के प्रथम सर्ग में लिखा है—

"रेजे चामुण्डराजोऽथ यश्चामुण्डवरोद्धुरः।
सिन्धुरेन्द्रमिवोन्मत्तं सिन्धुराजं मृधेऽवधीत्[1] ॥ ३१ ॥

वाक्पतिराज मुंज के पश्चात् परिमल (पद्मगुप्त) कवि ने इसी सिंधुराज का आश्रय ग्रहण किया था[2]। पद्मगुप्त धारा नगरी की राजसभा का राजप्रिय प्रधान पंडित था। इसके पिता का नाम मृगांकगुप्त था[3]। राजाज्ञा से प्रेरित होकर ही सिंधुराज के अपर नाम 'नवसाहसांक' को लेकर उसने १८ सर्ग के एक परम मनोहर उत्कृष्ट काव्य की रचना की है। हम इस लेख में पाठकों को इसी काव्य का परिचय कराने जा रहे हैं।

परिमल (पद्मगुप्त) कवि की यह काव्य-कृति बहुत सुंदर हुई है और संस्कृत-साहित्य-रसिकों के आदर की वस्तु है। यह रचना बड़ी भावमयी है। काव्य का वर्ण्य विषय 'सिंधुराज' की प्रशंसा है। आलंकारिक रूप में एक ऐतिहासिक पुरुष (नायक) का, पाताल लोक की नागकन्या शशिप्रभा से, परिणय कराया गया है। हम ऊपर

---

(१) "सूनुस्तस्य बभूव भूपतिलकश्चामुण्डराजाह्वयो
यद्गन्धद्विपदानगन्धपवनाघ्राणेन दूरादपि।
विभ्रश्यन्मदगन्धभग्नकरिभिः श्रीसिन्धुराजस्तथा
नष्टः क्षोणिपतिर्यथास्य यशसां गंधोऽपि निर्नाशितः ॥"
—एपिग्राफिका इंडिका, भा० १, पृ० २६७।

(२) "दिवं यियासुर्ममं वाचि मुद्रां, अदत्त यां वाक्पतिराजदेवः ॥
तस्यानुजन्मा कविबान्धवस्य भिनत्ति तां सम्प्रति सिन्धुराजः ॥
—नवसाहसांक-चरित, स० १, श्लो० ८।

(३) इतिहासज्ञों का मत है कि सिंधुराज पर्यंत राजधानी उज्जैन ही थी; भोज ने धारा नगरी पसंद की है। परंतु पद्मगुप्त ने अपने ग्रंथ में सिंधुराज को 'धारानगरीश' ही बतलाया है।

कह आए हैं कि यह काव्य १८ सर्गों में विभक्त है। लगभग १८ प्रकार के विभिन्न छंदों में पद्य-रचना की गई है, १८ सर्ग में कुल मिलाकर श्लोक-संख्या १५२५ है। काव्य के निर्माण में 'वैदर्भी'-रीति का आश्रय ग्रहण किया गया है। जैन लेखकों का कथन है कि पद्मगुप्त जैन था। परंतु काव्यारंभ में शिव, गणेश और सरस्वती की स्तुति की गई है। आगे काव्य के १८ सर्ग में हाटकेश्वर-स्तुति में ८ सुंदर पद्यों की रचना की गई है, जिनको देखते हुए कवि 'शैव' प्रतीत होता है[1]।

ऐसा पता चलता है कि 'नवसाहसांक-चरित' नामक श्रीहर्ष का भी एक काव्य है, परंतु वह उपलब्ध नहीं है। परिमल (पद्मगुप्त) ने और ग्रंथों की भी रचना की है, पर उन ग्रंथों का पता नहीं चलता। महाकवि क्षेमेंद्र ने परिमल-कृत अनेक श्लोकों को औचित्यालंकार के उदाहरण में उद्धृत किया है। नवसाहसांक में ये श्लोक नहीं हैं। उन श्लोकों में तैलप और मूलराज के आक्रमण का विवरण है। कुछ इतिहासवेत्ताओं का मत है कि 'तैलप' और 'परिमल' समकालीन ही हैं। परिमल ने 'नवसाहसांक' में भर्तृमेंठ, गुणाढ्य, बाण आदि कवियों का भी उल्लेख किया है।

'नवसाहसांक-चरित' पुस्तक की एक प्राचीन प्रति लंदन की रॉयल एशियाटिक सोसायटी में सुरक्षित है, दूसरी तंजोर के प्राचीन पुस्तक-संग्रहालय में। इस समय हमारे सामने गवर्नमेंट ओरियंटल बुकडिपो बंबई द्वारा सन् १८९५ की प्रकाशित प्रति है।

'नवसाहसांक-चरित' के प्रथम सर्ग को शिव-गणेश की स्तुति से आरंभ किया गया है। प्राचीन कवि-प्रशस्ति के पश्चात्

---

(१) तंजोर के संस्कृत के प्राचीन पुस्तकालय में जो (नवसाहसांक-चरित) पुस्तक उपलब्ध है उसमें परिमल का द्वितीय नाम 'कालिदास' बतलाया गया है।

उज्जयिनी पुरी का वैभवपूर्ण वर्णन किया गया है। उज्जयिनी के विशेषता-वर्णन में पूरे ४० पद्य लिखे गए हैं, जिनका आरंभ इस प्रकार है—

"अस्ति क्षितावुज्जयिनीतिनाम्ना पुरी, विहायस्यमरावतीव।
ददर्श यस्यां पदमिंद्रकल्प श्रीविक्रमादित्य इति क्षितीशः ॥ १७ ॥
धामस्तुगुञ्जत्कलहंसपंक्तिविकस्वराम्भोजरजःपिशङ्गा ॥
आभाति यस्याः परिखानितम्बे सशब्दजाम्बूनदमेखलेव ॥ १८ ॥

इस प्रकार एक से एक सुंदर, सरस और काव्य-रस-स्रावी पद-रत्न हैं। आगे चलकर कवि काव्य नायक का, निम्न-लिखित रूप में, परिचय देता है—

"राजास्ति तस्यां सकुलाचलेन्द्रनिकुंजविश्रान्तयशस्तरङ्गः।
भास्वान् ग्रहाणामिव भूपतीनां अवाप्तसंख्यो भुवि सिन्धुराजः ॥ ५८ ॥
निन्यू ढनानाद्भुतसाहसश्च रणे वृतश्च स्वयमेव लक्ष्म्या।
नाम्ना यमेके 'नवसाहसाङ्क', कुमारनारायणमाहुरन्ये ॥

उक्त पद से ज्ञात होता है कि सिंधुराज का मुख्य नाम 'कुमार नारायण' था। कवि ने अनेक पद्यों में बहुत बढ़ा-चढ़ाकर सिंधुराज की प्रशंसा की है। सिंधुराज के मुँह में अन्यान्य गुणों के साथ केवल 'सत्य' और 'सरस्वती' का ही वास होना बतलाया है—

"चित्रं, प्रसादश्च, मनस्विता च, भुजः, प्रतापश्च, वसुन्धरा च।
अध्यासते यस्य मुखारविन्दं, द्वे एव, 'सत्यं' च 'सरस्वती' च ॥ ६४ ॥

द्वितीय सर्ग में सिंधुराज मृगया के लिये निकलता है। उसकी दृष्टि मार्ग में एक बड़े सुंदर पालतू हरिण पर पड़ जाती है।

अथेन्द्रचापलग्रहितं सञ्चरंतमितस्ततः।
अमन्दमृगयासक्तः स कुरङ्गमलोकत ॥ ३५ ॥

यह समझते ही कि 'मैं देख लिया गया हूँ' मृग तुरंत वहीं, विन्ध्य के लता-कुंजों में, प्रवेश कर जाता है। राजा भी घोड़े से उतरकर

उसी का पीछा करता हुआ एक वन से दूसरे में बड़ी दूर निकल जाता है। परंतु मृग को न पाकर वह निराश हो जाता है। आखिर एक बार उसकी दृष्टि पुनः उस भागते हुए मृग पर पड़ जाती है। राजा तुरंत उस पर सुनहले रंग से अपना नामांकित बाण छोड़ देता है। वह बाण मृग के मर्मस्थल को छोड़ चर्म में बिंध जाता है। फिर वह भयग्रस्त मृग जी छोड़कर अलक्षित हो जाता है। सिंधुराज उसकी खोज में दूर निकलता जा रहा है।

तृतीय सर्ग में राजा मृगानुसंधान में निराश होता है। मार्ग में राजा को हंस द्वारा एक मौक्तिक-माला प्राप्त होती है। हंस किसी की माला उठा लाया हो यह जानकर वह उसे देखता है। उस माला की रचना माला के स्वामी के नाम पर देखकर 'अक्षरतति' से जान लेता है कि यह किसी 'शशिप्रभा' नामक रमणी का कंठाभरण है। अब मृगानुसंधान से हटकर उसकी मनोवृत्ति में 'शशिप्रभा' की जिज्ञासा जागरित हो जाती है। वह 'शशिप्रभा' की खोज में चल पड़ता है।

चतुर्थ सर्ग में राजा एक तरुणी को कुछ खोजती हुई देखता है। वह तरुणी सारा वृत्तांत राजा से कह देती है। उसकी अपनी आशा पल्लवित हो जाती है।

पंचम सर्ग के आरंभ में नागराजकन्या शशिप्रभा का परिचय दिया है। इसके बाद वह अपने पालित 'हरिण' को शर-विद्ध देखती है। उस 'शर' को निकालकर देखती है तो उस पर 'सिंधुराज' का नाम अंकित मिलता है। शशिप्रभा को भी उत्कंठा होती है कि यह 'सिंधुराज' कौन है। इस अवस्था में उसकी मुक्तामाला गिर जाती है और हंस उसे चोंच में दबाकर ले भागता है। यही मुक्तामाला सिंधुराज के हाथ पड़ती है। जब शशिप्रभा को माला के खो जाने का स्मरण हो आता है तब वह उसे खोजने के लिये चारों ओर

अपनी दूतियों को दौड़ा देती है। इन्हीं में से 'पाटला' नाम की एक सहचरी रेवा-तट पर राजा को कुछ खोजती हुई दिखाई देती है और शशिप्रभा का सारा वृत्तांत कह सुनाती है।

छठे सर्ग में 'पाटला' जाकर शशिप्रभा को हार देती है। शशिप्रभा के हृदय में राजा के प्रति अनुराग और दर्शनेच्छा होती है। वह अपनी सहचरी माल्यवती से सिंधुराज के विषय में अनेक प्रश्न पूछ लेती है—"सख्यः कः सिंधुराजोऽयम् ?" इत्यादि। माल्यवती बतलाती है कि देवि! यह अवंतीनाथ है। मैंने इसका वैभव उस समय देखा है जिस समय मैं एक पर्व पर भूतभावन भगवान् महाकालेश्वर के दर्शनार्थ गई थी। इसी सर्ग में शशिप्रभा से राजा की भेंट भी हो जाती है। परिमल कवि ने इस अवसर का अत्यंत मनोहारी वर्णन किया है।

सप्तम सर्ग में राजा, मंत्री और शशिप्रभा तथा उसकी सहचरी के बीच संवाद हुआ है। शशिप्रभा इंगित से राजा के हृदय पर अपना हार्दिक अनुराग व्यक्त कर देती है।

अष्टम सर्ग में शशिप्रभा का, पातालस्थ नागनगरी भोगवती में ले जाने के लिये, नागों के द्वारा अदृश्य रूप से, हरण हो जाता है। इधर सिंधुराज भी शशिप्रभा के प्रेमाकर्षण से सारस पक्षी का मंत्र प्राप्त कर नदी का उल्लंघन कर जाता है। पार करते ही रेवा (नर्मदा) नदी सशरीर राजा को दर्शन देती है और वर प्रदान करती है।

नवम सर्ग में बतलाया गया है कि वज्रांकुश नामक एक दैत्य नाग-जाति का शत्रु था। नाग लोग उसके भय से त्रस्त थे। उसके नाश से नागों का प्रसन्न होना स्वाभाविक था। इसी लिये नागराज ने एक प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो व्यक्ति वज्रांकुश के उद्यान से सुवर्ण-कमल ले आएगा उसी के साथ 'शशिप्रभा' ब्याही जायगी।

वज्रांकुश की राजधानी का नाम रत्नावती था। उसे यहाँ से सौ कोस की दूरी पर मयासुर ने बसाया था। राजा को नर्मदा ने बतलाया कि उसी नगरी के मार्ग पर वंकु मुनि का आश्रम है। उनसे भेंट करना।

दशम सर्ग में राजा और मंत्री का वाद-विवाद है। उस समय एक शुक पक्षी आकर मनुष्य-वाणी में कहता है—'मैं शंखचूड़ नाम की नाग-जाति का' रत्नचूड़ नामक नाग हूँ। दैव-दुर्विपाक से शाप-ग्रस्त हो 'शुक'योनि में आ गया हूँ। यदि आप (सिंधुराज) शशिप्रभा के लिये मुझे कोई संदेश दे सकेंगे तो मेरा शापमोचन हो जायगा। इस पर सिंधुराज सहर्ष संदेश दे देता है।

एकादश सर्ग में सिंधुराज रत्नावती नगरी में जाने के लिये पाताललोक को प्रस्थान करते हैं। रास्ते में पूर्वोक्त वंकु मुनि से भेंट होती है। वंकु मुनि के समक्ष प्रवास-प्रयोजन और परमारवंश-राजकथा-क्रम वर्णन किया जाता है। मुनि से सफलता की आशा पाकर राजा वहीं विश्राम करता है।

द्वादश सर्ग में राजा को स्वप्न में शशिप्रभा के दर्शन होते हैं। वह प्रेमालाप करते हुए आनंदांदोलित हो जाता है। इसी समय वृक्ष पर बैठा हुआ शुक पक्षी सामगान कर निद्रा भंग कर देता है। राजा पुनः आँखें मूँदकर स्मृति को जागरित करने का व्यर्थ प्रयास करने लगता है; किंतु विफलता से खिन्न हो जाता है।

> "लिखित इव स क्ष्मापालोऽभूद् धर्यं ननु तादृशाम्।
> अपि मनसिजो धैर्यं लुम्पत्यहो, बत, साहसम्" ॥ ८१ ॥

त्रयोदश सर्ग में विद्याधराधीश से राजा की भेंट होती है। विद्याधर जाति एक का राजा मुनि के शाप-वश वानर हो गया था। वह अपना कष्ट राजा से कहता है। राजा नर्मदा-प्रदत्त कर-कंकण

पहनाकर उसे पुनः पूर्व रूप में ला देता है। इस कृपा के प्रीत्यर्थ सिंधुराज की सहायता के लिये वह ससैन्य तैयार हो जाता है।

चतुर्दश सर्ग में विद्याधराधिप शशिकंद अपने सिंधुराज के रथ को मंत्रबल से, आकाश-मार्ग से, शीघ्र ही पाताल पुरी के निकट ले जाता है। राजा वहाँ गंगातट-वर्ती एक उपवन में ठहर जाता है—

"तस्यास्तटेऽथ कुसुमावचयश्रमार्तसीमन्तिनीनिवहसस्मितवीक्षितायाः।
विद्याधरेण विदधद् धवलोर्मिधौतपर्यन्तदेनसिक्तेपृतनानिवेशः" ॥

पंचदश सर्ग में पातालगंगा में सिंधुराज की जलक्रीड़ा का अत्यंत मनोहारी वर्णन किया गया है। सर्ग का अंतिम श्लोक देखिए—

कंदर्पस्य त्रिलोकीप्रकटविजयमहासाहसोत्साहहेतु-
धुन्वंस्तारपक्ष्मभूलिव्यतिकरकपिशः काञ्चनाम्भोरुहाणि।
तन्वानस्तीररूढत्रिदशतरुलताशास्यमास्यमाजा
तासां सम्भोगकेलिक्लमभरमहरज्जाह्नवीवीचिवातः ॥

षष्ठदश सर्ग में शशिप्रभा की सहचरी पाटला शशिप्रभा की स्थिति का दर्शक-पत्र लेकर, जो मालवती द्वारा लिखा गया था, राजा के निकट पहुँची। राजा ने अपनी विरह-कथा को प्रत्यक्ष बतलाकर शशिप्रभा को आश्वासन देने को कहा—"मैं शीघ्र ही सभी साध्य उपायों से सुवर्ण-कमल प्राप्त कर आने का प्रयत्न करता हूँ।" परंतु सुवर्ण-कमल लाने के प्रयत्न में राजा फँस जाता है।

सप्तदश सर्ग में दैत्यों, नागों और विद्याधरों के बीच युद्ध छिड़ जाता है। फिर 'वज्रांकुश' सिंधुराज के द्वारा मारा जाता है। वहाँ से सुवर्ण-कमल लेकर राजा नागलोक में जा पहुँचता है।

अष्टदश सर्ग में सिंधुराज पातालेश्वर 'हाटकेश्वर' के दर्शन कर उनकी स्तुति में एक अष्टक का पाठ करता है।

नागराज के घर पर जाकर सिंधुराज उनकी ओर से आदरातिथ्य ग्रहण करता है। शशिप्रभा के भी दर्शन कर मुग्ध हो जाता

है। सके पश्चात् वह 'शशिप्रभा' की प्रणय-ग्रंथि में दृढ़ता के साथ बँध जाता है। नागराज शंखपाल बहुत कुछ दहेज देकर भी अपनी नम्रता प्रदर्शित कर आदिकवि कपिल की परंपरा से प्राप्त एक शिवलिंग सिंधुराज को भेंट में देता है। सिंधुराज अपने सहायक विद्याधरों के साथ—और सहचरियों के साथ शशिप्रभा को भी लेकर अपनी नगरी के लिये बिदा होता है। वहाँ से वह उज्जैन आता है—

> बालातपच्छुरितहर्म्यविटङ्कवर्ति पारावतातिमधुरध्वनितच्छलेन।
> सम्भापयं विदधतीमिव पौरमुक्तपुष्पाञ्जलिः स पुरमुज्जयिनीं विवेश ॥८८॥
> कान्तायशो भट्युतं कृशतामवाप्ताश्चिन्तयैव सचिवास्तमथ प्रणेमुः।
> काकुत्स्थमाहृतसुरारिमिवानुयान्तम् सौमित्रिणा जनकराजतनूजया च ॥

उज्जयिनी में प्रवेश करने के पश्चात् वह श्रीमहाकालेश्वर मंदिर में दर्शनार्थ जाता है—

> आनंदवाष्पसलिलार्द्रदृशोऽर्धमार्गे, सम्भाव्य तान् स्मितमुखः सह तैर्जगाम।
> विद्याधरोरगकराहतहेमघण्टाटङ्कारहारि भवनं त्रिपुरान्तकस्य ॥६०॥
> तस्मिंश्चराचरगुरोर्हरियावचूलचूडामणेरपचितिं विधिवद्विधाय।
> साकं फणीन्द्रसुतयाऽम्बरशेषि कम्बुतूर्यस्वनोर्मि स च राजकुलं विवेश ॥६१॥

इसके अनंतर सिंधुराज ने धारानगरी में प्रवेश कर वहाँ नागलोक से लाए हुए शिवलिंग की प्रतिष्ठा की है।

नागलोक से साथ आए हुए लोगों को तथा शशिप्रभा की सहचरियों को सम्मानपूर्वक बिदा दी गई। अब 'सिंधुराज नव-साहसांक' ने पुनः यथापूर्व साम्राज्य-श्री को धारण किया।

> "नीलच्छत्रावतंसा भुजगपतिसुतापाण्डुगण्डस्थलान्तः-
> कस्तूरीपङ्कपत्रव्यतिकरशबलव्यायतांसे सलीलम्।
> देवेनाथ स्वमन्त्रिप्रवरचिरधृता साहसाङ्के न दीर्घे
> रोदण्डाघातरेखे पुनरपि निदधे दोष्णि साम्राज्यलक्ष्मीः" ॥

सूर्यनारायण व्यास

---

(६) गोरा बादल की बात

[लेखक—श्री मायाशंकर याज्ञिक, बी० ए०, अलीगढ़]

श्रद्धेय रायबहादुर महामहोपाध्याय श्री गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा ने नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग १३, अंक ४ में एक लेख कवि जटमल-कृत "गोरा बादल की बात" नामक पुस्तक पर प्रकाशित किया है। इस लेख में ओझाजी ने इस पुस्तक का आशय प्रकट करके ऐतिहासिक दृष्टि से उस पर विवेचना की है। मलिक मुहम्मद जायसी के पदमावत में भी गोरा बादल की वीरता का वर्णन है इसलिये ओझाजी ने पदमावत और "गोरा बादल की बात" के कथानकों का मिलान करके उनमें जहाँ जहाँ भिन्नता है उसका भी दिग्दर्शन कराया है। जैसा कि ओझाजी ने लिखा है, गोरा बादल की वीरगाथा राजपूताने में घर घर बड़े प्रेम से गाई जाती है। ऐसी अवस्था में गाथा के कथानक में भिन्नता उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। परंतु देखने में आता है कि कथानक की मुख्य मुख्य घटनाओं के वर्णन में भी भेद पाया जाता है। इसलिये यह कहना कठिन हो जाता है कि गाथा का मुख्य रूप क्या था। हमारे पास "पद्मनी-चरित्र" नाम की एक प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तक है। इसमें भी गोरा बादल की वीरता का वर्णन किया गया है। इस पुस्तक में पाँच-छः बड़ी बड़ी घटनाओं को छोड़कर शेष सब में "पदमावत" तथा "गोरा बादल की बात" से अंतर है। पाठकों के मनोरंजनार्थ "पद्मनी-चरित्र" के कथानक की मुख्य मुख्य भिन्नताओं को हम इस लेख में दिखलाते हैं।

"पद्मनी-चरित्र" की रचना मेवाड़ाधिपति हिंदूपति महाराणा जगतसिंहजी (संवत् १६८५–१७०६) के समय में हुई थी। महा-

राणा जगतसिंहजी की माता जांबवतीजी के प्रधान श्रावक हंसराज के भाई डूंगरसी के पुत्र लालचंद ने "पद्मनी-चरित्र" की रचना की थी। कवि ने ग्रंथ-निर्माण आदि का वर्णन इस प्रकार किया है :—

"संवत सतरै बिड़ोतरे, श्री उदयपुर सु वखाण।
हिंदुपति श्री जगतसिंह जिहरि, राज करे जग भाण॥
तासु तणी माता श्री जांबवती कहीरे, निरमळ गंगा नीर।
पुण्यवंत पट दरसण, सेवक करैं सदारे धर्ममूरति मतधीर॥
तेह तणा परधान जगत में जाणीयैरे, अभिनव अभयकुमार।
केसर मंत्री सरधुत अरि करि केसरी रे, हंसराज तासीर॥
तसु बंधव डूंगरसी ते पण दीपतोरे भागचंद कुल भाण।
विनयवंत गुणवंत सोभागी सेहरोरे वड़दाता गुण जाण॥
तासु सुत आग्रहै करि संवत सतरे सतोतरे चैत्री पूनम रविवार।
नव रस सहित सरस संबंध नवो रच्योरे निज बुध ते अनुसार॥"

ग्रंथकर्ता का नाम लब्धोदय अथवा लालचंद था। ग्रंथ में जगह जगह "लब्धोदय कहै" अथवा "लालचंद कहै" लिखा मिलता है।

ग्रंथकर्ता तथा ग्रंथ-निर्माण-काल का परिचय देने के पश्चात् "पद्मनी-चरित्र" की और पदमावत तथा गोरा बादल की बात की कथाओं में जो मुख्य मुख्य भेद हैं वे दिखाए जाते हैं।

(१) जायसी हीरामन तोते के द्वारा पद्मिनी का रूप सुनकर रत्नसिंह का उस पर मोहित होना लिखता है। जटमल भाटों द्वारा पद्मिनी के रूप-गुण का वर्णन कराकर राजा का मोहित होना लिखता है। इन दोनों के विरुद्ध पद्मनी-चरित्र का कर्ता रत्नसिंह का पद्मिनी की खोज में जाने का तीसरा ही कारण बतलाता है। रत्नसिंह की अनेक रानियाँ थीं परंतु उनमें से पटरानी परभावती पर राजा का सबसे अधिक स्नेह था—

"पटराणी परभावती रूपे रंभ समान।
देखत सुरी न किन्नरी असी नारि न आन॥
चंद्रवदन गजराजगति पगगवेणि मृगनैन।
कटि लचकति कुचभार तें रति अपछर है एन॥
राणी अवर राजा तणेजी रूप निधान अनेक।
पणि नगड़ो परभावतीजी रंज्यो करी विवेक॥"

इस रानी से राजा को वीरभाण नाम का प्रतापी पुत्र भी उत्पन्न हुआ था। एक दिन भोजन के समय राजा ने परभावती से भोजन अच्छा न बनने की शिकायत की। इस पर रानी ने रोष करके कहा--

"तब तड़की बोली तिसेजी, राणी मन धरि रोस।
नारी आंणो कां न बीजी, द्यो मत झूठो दोस॥
हमे बोलणी जोणां नही जी, कि सूं करीजै वाद।
पदमणि का परणो न बीजी, जिम भोजन है स्वाद॥"

रानी के ऐसे वचन सुनकर कि मेरा भोजन पसंद नहीं है तो किसी पद्मिनी स्त्री से विवाह क्यों नहीं कर लेते, राजा रत्नसेन को भी क्रोध आ गया। भोजन करना छोड़कर वह उसी चण खड़ा हो गया और कहने लगा--

"राणो तो हूँ रतनसी परणुं पदमनि नारि।
मो सातो बोलै मुन्है जे मैं राख्यो मान।
परणुं तरुणी पदमनी गालूं तुम्ह गुमान॥"

इस कारण राजा एक खवास को साथ लेकर पद्मिनी स्त्री लाने के लिये चल दिया।

(२) जायसी के अनुसार राजा स्वयं कष्ट उठाता हुआ, बिना किसी योगी की सहायता के, सिंहल पहुँचता है। जटमल का कथन है कि चित्तौड़ में ही राजा को एक योगी मिल गया। योगी

ने अपने योगबल द्वारा राजा को सिंहल पहुँचा दिया। "पद्मनी-चरित्र" में, इन दोनों का मिश्रण करके, समुद्र-तट तक राजा का स्वयं जाना लिखा है। वहाँ सिंहल पहुँचने में भयानक समुद्र को बीच में देख राजा विचार में पड़ गया। परंतु औघड़नाथ सिद्ध के द्वारा यह संकट शीघ्र दूर हो जाता है। औघड़नाथ, योगबल से, राजा को तुरंत सिंहल पहुँचा देता है।

(३) सिंहल पहुँचकर रत्नसेन को सिंहल के राजा तक पहुँचने में कुछ विशेष कष्ट नहीं उठाना पड़ा। न तो जायसी के कथनानुसार हीरामन तोते द्वारा पद्मिनी से परिचय की आवश्यकता पड़ी और न शिवजी की आज्ञा से सिंहल के राजा ने पद्मिनी के साथ रत्नसेन का विवाह किया। जटमल के कथनानुसार योगी द्वारा राजा के परिचय की भी आवश्यकता नहीं पड़ी। "पद्मनी-चरित्र" में लिखा है कि रत्नसेन के सिंहल पहुँचने के समय वहाँ के राजा ने अपनी बहन पद्मिनी के विवाह के लिये ढिंढोरा पिटवाया था जिसका वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

"नगर मध्य आया तिसैरे, ढंढेरा नो ढोल रे।
राजा वाजे सांभली रे, बोले एहवा बोल रे॥
पहह छबी ने पूछीयो रे, ढोल बाजे किण काज रे।
तब बोल्या चाकर तिसे रे, वात सुणो महाराज रे॥
सिंघल दीपनो राजीयो रे, सिंघल सिंह समान रे।
तसु बहन छे पदमिणी रे, रूपे रंभ समान रे॥
जोबन लहरयां जायछे रे, ते पायें भरतार रे।
परतंग्या जे पूरवे रे, तासु वरे घरमार रे॥
जीपे पांचवे नेत्र टोरे, ते पायें भरतार रे।
तिण कारण सुण राजीया रे, पडह दीयो इण वात रे॥"

इस ढिंढोरे के अनुसार राजा रत्नसेन ने अखाड़े में अपना-पराक्रम दिखा विजय के साथ पद्मिनी को भी पाया। विवाह के पश्चात् छः महीने और कुछ दिवस सिंहल में रहकर राजा, बहुत से हाथी-घोड़े दास-दासियों के साथ, पद्मिनी को लेकर चित्रकूट वापस आया। इस समय तक राजा के पुत्र वीरभाण ने राज्य का प्रबंध किया था।

(४) राघव चेतन के संबंध में भी तीनों ग्रंथकारों ने पृथक् पृथक् बातें लिखी हैं—

(क) जायसी राघव चेतन को जादूगर बतलाता है और लिखता है कि जब राजा को राघव चेतन का जादूगर होना मालूम हुआ तब उसको अपने पास से निकाल दिया। राघव चेतन ने दिल्ली जाकर अलाउद्दीन से पद्मिनी के सौंदर्य की प्रशंसा की और इस प्रकार वह अलाउद्दीन को चित्तौड़ पर चढ़ा लाया।

(ख) जटमल राघव चेतन का सिंहल से ही राजा के साथ आना कहता है और लिखता है कि शिकार में राघव चेतन ने पद्मिनी के सदृश एक पुतली बनाई। उस पुतली की जंघा पर एक तिल भी बनाया। पद्मिनी की जंघा पर ऐसा तिल था। राजा ने राघव चेतन पर संदेह करके उसको चित्तौड़ से निकाल दिया।

(ग) "पद्मनी-चरित्र" का कर्त्ता राघव चेतन के विषय में तीसरी ही बात कहता है। राघव चेतन नामक व्यास (कथा-वाचक पंडित) चित्तौड़ में रहता था। राजा के यहाँ उसका बहुत सम्मान था। वह राजमहल में, दिन में अथवा रात में, सब जगह जाता था। एक दिन राजा पद्मिनी के साथ एकांत में क्रीड़ा कर रहा था। राघवचेतन बिना सूचना दिए वहाँ चला गया। राजा ने क्रुद्ध हो उसको महल से बाहर निकलवा दिया।

(५) राघव ने राजा के क्रोध से भयभीत होकर चित्तौड़ छोड़ दिया। दिल्ली जाकर उसने वहाँ, ज्योतिष विद्या और अपने पांडित्य के कारण, बहुत ख्याति प्राप्त की। यहाँ तक कि सुलतान अलाउद्दीन ने आदर के साथ बुलाकर उसको अपने पास रखा। अवसर पाकर राघव ने प्रपंच रचकर एक भाट द्वारा राजहंस पक्षी के पर को सुलतान के सम्मुख उपस्थित कराया और उससे कहलाया कि पद्मिनी स्त्रियों के शरीर की कोमलता इससे भी अधिक होती है। सुलतान के प्रश्न करने पर राघव ने पद्मिनी, चित्रिणी, हस्तिनी तथा शंखिनी स्त्रियों के लक्षणों का वर्णन किया। सुलतान ने मणिमय महल में अपनी सब स्त्रियों के प्रतिबिंब राघवचेतन को दिखलाए। राघव चेतन ने कहा कि उनमें एक भी पद्मिनी नहीं है। जटमल ने राजहंस की जगह खरगोश और मणिमय महल की जगह तैलकुंड का वर्णन किया है।

आगे की कथा में भी इसी प्रकार तीनों ग्रंथों में थोड़ी थोड़ी भिन्नता है। लेख बढ़ जाने के भय से उसका यहाँ वर्णन नहीं किया जाता। आशा है, "गोरा बादल की बात" के विद्वान् संपादक तीनों ग्रंथों के कथानक की भिन्नता तथा उसके कारणों पर अवश्य विचार करेंगे।

---

(७) पद्माकर के काव्य की कुछ विशेषताएँ

[लेखक—श्री अखौरी गंगाप्रसाद सिंह, काशी]

(१)

पद्माकर प्राचीन हिंदी-काव्य के अंतिम शैली-निर्मायक हो गए हैं। उनके पूर्व के शैली-निर्मायकों में चंद, सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, मतिराम, देव, घनानंद, ठाकुर आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। यद्यपि पद्माकर के काव्य में हम उनके पूर्ववर्ती कवियों का यथेष्ट प्रभाव पाते हैं; किंतु उनकी सानुप्रास सरल सुकुमार भाषा, प्रभावोत्पादक वर्णन-शैली और उनके छंदों का सुढार बहाव उन्हें अन्य कवियों से सर्वथा पृथक् कर देता है। उनकी शैली लोक-रुचि के इतना अनुकूल थी कि उनके पश्चात् हिंदी-काव्य की प्राचीन परिपाटी के जितने भी कवि हुए हैं, प्राय: उन सबने उनकी शैली को ही अपनाया है। इस स्थल पर पद्माकर के काव्य की उन विशेषताओं पर ही किंचित् प्रकाश डालने की चेष्टा की जायगी जिनके कारण वे ऐसे लोकप्रिय बन सके हैं।

काव्य के दो प्रधान अंग माने गए हैं—कला और भाव। कला से भाषा-प्रयोग के उस कौशल अथवा गुण से तात्पर्य है जो किसी नियम का आश्रय लेकर वर्णन में सुंदरता का आविर्भाव करे। भाव मन के उस विकार को कहते हैं जिसका निदर्शन काव्य में अभिप्रेत हो। कला काव्य का शरीर है तो भाव उसकी आत्मा। जिस वर्णन में दोनों का उत्कृष्ट प्रदर्शन हो वही श्रेष्ठ काव्य है।

काव्य-कला में भाषा ही मुख्य साधन है। सुंदर भाषा उन्नत भाव के अभाव में भी मन को मुग्ध कर लेती है और उन्नत भाव-संपन्न असुंदर भाषा उपेक्षणीय हो जाती है। जो भाषा कवि के अभिप्रेत

भाव को मूर्तमान् करने के साथ ही साथ सब के लिये बोधगम्य होती है उसी को सुंदर भाषा कहा जा सकता है। पद्माकर की भाषा ऐसी ही हुई है। उन्होंने तत्कालीन प्रचलित हिंदी—बुंदेलखंडी-मिश्रित ब्रजभाषा—में अपनी रचनाएँ की हैं। यद्यपि उनकी रचनाओं में कहीं कहीं प्राकृत अपभ्रंश का प्रभाव भी दृष्टिगत होता है, किंतु ऐसा प्रयोग उनके वीर एवं रौद्र-रस-संबंधी काव्यों में ही पाया जाता है। भाषा की सुबोधता के विचार से उस समय के सर्व-साधारण में प्रचलित उर्दू शब्दों का उन्होंने यथेष्ट व्यवहार किया है। अधिकतर उन्होंने उर्दू अथवा फारसी शब्दों के तद्भव रूप का ही प्रयोग किया है; जैसे—फराकत, फरसबंद, रोसनी, अजार इत्यादि। परंतु कहीं कहीं तत्सम रूप का भी प्रयोग देखा जाता है; जैसे—कलाम, जालिम, मुकर्रर आदि। काव्य में ग्राम्य एवं अप्रचलित शब्दों का प्रयोग दोष माना गया है; पर वैसे शब्दों का प्रयोग भी उनकी भाषा में कम नहीं पाया जाता, यथा—करेजा, गरैया, खसबोय आदि। परंतु ऐसे शब्दों का प्रयोग उन्होंने ऐसी खूबी से किया कि उनके काव्य की सुंदरता में कोई अंतर नहीं आया है, वरन् उसका उत्कर्ष ही हुआ है। नाद-साम्य एवं अनुप्रासों की रचा के विचार से ही उन्होंने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है। नाद-साम्य और अनुप्रास-बहुल भाषा अत्यंत श्रवणसुखद होती है, इसी से उसके प्रति उनका अत्यधिक प्रेम देखा जाता है। उनके प्राय: सभी छंदों में अनुप्रासों की वाहिनी देखी जाती है। यहाँ पर एक उदाहरण देना अनुचित न होगा—

कूलन मे केलि में कछारन मे कुंजन में,
क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है।
कहै 'पदमाकर' पराग हू में पौन हू में,
पातिन में पीकन पलासन पगंत है॥

द्वार में दिसान में दुनी में देस देसन में,
देखो दीप दीपन में दीपति दिगंत है।
विपिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में,
बनन में बागन में बगरयो बसंत है॥

पद्माकर के इस अनुप्रास-प्रेम की अतिशयता के प्रति लक्ष्य करके कुछ लोग ड्राइडेन (Dryden) के शब्दों में व्यंग्य करते हैं कि—

One (verse) for sense and one for rhyme
Is quite sufficient at a time.

एक पंक्ति भाव के लिये तथा एक अनुप्रास के लिये लिखी गई है। किंतु षड्ऋतु-वर्णन, यशकीर्तन आदि से संबंध रखनेवाले कुछ वर्णनात्मक छंदों को छोड़कर—जहाँ पर उन्होंने जान-बूझकर वैसे प्रयोग किए हैं—उनके काव्य में ऐसे स्थल बहुत कम आए हैं जहाँ उनका, अनुप्रासों का, प्रयोग अरुचिकर मात्रा में हुआ हो। प्रायः देखा गया है कि जहाँ अनुप्रासों के प्रति अत्यधिक अनुराग होता है वहाँ भाव उनके बोझ से दबकर निर्बल हो जाते हैं, किंतु पद्माकर के संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। सुंदर भावों के प्रदर्शन के समय उनकी भाषा स्वभावतः सुंदर हुई है। उन्होंने अपनी भाषा को प्रसंग के अनुरूप बनाने की सफल चेष्टा की है। शृंगार और भक्ति संबंधी काव्य ही उनका श्रेष्ठ हुआ है और तदनुकूल उपनागरिका तथा कोमला वृत्ति के प्रयोग से वह माधुर्य एवं प्रसाद-गुण से संपन्न हुई है। ओज यद्यपि पद्माकर की भाषा का प्रधान गुण नहीं है तथापि भयानक, वीर एवं रौद्र रस के काव्यों में परुषा वृत्ति के प्रयोग द्वारा उन्होंने उसे लाने की चेष्टा की है। उपनागरिका तथा कोमला वृत्ति का उन्होंने जितना स्वाभाविक प्रयोग किया है परुषा का प्रयोग उनका यद्यपि उतना स्वाभाविक नहीं हुआ है तथापि उन्हें उसमें सर्वथा असफल भी नहीं माना जा सकता। प्रथम दो वृत्तियों के प्रयोग आगे

उदाहरण में आनेवाले प्राय: सभी छंदों में मिलेंगे। इस स्थल पर परुषा वृत्ति का एक उदाहरण देना ही उपयुक्त होगा—

> मारि टारि डारौं कुंभकर्णहि बिदारि डारौं,
> मारौं मेघनादै आजु यौं बल अनंत हौं।
> कहै 'पदमाकर' त्रिकूटहू को ढाहि डारौं,
> डारत करेई जातुधानन को अंत हौं॥
> अच्छहि निरच्छि कपि रुच्छ ह्वै उचारौं इमि,
> तोसे तिच्छ तुच्छन को कछुवै न गंत हौं।
> जारि डारौं लंकहि उजारि डारौं उपवन,
> फारि डारौं रावण को तौ मैं हनुमंत हौं॥

सरलता और तरलता भी भाषा के अन्यतम गुण हैं। सरलता से सहज बोधगम्य भाषा का तात्पर्य है। सरल भाषा सर्व-साधारण के चित्त को सहज ही आकर्षित कर लेती है। भाषा का लचीलापन ही उसका तारल्य है। जो भाषा लचीली होती है वह कठिन से कठिन भाव को भी सहज ही व्यक्त कर सकती है। पद्माकर की भाषा में हम इन दोनों गुणों का यथेष्ट समावेश पाते हैं। उदाहरण के लिये एक छंद दिया जाता है—

> पाती लिखी सुमुखि सुजान पिय गोविंद को,
> श्रीयुत सलोने स्याम सुखनि सने रहौ।
> कहै 'पदमाकर' तिहारी छेम छिन छिन,
> चाहियतु प्यारे मन मुदित घने रहौ॥
> बिनती इती है कै हमेसहूँ हमैं तो निज,
> पायन की पूरी परिचारिका गने रहौ।
> याही में मगन मन-मोहन हमारो मन,
> लगनि लगाय लाज भगन बने रहौ॥

भाषा तथा भाव दोनों ही कितने सहज एवं सरल रूप में अंकित हुए हैं। छोटे सरल वाक्यों में एक सती की हृदय-कामना जैसे प्रत्यक्ष बोल रही है। सती का हृदय-सौंदर्य जितना ही सात्त्विक और उच्च भावना से पूर्ण है, आडंबरहीन मधुर शब्दों का चुनाव भी उतना ही उत्कृष्ट हुआ है।

लोकोक्ति, कहावत अथवा मुहाविरों के प्रयोग से भाषा बहुत सुंदर और प्रभावोत्पादक बन जाती है। पद्माकर के काव्य में ऐसे प्रयोगों का दर्शन भी यथेष्ट रूप में मिलता है—

जो बिधि भाल मे लीक लिखी सो बढ़ाई बढ़ै न घटै न घटाई।

दोष बसंत को दीजै कहा उलहै न करील के डारन पाती।

तन जोबन है घन की परछाहीं।

अब हाथ के कंगन को कहा आरसी।

साँचहुँ ताको न होत भलो जो न मानत है कही चार जने की।

चाहै सुमेरु को राई करै रचि राई को चाहै सुमेरु बनावै।

सोने में सुगंध न सुगंध में सुन्यो री सोनो, सोनो औ' सुगंध तोमें दोनों देखियतु है।

आपने हाथ सों आपने पाँय मैं पाथर पारि परयो पछताने।

बात के लागे नहीं ठहरात है ज्यों जलजात के पात पै पानी।

इत्यादि।

इन सबके अतिरिक्त पद्माकर ने अनेक अलंकारों के द्वारा अपनी भाषा को सुसज्जित करने की चेष्टा की है। अलंकार से भाषा-प्रयोग की चमत्कारपूर्ण शैली का तात्पर्य है। पद्माकर का अलंकारों का प्रयोग अत्यंत उपयुक्त तथा स्वाभाविक हुआ है। किसी अनाड़ी राजकुलांगना के समान उनकी कविता-कामिनी न तो अलंकारों के बोझ से दबी हुई है और न किसी ग्राम्य बाला के समान निराभरणा ही है। नागरिक रमणियों के समान उसमें अल्प किंतु सुंदर अलंकारों का उपयुक्त समावेश देखा जाता है जिससे

उनकी कविता का सौंदर्य यथेष्ट रूप में विकसित हुआ है। यद्यपि कभी कभी अपने समय की परिपाटी के अनुसार शब्दालंकार के प्रेम के वशीभूत होकर उन्होंने काव्य के अर्थ-गौरव पर कम ध्यान दिया है; किंतु फिर भी उसके सौंदर्य में विशेष कमी नहीं आने पाई है। इस स्थल पर पृथक् रूप से उनके अलंकार-सौंदर्य-प्रदर्शन की विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती; क्योंकि अलंकार-विहीन छंद उन्होंने बहुत कम लिखे हैं।

पद्माकर की भाषा का प्रवाह सर्वोपरि अवलोकनीय है। उनकी भाषा में जो प्रवाह है वह हिंदी के दो-चार इने-गिने कवियों में ही पाया जा सकता है। अलंकार आदि उनकी भाषा को उत्कृष्ट बनानेवाले उपकरण अवश्य हुए हैं; पर वास्तव में उनकी भाषा का प्रवाह ही इतना उत्तम हुआ है—उनके शब्दों का चुनाव ही इतना उत्कृष्ट है—कि किसी प्रकार के अलंकार आदि की सहायता न लेते हुए भी उन्होंने जिस भाव को अंकित करना चाहा है, वह मूर्त्तिमान् हो उठा है—प्रत्यक्ष हो गया है। इसी कारण पद्माकर काव्य-कलाकारों में कुशल चित्रकार माने गए हैं। उनकी भाषा की यही सबसे बड़ी विशेषता है। उदाहरणार्थ—

> यदपि खरी प्यावै गउ तिहिको पदमाकर को मन लावतु हैं।
> तिय जानि गरैया गही घनमाल सु पैंच्यो लला इच्यो धावतु हैं॥
> दवटी करि दोहिनि मोहिनि की अँगुरी थन जानि दबावतु है।
> दुहियो औ' दुहाइबो दाउन को सखि देखत ही बनि आवतु है॥

आंतर सौंदर्य का कितना सुंदर चित्र है! प्रेमाधिक्य में कितनी अधिक तन्मयता है! विभ्रम हाव का ऐसा सजीव एवं स्वाभाविक चित्र हिंदी-साहित्य में बहुत कम देखने को मिलेगा। ऐसा प्रतीत होता है मानों यह घटना नेत्रों के सम्मुख ही घट रही है। इसी में तो भाषा की सार्थकता है! उपनागरिका वृत्ति का प्रयोग शृंगाररस के

अनुकूल हुआ है। सरल शब्दों एवं छोटे वाक्यों के प्रयोग से भाषा में ऐसा माधुर्य एवं प्रवाह आ गया है, जो हृदय में स्वर्गीय आनंद का आविर्भाव कर मन को मुग्ध बना देता है।

भाषा की दृष्टि से पद्माकर का स्थान बहुत ऊँचा है। उनकी भाषा भाव की अनुरूपिणी हुई है। उनकी भाषा की लोक-प्रियता के तीन प्रधान कारण हैं—(१) तत्कालीन प्रचलित शब्दों का छोटे वाक्यों में प्रयोग, (२) उचित वृत्त और अलंकारों का उपयोग, (३) प्रवाह का निर्वाह। उनकी भाषा में मिश्रित वाक्य (Complex sentence) का कोई उदाहरण ढूँढने पर भी नहीं मिलता। अमिश्रित वाक्यों तथा सहज बोधगम्य शब्दों के प्रयोग के कारण उनकी भाषा में जटिलता नहीं आने पाई है। वह स्वच्छ, सरल, तरल और सर्वजनोपभोग्य हुई है। उनकी प्रसाद-गुण-संपन्न सजीव भाषा के साथ सुंदर भावों का मिश्रण बहुत ही मनोमुग्धकर हुआ है। उनकी शैली मे न तो चंद या कबीर की सी रूक्षता है और न केशव की सी क्लिष्टता। वह मक्खन-मिस्री के समान है जो मुख में रखते ही कंठ के नीचे उतर जाता है और मन तथा प्राण को शीतल एवं संतुष्ट कर देता है। भाषा तथा शैली का सबसे बड़ा गुण यही है कि कवि जिस चित्र को अंकित करना चाहे उसे वे मूर्तिमान् कर दें। पद्माकर की भाषा तथा शैली में यह गुण उत्कृष्ट रूप में पाया जाता है। उनकी भाषा के संबंध में जो कुछ भी आक्षेप है वह है उसकी अनुप्रास-बहुलता पर। यद्यपि यह आक्षेप बिलकुल निराधार नहीं है, फिर भी हम कह सकते हैं कि जिस तीव्रता से उनकी भाषा पर यह दोषारोपण किया जाता है, वह उसके योग्य नहीं है। इस संबंध में राय बहादुर बाबू श्यामसुंदरदासजी की सम्मति सर्वथा उपयुक्त है—"पद्माकर की अनुप्रास-प्रियता बहुत प्रसिद्ध है। जहाँ अनुप्रासों की ओर अधिक

ध्यान दिया जायगा, वहाँ भावों का नैसर्गिक प्रवाह अवश्य भंग होगा और भाषा में अवश्य तोड़-मरोड़ करनी पड़ेगी। संक्षेप की बात इतनी ही है कि उनके छंदों में उनकी भाव-धारा को स्वच्छ, सरल प्रवाह मिला है, जिनमें हावों की सुंदर योजना के बीच में सुंदर चित्र खड़े किए गए हैं।.........मुक्तक रचनाओं में पद्माकर ने अच्छा चमत्कार प्रदर्शित किया है। आधुनिक हिंदी के कुछ कवियों तथा समीक्षकों की दृष्टि में पद्माकर रीति-काल के सर्वोत्कृष्ट कवि ठहरते हैं।.........इनकी भाषा का प्रवाह बड़ा ही सुंदर और चमत्कारयुक्त है।" ब्रजभाषा के कवियों में पद्माकर के उच्च स्थान पाने का अधिकांश श्रेय उनकी सुंदर सानुप्रास भाषा को ही है। सुंदर भाषा के प्रायः सभी गुण पद्माकर की भाषा में पाए जाते हैं। रीति-कालीन कवियों में भाषा-सौष्ठव के विचार से पद्माकर का स्थान प्रथम श्रेणी में ही माना जायगा।

(२)

पद्माकर की प्रतिभा ने अपनी काव्य-धारा को त्रिमुखी प्रवाहित किया है। उनकी हिम्मतबहादुर-विरुदावली तथा प्रतापसिंह विरुदावली में वीरगाथा काल की स्मृति पाई जाती है, उनके रामरसायन, प्रबोध पचासा, ईश्वरपचीसी यमुनालहरी तथा गंगा-लहरी में भक्ति-काल का दर्शन मिलता है एवं उनके पद्माभरण, जगद्विनोद तथा आलीजाहप्रकाश से रीति-काल का ज्ञान होता है। इस प्रकार पद्माकर के काव्य में हिंदी-साहित्य के इतिहास के तीनों कालों की काव्य-प्रवृत्ति का समन्वय पाया जाता है। जो काल जितने ही पहले का है, पद्माकर की तत्कालीन काव्य-प्रवृत्ति की रचना में उतनी ही कम सफलता मिली है। वीर-काव्य की अपेक्षा उनका भक्ति-काव्य उत्तम हुआ है और भक्ति-काव्य की अपेक्षा उनका शृंगार-काव्य। शृंगार-काव्य लोकरुचि के अनुकूल होता है, इसी से

उनका शृंगार-काव्य जितना प्रसिद्ध है उतना अन्य काव्य नहीं। हम भी इस स्थल पर पहले शृंगार-काव्य का दिग्दर्शन कर भक्ति और वीर काव्य पर किंचित् प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

पद्माकर की कल्पना का विहार-क्षेत्र अथवा उनके भाव-राज्य का विस्तार बहुत व्यापक नहीं कहा जा सकता। वाल्मीकि अथवा सूर के कल्पनाकाश के समान न तो उनके काव्य में अनुभूति-विस्तार पाया जाता है और न कबीर के भाव-सागर का सा गांभीर्य ही। उनकी कविता न तो आदर्शवादी भवभूति अथवा तुलसी की सी पुण्य देव-भावनाओं से ओत-प्रोत है और न शेक्सपियर की भाँति संसार की नरकाग्नि का ही चित्रण करती है। उनके भाव नर-नारियों के सौंदर्य की उपासना में ही सीमित हैं। वे उतने में ही यथेष्ट सुंदर रूप मे विकसित हुए हैं। उनकी कल्पना यद्यपि कृशवदना है, किंतु सौंदर्य तथा मादकता से इतनी परिपूर्ण है कि वह अपने प्रेमियों के मन के साथ तादात्म्य स्थापित कर उन्हे तन्मय बना देती है। उनकी कविता के स्वर्ण-संसार में पहुँचकर मनुष्य कुछ काल के लिये अपने वर्त्तमान अस्तित्व से बेसुध हो जाता है। संसार की नरकाग्नि तथा जीवन की जटिलताएँ उसे विस्मृत सी हो जाती हैं और वह एक ऐसे स्वप्न-लोक मे पहुँचता है, जहाँ प्रेम का साम्राज्य है, प्रेम के ही वशीभूत होकर आकाश अपनी निर्मल नीलिमा प्रदर्शित करता है, चंद्र अपनी धवल किरणें विकीर्ण करता है, अरुण राग-रंजित मुसकान भरता है, वायु मृदु गुदगुदी से शरीर को पुलकित करता है और फूल-पत्ते अपनी बहुरंगी आकृति से चित्त को आकर्षित करते हैं। वहाँ के नर-नारी प्रेम के ही आनंद से आनंदित रहते हैं और प्रेम की ही पीड़ा से पीड़ित। उनकी प्रेमपुरी की नायक-नायिकाएँ कहने को तो इसी संसार की साधारण गोप-गोपिकाएँ हैं, पर हैं वे राज-

कुलांगनाओं से भी अधिक सुखी एवं समृद्धिशालिनी एवं देवबालाओं से भी अधिक सुंदर तथा सुकुमार हृदयवाली। वे बड़े बड़े राजप्रासादों में रहती हैं, बाग-बगीचों में विहार करती हैं जहाँ विलास की सभी सामग्री प्रस्तुत रहती हैं। उन्हीं के बीच वे हीरे जवाहरात के आभूषणों से सज्जित तथा सुगंध-वासित, अत्यंत बारीक वस्त्र धारण किए—जिसमें से उनके अंग-प्रत्यंग का सौंदर्य परिलक्षित होता है—अपनी प्रेम-क्रीड़ा में मस्त रहती हैं; इहलोक अथवा परलोक से उनका कोई संपर्क नहीं। उनके इन नायक-नायिकाओं के सुख-दु:ख की गाथा सुनते सुनते मन मोहित हो जाता है—प्राय तंद्राभिभूत हो जाता है। उनकी कविता के जादू का अवसान होने पर मनुष्य को, अपनी प्रकृतिस्थ अवस्था में आने पर, एक मीठी ठेस लगती है तथा कोई बहुत ही अच्छा स्वप्न देखते देखते सहसा नींद टूट जाने पर जैसा अवसाद प्रतीत होता है, और पुन: आँख बंद कर उसी स्वप्न-लोक में विचरण करने की इच्छा होती है, ठीक उसी अवस्था का वह भी अनुभव करता है। जो उनके एक छंद को सुन लेता है वह उनके दूसरे छंद को सुनने का अभिलाषी होता है; जो उनका एक चित्र देख लेता है वह उनके दूसरे चित्र को देखने की इच्छा रखता है। इसी में पद्माकर के काव्य की संपूर्ण सार्थकता है। पद्माकर के काव्य में मतिराम अथवा रसखान की सरलता, विद्यापति अथवा देव की ऐंद्रियता (sensation) तथा जयदेव, दास, अथवा तोष की भावानुभूति (passion) पाई जाती है।

नारी-सौंदर्य के अंकन में संसार के प्राय: सभी श्रेष्ठ कवियों ने अपनी प्रतिभा का कौशल दिखलाया है। भारतीय कवियों ने उसके नख-शिख के शृंगार में अपनी जितनी शक्ति व्यय की है, संसार के किसी भी देश में संभवत: उसका दूसरा उदाहरण न मिलेगा।

हिंदी के कवियों में गोस्वामी तुलसीदासजी की नारी-सौंदर्यानुभूति बहुत ही उत्कृष्ट और पवित्र हुई है। उसमें आध्यात्मिकता का पूर्ण विकास है। साधारण जन के लिये उसकी कल्पना भी असंभव है। कल्पनातीत की कल्पना कोई पारदर्शी कवि ही कर सकता है। सूरदास की सौंदर्यानुभूति में आध्यात्मिकता तथा भौतिकता का मिश्रण पाया जाता है। तुलसीदास के काव्य में सौंदर्य का शरदिंदु विकसित हुआ है जिससे मन और प्राण शीतल हो जाते हैं। सूरदास की उपमा-बहुल रचनाओं में विद्युत् की तड़प है जिससे तृप्ति के स्थान पर पिपासा ही जागरित होती है। विद्यापति के काव्य में सूरदास की अपेक्षा भौतिकता की मात्रा कहीं अधिक है, साथ ही साथ उसमें ऐंद्रियता का भी विकास पाया जाता है। उन्होंने उसमें जिस सौंदर्य को प्रस्फुटित किया है, उसका उपभोग साधारण काव्य-प्रेमी भी कर सकते हैं। केशवदास ने न तो किसी अलौकिक सौंदर्य की कल्पना की है और न भौतिक सौंदर्य का चित्रण। उनके काव्य में न तो ऐंद्रियता है और न सरलता ही; है केवल विस्मयोत्पादक शक्ति। वह आनंदोद्रेक करने की अपेक्षा आश्चर्य का भाव ही अधिक उत्पन्न करती है, किसी प्रकार के रूप का अनुभव कराने की अपेक्षा कवि की कवित्व-शक्ति का ही अधिक परिचय देती है। इन महाकवियों के साथ पद्माकर की सौंदर्यानुभूति का मिलान करके देखने से वह सर्वथा भिन्न प्रकार की प्रतीत होती है। उसमें केवल भौतिक तत्त्वों का वर्णन पाया जाता है। उसमें ऐंद्रियता तथा भावानुभूति दोनों ही का अच्छा विकास हुआ है। जिस चित्र का अंकन किया गया है, वह मानो मूर्त्तमान् हो उठा है—संजीवित हो गया है—सर्वजनोपभोग्य बन गया है। कोमलकलेवरा कामिनी के रूप-कांचन का वर्णन देखिए—

सुंदर सुरंग नैन सोभित अनंग रंग,
अंग अंग फैलत तरंग परिमल के।
बारन के भार सुकुमारि को लचत लंक,
राजै परजंक पर भीतर महल के॥
कहै 'पदमाकर' बिलोकि जन रीझै जाहि,
अंबर अमल के सकल जल थल के।
कोमल कमल के गुलाबन के दल के,
सु जात गड़ि पायन बिछौना मखमल के॥

पर्यंकोपस्थिता, कोमलांगी राजकुलांगना के बाह्य सौंदर्य एवं सौकुमार्य का अतिशयोक्ति अलंकार की सहायता से जो शब्द-चित्र अंकित किया गया है वह यद्यपि बहुत उत्कृष्ट नहीं है किंतु प्रशंसनीय है; इसकी प्रसिद्धि भी यथेष्ट है। इसी स्थल पर अकबर और नासिख के दो पद भी मिलान कर देखने योग्य हैं—

नाज़की कहती है सुरमा भी कहीं बार न हो।—अकबर।
यों नज़ाकत से गराँ सुरमा है चश्मे-यार को।
जिस तरह हो रात भारी मर्दुमे बीमार को॥—नासिख।

पद्माकर ने पद की स्वभावत: कठिन त्वचा की कोमलता द्वारा नायिका के कोमल प्राण एवं शरीर का परिचय दिया है। नज़ाकत तो यहाँ तक है कि किसी बाहरी पदार्थ के बोझ की तो बात दूर रही, वह अपने ही शरीर के बालों के बोझ से बारंबार बल खाती है। ऐसी अवस्था में उसकी सुकुमारता के सम्मुख अकबर तथा नासिख की सुकुमारता, जिसमें आँखों में सुरमा लगाकर उसका बोझ असह्य बताया गया है, कहाँ तक होड़ ले सकती है? हाँ, हिंदी के रसलीन की यह सुकुमारता, जिसके लिये उन्होंने लिखा है,

तुव पग-तल मृदुता चितै कवि बरनत सकुचाहिं।
मन में आवत जीभ लौं भए परे छाले जाहिं॥

अवश्य चढ़-बढ़ गई है। किंतु पद्माकर को ऐसे कल्पनातीत वर्णन अभीष्ट नहीं थे। उन्होंने अतिशयोक्ति वहीं तक की जहाँ तक वह बुद्धि-ग्राह्य हो सके।

शैशव से यौवनावस्था में पदार्पण करते ही शरीर में अनेक प्रकार के परिवर्त्तन होते हैं। वे इतने नेत्ररंजक, मनोमुग्धकर तथा महत्त्वपूर्ण होते हैं कि भारतीय कवि उनका वर्णन करते करते मानो थक से गए हैं और फिर भी कुछ नहीं कर सके हैं। पद्माकर ने भी इस अवस्था का अच्छा वर्णन किया है—

कछु गजगति के आहटनि छिन छिन छीजत सेर।
विधु विकास विकसत कमल कछू दिनन के फेर॥

मुग्धा का यौवनागम है, जिसे कवि ने विरोधाभास अलंकार की सहायता से प्रदर्शित किया है।

समय का ऐसा हेर-फेर हो गया है कि गजगति के आहट से सिंह प्रत्येक क्षण क्षीण होता जाता है, अर्थात् ज्यों ज्यों गति मंद होती जाती है त्यों त्यों कमर पतली पड़ती जाती है। चंद्रमा के विकास से कमल विकसित होता है—यह भी विपरीत घटना है। तात्पर्य यह कि ज्यों ज्यों मुखचंद्र की छटा बढ़ती जाती है त्यों त्यों नेत्र विकासमान हो रहे हैं। इसी से तो बिहारी ने भी कहा है—

पल पल पर पलटन लगे जाके अंग अनूप।
ऐसी इक मजबाल को को कहि सकत सरूप॥

पद्माकर का उपर्युक्त दोहा उनकी विदग्धता का अच्छा परिचायक है—

ए अलि, या बलि के अधरान में आनि चढ़ी कछु माधुरई सी।
ज्यों 'पद्माकर' माधुरी त्यों कुच दोउन की चढ़ती उनई सी॥
ज्यों कुच त्यों ही नितंब चढ़े कछु ज्यों ही नितंब त्यों चातुरई सी।
जानि न ऐसी चढ़ाचढ़ि में केहि धौं कटि बीचहि लूटि लई सी॥

शैशव पर यौवनराज ने चढ़ाई की। चढ़ाई भी ऐसी वैसी नहीं, एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा और तीसरे के बाद चौथा धावा बोला गया और इस प्रकार यौवन की विजय हुई। ऐसे अवसर पर विजयी सेना द्वारा किसी पदार्थ का लुट जाना कोई अस्वाभाविक बात नहीं। बालिका बेचारी की कटि भी लूट सी ली गई।

विद्यापति ने भी वयःसंधि के अवसर पर इसी प्रकार का युद्ध कराया है—

> सैसव जौबन दरसन भेल।
> दुहुँ दल बले दंद परि गेल॥
> कबहुँ बाँधय कच कबहुँ बिथारि।
> कबहुँ झाँपय अँग हुकवँ उघारि॥
> अति थिर नयन अथिर कछु भेल।
> उरज उदय थल लालिम देल॥
> चंचल चरन चित चंचल भान।
> जागल मनसिज मुदित नयान॥
> विद्यापति कह सुनु बर कान।
> धैरज धरह मिलायब आन॥

किंतु मम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश में शैशव-यौवन का युद्ध न कराकर अंगों का पारस्परिक विनिमय कराया है, पर मूल भाव सभी के मिलते-जुलते हैं।

> श्रोणीबन्धस्त्यजति तनुतां सेवते मध्यभागः
> पद्भ्यां मुक्तास्तरलगतयः संश्रिता लोचनाभ्याम्।
> वक्षः प्राप्तं कुचसचिवतामद्वितीयन्तु वक्त्रं
> तद्गात्राणां गुणविनिमयः कल्पितो यौवनेन॥

Like a rich jewel in an Ethiop's ear,
Beauty too rich for use, for earth too dear,
So shows a showy dove trooping with crows
As yonder lady, over fellows shows
(Romeo and Juliet)

आइमोजन की सौंदर्य-प्रभा भी मिलान करने योग्य है—

Cytheria,
How bravely thou becomes thy bed, fair lily
Add whiter than the sheets
'Tis her breathing that perfumes the chamber thus,
. . the flame the taper,
Bows towards her, and would underpeep her lids
To see the enclosed light, now canopied,
With blue of heaven's own tinct.
(*Cymbeline*)

अँगरेजी के प्रथम छद में जूलियट के शरीर के प्रकाश को मशाल के प्रकाश से अधिक तेजस्वी बताकर उसके और भी उज्ज्वल भाव से जलने का सकेत किया गया है तथा उसके सौंदर्य को इथियन के कर्णमणि के समान रात्रि के कपोल पर शोभायमान बताया गया है। दूसरे छद में पर्यंकोपस्थिता साइथीरिया के गौर वर्ण का उपमा कुमुदिनी से देकर बताया गया है कि उसकी उपस्थिति से, उसके सहज प्रकाश के कारण, उसके बिस्तर का उज्ज्वल चादर किस प्रकार उज्ज्वलतर हो जाती है, उसके श्वासोच्छ्वास से कमरा किस प्रकार सुगंधित हो रहा है और मोमबत्ती का प्रकाश उसके प्रकाश के सम्मुख किस प्रकार मद पड़कर पलक के पीछे श्वेत एवं नील रग के चौखटवाले झरोखे में छिपे प्रकाश के लिये छटपटा रहा है। महाकवि के दोनों छदों ... बड़े उत्कृष्ट हुए हैं, इसमें सदेह नहीं। शरीर की उज्ज्वल

द्युति का वर्णन इससे अच्छा और क्या हो सकता है! किंतु हमें नम्रता के साथ कहना पड़ेगा कि पद्माकर का छंद विस्तार-लघुता के विचार से कहीं उत्तम बन पड़ा है।

हिंदी के दो-चार अन्य कवियों की सौंदर्य-प्रभा का वर्णन भी मिलान करने योग्य है—

प्यारी ठाढ़ि तीसरे रसाली रंग रावटी में
तकि ताकी ओर छकि रह्यौ नँदनंद है।
'कालिदास' वीथिन दरीचिन ह्वै छूटत
छवि की मरीचिन की झलक अमंद है॥
सोग देखि भामै 'चहा धौं है या' घर में
सुरंगमयो जगमगी ज्योतिन को वृंद है।
लालन को जाल है कि ज्वालनि की माल है
कि चामीकर चपला है कि रवि है कि चंद है॥
—कालिदास त्रिवेदी

चंद की कला सी चपला सी तिय 'सेनापति',
बालम के उर बीच आनँद की बेलि है।
जाके आगे कंचन में रंचक न पैए द्युति,
मानो मन मोती लाल माल आगे पेलि है॥
देखि प्रीति गाढ़ी चोढ़े तनद्युत साढ़ि ज्योति
जोबन की बाढ़ी छिन छिन चौर होति है।
झलकत गोरी देह बसन झीने मे मानो
फानुस के अंदर दिपति दीप-ज्योति है॥।
—सेनापति

कालिदास अपनी नायिका की देह-दीप्ति का कोई निश्चय नहीं कर पाते। उनकी आँखें उसे देखकर ऐसी चौंधिया गई हैं कि आप ही आप उनके मुख से निकल पड़ता है—

"लालन को जाल है कि ज्वालनि की माल है कि रवि है कि चंद है।" आश्चर्य के भाव को वे जहाँ तक उत्तेजन दे सकते थे, दिया है। किंतु उनकी नायिका शृंगार-भाव का उद्रेक करने में बहुत सफल नहीं है। सेनापति ने अपनी नायिका को फानूस में रखे हुए दीपक की ज्योति जैसी बतलाया है। देह-दीप्ति में वह कालिदास की नायिका के सम्मुख अवश्य ही दीन है, किंतु वह "बालम के उर बीच आनँद को चोति है।" दोनों ही काव्यों में प्रतत्प्रकर्ष अथवा अक्रम दोष है। कालिदास ने 'रवि है कि चंद है' कहकर तथा सेनापति ने "चंद की कला सी चपला सी तिय" को "दीप ज्योति है" कहकर नायिकाओं की अंग-प्रभा को तिमंजिले से नीचे पटक दिया है। पद्माकर के काव्य में ये सब दोष नहीं आने पाए हैं। उन्होंने अपनी नायिकाओं की अंग-प्रभा के संबंध में जो कुछ भी कहा है वह बहुत ही स्वाभाविक तथा मनोतृप्तिकर हुआ है। स्वाभाविक तथा सजीव चित्रण ही पद्माकर की काव्य-साधना की विशेषता है।

पद्माकर ने उक्त दोहे में शुक्लाभिसारिका का वर्णन किया है। अस्तु, दो अन्य कवियों की शुक्लाभिसारिकाओं से भी उसकी तुलना कर लेनी चाहिए।

> किंसुक के फूलन के फूलन बिभूषित कै
>
> बाँधि लीनी बलया बिगत कीन्हीं रजनी।
>
> तापर सँवारयो सेत अंबर को डंबर
>
> सिधारी स्याम सन्निधि निहारी काहू न जनी॥
>
> छीर के तरंग की प्रभा को गहि लीन्ही तिय
>
> कीन्ही छीरसिंधु छिति कातिक की रजनी।
>
> आनन-प्रभा ते तन-छाँह हूँ छिपाए जाति
>
> भौंरन की भीर संग लाए जाति सजनी॥ —दास।

अंगन में चंदन चढ़ाय घनसार सेत
सारी छीर फेन कैसी आभा उफनाति है।
राजत रुचिर रुचि मोतिन के आभरन
कुसुम कलित केस सोभा सरसाति है॥
कवि मतिराम प्रान-प्यारे को मिलन चली
करिकै मनोरथनि मृदु मुसकाति है।
होति न लखाई निसि चंद की उज्यारी मुख-
चंद की उज्यारी तन-छाहीं छिपि जाति है॥

—मतिराम।

दास, मतिराम तथा पद्माकर तीनों ने अभिसारिकाओं का वर्णन किया है। शुक्लाभिसारिकाओं की वेश-भूषा इस प्रकार की होती है कि वह ज्योत्स्ना में छिप जाय। इसके लिये नाना प्रकार के कृत्रिम उपादानों की सहायता ली जाती है। तद-नुकूल दास एवं मतिराम दोनों कवियों ने अपनी अपनी नायि-काओं को सज्जित करने की चेष्टा की है। दास के उपादान कुछ स्वभाव-विपरीत हो गए हैं। किंशुक वसंत में फूलता है; फिर कार्तिक मास की शरद् निशा में उसका उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है? यद्यपि पद्मिनी नायिका के पीछे भ्रमरों का उड़ना उपयुक्त है पर रात्रि में उनका उड़ना काल-विरुद्ध दूषण है। यद्यपि कुछ काव्यों में रात्रि के समय उनका वर्णन पाया जाता है, किंतु हमारे विचार से ऐसा उचित नहीं है। साथ ही नायिका के साथ भ्रमरों के उड़ने से उसका अभिसार भी दूषित हो जाता है—वह अपने को छिपाने में असमर्थ हो जाती है। ऐसी अवस्था में या तो भ्रमरों का उल्लेख ही न होना चाहिए अथवा ऐसे उपचारों का उपयोग होना चाहिए कि भ्रमर भी साथ में न रहें और पद्मिनी नायिका की अभिव्यक्ति भी स्पष्टतया हो जाय। मतिराम का

वर्णन साफ-सुथरा तथा स्वभाव-सम्मत हुआ है। उन्होंने जिस भाव को 'होति न लखाई निसि चंद की उज्यारी मुख-चंद की उज्यारी तन-छाहीं छिपि जाति है' के द्वारा व्यक्त किया है, उसी को पद्माकर ने—'तिय आगम पिय जानिगो, चटक चाँदनी पेखि' कहकर दिखाया है। कवित्त की अपेक्षा दोहा बहुत ही छोटा छंद है। थोड़े से सांकेतिक शब्दों में अधिक से अधिक भाव को प्रदर्शित करने में ही उसकी सफलता मानी जाती है। हमारे विचार से जिस भाव को मतिराम ने विस्तार के साथ प्रदर्शित किया है, पद्माकर के दोहे में उसका पूर्ण समावेश हो गया है वरन् कुछ और का भी। दोहे में शुक्लाभिसारिका का बहुत ही सफल निर्वाह हुआ है। काव्य की सफलता विस्तृत वर्णन में ही नहीं है वरन् पाठकों की कल्पना के लिये विस्तृत विहार-क्षेत्र के प्रस्तुत करने में भी है। इस दोहे के द्वारा पद्माकरजी वैसा करने में पूर्ण सफल हुए हैं। यह दोहा उनकी प्रतिभा का एक उत्कृष्ट नमूना है।

पद्माकर का एक अन्य छंद भी नायिका की सौंदर्य-प्रभा के वर्णन में है। वह यद्यपि उक्त दोहे के समान उत्कृष्ट नहीं हुआ है फिर भी अवलोकनीय अवश्य है—

जाही जुही मल्लिका चमेली मनमोदिनी की
कोमल कुमोदिनी की उपमा खराब की।
कहै 'पदमाकर' त्यों तारन बिचारन को
बिगर गुनाह अजगैबी गैर आब की॥
चूर करी चोखी चांदनी की छबि छलकत
पलक में कीन्हीं छीन आब महताब की।
पा परि कहत पीय कापर परैगी आज
गरद गुलाब की अबाई आफताब की॥

इस नायिका की शरीर-सुगंधि का अनुभव करते ही एडमंड स्पेंसर (Edmund Spencer) की सौंदर्य-वाटिका (The Garden of Beauty) वाली नायिका का स्मरण हो आता है। नायक जब नायिका के अधर-चुंबन के लिये निकट गया तब उसे जो अनुभव हुआ उसे अंकित करते हुए कहा है—

Coming to kiss her lips (such grace I found).
Me seem'd I smelt a garden of sweet flow'rs
That dainty odours from them throw around,
For damsels fit to deck their lovers bow'rs

नायिका के अधरों में मधुर पुष्पों की वाटिका की सुगधि का अनुभव कवि के कोमल मस्तिष्क के अनुकूल ही हुआ है। पर पद्माकर की नायिका के शरीर की सुगंधि ने मधुर पुष्पों की (अर्थात् जाही, जुही, मल्लिका, चमेली, मनमोदिनी की कोमल कुमोदिनी की) वाटिका की उपमा को खराब कर दिया है, उसकी सुगधि उस वाटिका से भी मधुरतर है।

पद्माकर की नायिका की सौंदर्य-प्रभा भी बहुत ही तेज-सपन्न है। तारों की तो बात ही क्या, न केवल ताराराज चद्र की चाँदनी ही वरन् स्वयं वे भी उसके सम्मुख निष्प्रभ हो जाते हैं। इसी से नायिका के प्रेमी ने उसे आफताब (सूर्य) बताया है। उसके सम्मुख शेक्सपियर की जूलियट का सौंदर्य—जिसके लिये कहा है कि— Oh she, doth teach the torches to burn bright मानों मद पड़ जाता है।

अतिशयोक्ति के लिये तो भारतीय कवि प्रसिद्ध ही हैं। सौंदर्य-प्रभा के सबंध में दो-तीन छंद बहुत प्रचलित हैं—

अवयवेषु परस्परबिम्बितेष्वतुलकान्तिषु राजति तत्तनोः ।
अयमयं प्रविभाग इति स्फुटं जगति निश्चिनुते चतुरोऽपि कः ॥

अर्थात् नायिका के अवयव, अपनी निर्मल कांति के कारण, परस्पर प्रतिबिंबित हो रहे हैं। इससे उनके विभाग का ज्ञान ही नहीं हो पाता। उनका वास्तविक ज्ञान संसार का कोई चतुर प्राणी ही प्राप्त कर सकता है।

सुन्दरी (कीदृशी) सा भजत्येव विवेकः केन जायते ।
प्रभामात्रं हि तरलं दृश्यते न तदाश्रयः ॥—दंडी ।

अर्थात् सुदरी की सौंदर्य-प्रभा इतनी अधिक है कि केवल प्रभा-मात्र दिखाई पड़ती है। उसमें छिपा हुआ उसका आश्रय अर्थात् शरीर नहीं दिखाई पड़ता।

दिला, क्योंकर मैं उस रुख़सारे-रोशन के मुक़ाबिल हूँ।
जिसे ख़ुरशीदे-महशर देखकर कहता है मैं तिल हूँ ॥—अकबर।

अर्थात्

वह मुख भरि दृग क्यों लखौं अतिशय ज्योतिष्मान।
प्रलय-भानु जेहि तकि कहै मैं मुख-मसा समान ॥

इस अतिशयोक्तिपूर्ण सौंदर्य-प्रभा के सम्मुख कविवर हनुमान की नायिका की सौंदर्य-प्रभा, जिसके लिये उन्होंने लिखा है—

"छबि दामिनी जात प्रभा निरखे कितनी छबि मंजु मसाल की है।"

या सेनापति की नायिका की सौंदर्य-प्रभा, जिसके लिये लिखा है कि—

"झलकत गोरी देह बसन झीने में मानो
फानुस के अंदर दिपति दीप-जोति है"

तो पानी ही भरेगो। हाँ, मिल्टन की ईव का वर्णन अवश्य ही श्रेष्ठ और स्वाभाविक है—

So lovely fair
That what seemed fair in all the world seemed now
Mean or in her summed up in her contained,
And look in her looks which from time infused
Sweetness into my heart unfelt before."

अर्थात् उसकी सुंदरता के सम्मुख संसार भर की सुंदरता तुच्छ या उसी में समन्वित प्रतीत होती है। उसकी दृष्टि ने मेरे हृदय में एक ऐसी मोहिनी डाल दी जिसका इसके पूर्व मुझे कोई ज्ञान न था।

दंडी की सौंदर्य-कल्पना में चमत्कार है, अकबर के सौंदर्य में अपार तेज है और मिल्टन की सौंदर्यानुभूति मधुर, स्निग्ध तथा शांत है। उसमें भौतिकता तथा ऐंद्रियता का उतना समावेश नहीं है जितना आध्यात्मिकता का। वह साधारण जन के लिये कल्पनातीत है। काव्य-प्रेमियों की कल्पना के लिये उसमें विस्तृत विहार-क्षेत्र है एवं उससे उनके मस्तिष्क को एक नैसर्गिक तृप्ति का अनुभव होगा। पद्माकर का सौंदर्य-वर्णन यद्यपि मिल्टन के सौंदर्य-वर्णन के समान श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता पर साधारण पाठकों को वह अपेक्षाकृत अधिक चमत्कृत करने में अवश्य समर्थ है।

अलस-सौंदर्य के अंकित करने में पद्माकर बहुत ही कुशल हैं। उन्होंने वैसे अनेकों चित्र खींचे हैं। उनमें से दो यहाँ पर दिए जाते हैं—

अधखुली कंचुकी उरोज अधआधे खुले,
अधखुले बेष नख-रेखन के झलकैं।
कहै 'पद्माकर' नवीन अध नीवो खुली,
अधखुले छहरि छरा के छोर छलकैं॥

भोर जगि प्यारी अध-ऊरध इतै की ओर
झापी झिपि झिरकि उँचारि अध पलकैं।
आँखैं अधखुली अधखुली खिरकी है खुली,
अधखुले आनन पै अधखुली अलकैं॥

आरस सों आरत सम्हारत न सीसपट,
गजब गुजारत गरीबन की धार पर।
कहै 'पद्माकर' सुगंध सरसावै सुचि,
बिथुरि बिराजै बार हीरन के हार पर॥
छाजत छबीली छिति छहरि छटा की छोर
भोर उठि आई केलि-मंदिर के द्वार पर।
एक पग भीतर सु एक देहली पै धरे,
एक कर कंज एक कर है किवार पर॥

प्रभातोत्थिता विपर्यस्तवसना वार-वधूटियों के अलस-सौंदर्य का उक्त दोनों छंदों में जो हृदयग्राही एवं मूर्त्तिमान् चित्रांकण हुआ है वह पद्माकर जैसे अनुभवी तथा रस-सिद्ध कवि के सर्वथा योग्य है। सुरुचि के वर पुत्र कुछ महानुभावों को उक्त वर्णनों में गलित श्रृंगार की गंध भले ही मिले, पर कवि ने जिस चित्र को अंकित करना चाहा है उसमें उसे पूर्ण सफलता मिली है। इन्हें पढ़कर पीयूषवर्षी कवि जयदेव की निम्नांकित पंक्तियाँ स्वतः याद आ जाती हैं—

व्यालोलः केशपाशस्तरलितमलकैः स्वेदलोलौ कपोलौ
दृष्टा बिम्बाधरश्री कुचकलशरुचा हारिता हारयष्टिः।
काञ्ची काचिद्गताशां स्तनजघनपदं पाणिनाच्छाद्य सद्यः
पश्यन्ती सत्रपं मान्तदपि विलुलितस्रग्धरेयन्धुनोति॥

शैली की लावण्यमयी सलज्जा नायिका भी दर्शनीय है—

Like a naked-bride

Glowing at once with love and loveliness

Blushes and trembles at its own excess.

शेली की नायिका लज्जाभार के कारण अपने को सँभालने में असमर्थ है और पद्माकर की नायिका आलस्य के कारण उसे सँभालने में असमर्थ हो रही है, क्योंकि वह वार-वधू है और उसके निकट लज्जा की कोई विशेष आवश्यकता नहीं।

प्रकृति-पुरुष के अनुराग-आकर्षण से ही इस सृष्टि का आविर्भाव माना गया है और उनके विच्छेद में ही उसका तिरोभाव। अस्तु, अनुराग या प्रेम ही इस सृष्टि का मूल है। मूल के बिना यह सृष्टि टिक नहीं सकती। प्रकृति-पुरुष के इसी महत् प्रेम की प्रतिच्छाया नर-नारी के प्रेम-योग में पाई जाती है। सांसारिक जीवन में इस प्रेम की महिमा भी अपार है—अनंत है। इसी से प्राय: सभी विश्वजनीन कवियों ने अलौकिक एवं लौकिक प्रेम के स्तवन द्वारा अपनी वाणी को पवित्र किया है। वाल्मीकि, व्यास, भवभूति, कालिदास, होमर, शेक्सपियर, गेटे, शिलर, दांते, वर्जिल, शेली, सूर, तुलसी आदि विश्व के प्राय: सभी कवियों ने प्रेम के गीत गाए हैं। राम और सीता, कृष्ण और राधा, फर्डिनंड और मीरांडा आदि सभी का इस संसार से प्रस्थान हो चुका है, किंतु उनकी प्रेम-गाथा अब तक जीवित है। इस मर्त्य-लोक में वह अब भी अमर प्रेम-सुधा की वर्षा करती है। पद्माकर ने भी अपने काव्य में उसी प्रेम का प्रदर्शन किया है। भारतीय प्रेम की प्रारंभिक अवस्था का चित्र उन्होंने अच्छा दिखाया है।

रूप दुहूँ को दुहून सुन्यो सु रहैं तब तें मनो संग सदाहीं।
ध्यान में दोऊ दुहून लखैं हरषैं अँग अँग अनंग उछाहीं॥

मोहि रहे कब के यों दुहूँ 'पदमाकर' और कछू सुधि नाहीं।
मोहन को मन मोहिनि में बस्यो मोहिनि को मन मोहन माहीं॥

ये इतै घूँघट घालि चलै उत बाजत बाँसुरी की धुनि लोलैं।
त्यों 'पदमाकर' ये इतै गोरस लै निकसै यों चुकावत मोलैं॥
प्रेम के पंथ सुप्रीति के पैठ में पैठत ही है दसा यह जो लै। -
राधामई भई स्याम की मूरति स्याममई भईं राधिका डोलै॥

विद्यापति ने भी अपनी राधा का कुछ ऐसा ही चित्र अंकित किया है—

पथ-गति नयन मिलल राधा कान।
दुहुँ मन मनसिज पुरल संधान॥
दुहुँ मुख हेरइत दुहुँ भेल भोर।
समय न बुझए अचतुर चोर॥
विदगधि संगिनि सब रस जान।
कुटिल नयन कएलन्हि समधान॥
चलल राजपथ दुहुँ उरझाई।
कह कवि सेखर दुहुँ चतुराई॥

विद्यापति तथा पद्माकर दोनों ने प्रायः एक ही अवस्था का चित्र अंकित किया है। किंतु विद्यापति की अपेक्षा पद्माकर के चित्र में कहीं अधिक तल्लीनता एवं विदग्धता पाई जाती है। मैथिल कवि-कोकिल का यह चित्र उनके चित्र के सम्मुख फीका पड़ गया है। इसकी अपेक्षा देवजी का चित्र कहीं अधिक उत्तम बन पड़ा है—

रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै,
साँसैं भरि आँसू भरि कहति दई दई।
चौंकि चौंकि चकि चकि उचकि उचकि देव,
जकि जकि बकि बकि परत बई बई॥
दुहुन को रूप गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात रीति नेह की नई नई।

मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधामय,
राधा मन मोहि मोहि मोहन मई मई॥

देवजी की राधा पद्माकर की राधा की अपेक्षा अत्यधिक अधीर हैं। उनकी अधीरता के कारण उनका प्रेम स्पष्ट हो गया है। वह प्रथमावस्था पार कर द्वितीय या तृतीय अवस्था में पहुँच गया है। इससे अब उनमें वह लज्जा का भाव भी नहीं रहा। एक परकीया नायिका में प्रेम का यह प्रकट स्वरूप कहाँ तक श्लाघ्य है, इस स्थल पर उसकी विवेचना अभीष्ट नहीं, पर पद्माकर की राधा के संबंध में इतना तो अवश्य कहा जायगा कि उनकी लज्जा भारतीय आदर्श के अनुरूप है, साथ ही देव की राधा की प्रेम-ज्वाला की अपेक्षा उनकी प्रेम-ज्वाला भी कम नहीं है। इसके अतिरिक्त पद्माकर के काव्य में उभय पक्ष के सम-प्रेम तथा सम-व्यवहार का चित्रण हुआ है जो सर्वथा स्वाभाविक है; किंतु देव के काव्य में राधा की व्याकुलता जिस मात्रा में प्रदर्शित की गई है, कृष्ण की वैसी नहीं, यद्यपि संसार में अधिकतर नारी-जाति की अपेक्षा पुरुष का ही प्रेम अधिक चंचल एवं स्पष्ट देखा जाता है। कपिल के अनुसार भी प्रकृति एवं पुरुष सम भाव से पारस्परिक सम्मिलन के लिये प्रस्तुत रहते हैं। प्रेम की अग्नि जब तक दोनों हृदयों में बराबर प्रदीप्त नहीं होती तब तक कोई आनंद ही नहीं, फिर यह 'मुमकिन नहीं कि दर्द इधर हो उधर न हो।' पद्माकर के इस काव्य-चित्र में आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक भावों का समान सम्मिश्रण है। दोनों सम भाव से सजीव एवं मूर्तिमान् हो उठे हैं। पद्माकर का यह काव्य-चित्र उनकी अंत.सौंदर्य-प्रदर्शनात्मक शक्ति का एक उत्तम उदाहरण है।

पद्माकर ने प्रेम-क्रीड़ा एवं उन्मत्त भावनाओं के भी अनेक चित्र अंकित किए हैं, जो एक से एक बढ़कर सुंदर हैं और ऐसे

हैं कि उनकी जोड़ के छंद हिंदी-साहित्य में कदाचित् ढूँढ़ने पर ही मिल सकें। फाग खेलने की उन्मत्तावस्था में कुछ व्रज-बालाओं मिलकर श्याम की जैसी दुर्दशा की है वह देखने ही योग्य है—

चंदकला चुनि चूनरि चारु दई पहिराय सुनाय सुहोरी।
बेंदी बिसाखा रची 'पदमाकर' अंजन आँजि समाजि कै रोरी॥
लागी जबै ललिता पहिरावन स्याम को कंचुकि केसर बोरी।
हेरि हरे मुसक्याय रही अँचरा मुख दै वृषभानु-किसोरी॥

नटखट श्याम अपनी उस अवस्था पर खीझे हों या रीझे; पर उनके साथी तो उनका वह वेश देखकर वृषभानु-किशोरी के समान मुसकाए ही नहीं, खूब ठठाकर हँसे भी होंगे और जो लोग पद्माकर के काव्य-चित्र की सहायता से अपने कल्पनाकाश में उनकी उस अवस्था का अनुभव करने की चेष्टा करेंगे वे अब भी अपने मन में एक प्रकार के पवित्र आनंद तथा मधुर गुदगुदी का सहज सुख अवश्य अनुभव करेंगे।

इस काव्य-चित्र में कवि ने नारियों की उन्मत्तावस्था का वर्णन किया है पर साथ ही वृषभानु-किशोरी की मुस्कराहट के समय मुख में आँचल देकर आर्य महिलाओं की लज्जा-मर्यादा की सहज ही रक्षा कर ली है। इतनी उन्मत्त भावनाओं का वर्णन करते हुए भी मर्यादा की इस प्रकार रक्षा करना साधारण कवि का काम नहीं है।

जीवन के सत्य के समान संयोग और वियोग दोनों इसी संसार की तारतम्यबोधक उपभोग-अवस्थाएँ हैं। भाव-अभाव, प्रकाश-अंधकार, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद के समान ही संयोग और वियोग का भी परस्पर अन्योन्य संबंध है। एक की स्थिति से दूसरे की स्थिति पुष्ट होती है। मानव-जीवन में संयोग और वियोग दोनों का ही अपना अपना विशेष स्थान और महत्त्व है। इसी से

आर्य-साहित्यकारों ने दोनों अवस्थाओं का समान वर्णन किया है।

वियोग का क्लेश कितना तीव्र होता है, इसका वास्तविक अनुभव तो भुक्तभोगी को ही हो सकता है; पर जो भुक्तभोगी नहीं हैं उनके निकट शब्दों द्वारा उसकी तीव्रता का अनुभव कराना बड़ा कठिन है। इसी से कवि प्रायः वियोग-वर्णन में अतिशयोक्ति से काम लेते हैं। पर कुछ कवियों का यह अतिशयोक्ति-प्रयोग इतना अतिरंजित हुआ है कि वह शृंगार अथवा करुण भाव का उद्रेक करने के स्थान पर आश्चर्य का ही उद्दीपक बन गया है। पद्माकर का विरह-वर्णन भी इस दोष से मुक्त नहीं है, किंतु वह अधिकतर स्वभाव-सम्मत है—

कोमल कंज मृनाल पर किए कलानिधि वास।
कबको ध्यान रही जु धरि, पिया-मिलन की आस॥

पति-प्रतीक्षा-रता चिंता-मग्ना रमणी का यह एक उत्कृष्ट चित्र है। शब्द-योजना एवं भाव सभी काव्यमय हैं। जिस नारी-मूर्ति के निर्माण में जगन्नियंता ने अपनी संपूर्ण निपुणता व्यय कर दी उसकी नियति की कुटिलता सर्वथा प्रतिकूल स्थिति की द्योतक है। इसी से कवि ने भी उसके चित्रांकण में प्रतिकूल तत्त्वों का ही अवलंबन किया है। पृथ्वी पर कंज के आधार से बाहु-मृणाल का स्थित होना और फिर उस पर सहज-विरोधी अंतरिक्षवासी कलानिधि-आनन का वास एकदम अनहोनी घटना है। किंतु नायिका के अदृष्ट के समान उसका होना सर्वथा संभव है। ऐसे उत्कृष्ट काव्य-चित्र साहित्य में बहुत कम देखे जाते हैं। इस दोहे के साथ जूलियट का निम्न चित्र भी मिलान करने योग्य है।

Romeo—

See ! how she leans her cheek upon her hand
O ! that I were a glove upon that hand
That I might touch that cheek.

Shakespeare

रोमियो कहता है—देखो, वह अपने करतल पर कपोलों को किस प्रकार रखे है। आह ! यदि मैं उस हाथ का 'ग्लव' ही होता तो कम से कम उसके गाल का सुख-स्पर्श तो पाता।

पद्माकर तथा शेक्सपियर दोनों ही ने अपनी अपनी नायिकाओं की एक ही स्थिति का वर्णन किया है। अंतर इतना ही है कि शेक्सपियर ने कविता में जुलियट के सौंदर्य को रोमियो की आंतरिक अभिलाषा को व्यक्त कराकर विकसित किया है और पद्माकर ने प्रकृति के विरोधी तत्त्वों का उल्लेख कर उसकी विपरीत स्थिति का परिचय दिया है। यदि शेक्सपियर की सफलता सरलता के साथ मानी जायगी तो पद्माकर की सफलता अलंकारिकता के साथ हुई है।

आई तजि हौं तो ताहि तरनितनूजा-तीर,
ताकि ताकि तारापति तरफति ताती सी।
कहै 'पद्माकर' घरीक ही में घनस्याम,
काम तो कतलबाज कुंजन ह्वै काती सी॥
याही छिन याही सो न मोहन मिलौगे जो पै,
लगन लगाइ एती अगिन अवाती सी।
रावरी दुहाई तौ बुझाई न बुझैगी फेरि,
नेह-भरी नागरी की देह दिया-बाती सी॥

पद्माकर का यह विरह-वर्णन काव्य-कला की दृष्टि से अच्छा हुआ है। नेह शब्द श्लिष्ट और चमत्कारपूर्ण है। श्लेष द्वारा

समर्थित 'दिया-बाती सी' नागरी की देह का अर्थ ग्रहण करने से काव्य-लिंग अलंकार होता है जिसके साहचर्य से विप्रलंभ शृंगार का जैसा सुंदर विकास हुआ है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। छेकानुप्रास का उल्लेख व्यर्थ होगा, क्योंकि वह पद्माकर के काव्य में सर्वत्र व्यापक है और वे उसके मास्टर हैं।

इस विरह-वर्णन में नागरी की उपमा दिया-बाती से बहुत ही उत्तम बन पड़ी है। दीये की बत्ती जिस प्रकार आप ही आप धीरे धीरे जलकर नष्ट हो जाती है, विरही प्राणी का शरीर भी उसी प्रकार विरह-वह्नि में दग्ध होकर नष्ट हो जाता है। आत्माहुति की प्रवृत्ति या Self-consuming zeal का होना ही सच्चे विरह का स्वरूप है। इसी से कोई प्रेमी प्रार्थना करता है कि इस प्रवृत्ति का जितना वेग उसमें है उसका कुछ अंश उसकी प्रेमिका में भी आ जाय।

Then haste, kind good head and inspire
A portion of your sacred fire
To make her feel.
That *self consuming zeal*
The cause of my decay
That was to my very heart away,

आर्य रमणियों का विरह-वेदना को मूक भाव से सहन करने का चित्र निम्न छंद में बहुत अच्छा अंकित किया गया है—

पूर अँसुवान को रह्यो जो पूरि आँखिन में,
चाहत बह्यो ,पर बढ़ि बाहिरै बहै नहीं।
कहै 'पद्माकर' सुदेसेहु समाढ तद,
चाहत गह्योई पै है गहय गहै नहीं॥

काँपि कदली लौं या आली कौ अवलंब कहू,
चाहत लह्यौ पै लोकलाजन लहै नहीं।
कंत न मिलै को दुख दारुन अनंत पाय,
चाहत कह्यौ पै कछु काहू सो कहै नहीं॥

एक ओर लोकलज्जा दूसरी ओर विरह-वेदना, दोनों के शासन में पड़कर अबला बाला का बुरा हाल है। हृदय रो रहा है पर उसे प्रकट करने में लज्जा बाधक है। संभवत: उसकी उस अंतर्व्यथा से सहानुभूति प्रकट करनेवाला भी कोई नहीं है। वह अपने आँसुओं का घूँट आप ही पीकर रह जाती है, कितनी दयनीय अवस्था है—

"इक मीन बिचारो बिध्यो बनसी पुनि जाल के जाय दुभाले परयो।
मन तो मनमोहन के सँग गो तन लाज मनोज के पाले परयो॥

ऐसे कुसमय में टेनिसन की मेरीना के समान उसका यह सोचना ही स्वाभाविक होगा—

..................My life is dreary
He cometh not...................
I am aweary aweary
I would that I were dead.

तोष तथा बिहारी ने भी अपने मुक्तकों में कुछ ऐसी ही अवस्था का वर्णन किया है।

प्रीतम को हित पौन गहि, लिए जाति तेहि संग।
गहि डोरी कुल-लाज की, भई चंग के रंग॥—तोपनिधि।
भई लगन कुल की सकुच बिकल भई अकुलाय।
दुहूँ ओर ऐंची फिरै फिरकी लौं दिन जाय॥—बिहारी।

तोष तथा विहारी दोनों की नायिकाओं की अंतर्व्यथा पद्माकर की नायिका की अपेक्षा अधिक खुल गई है। वे कुल-संकोच की अपेक्षा प्रियतम-प्रेम की ओर ही अधिक आकृष्ट प्रतीत होती हैं। तोष की नायिका की आत्मा कवि की अतिरिक्त कला में पड़कर इतनी निर्बल हो गई है कि वह अपनी दुरवस्था के प्रति हमारी सहानुभूति प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ है। विहारी की नायिका का अधैर्य, नई लगन के होते हुए भी, अनंत प्रेम का परिचायक है। तोष की अपेक्षा उनका वर्णन भी स्वाभाविक है। किंतु पद्माकर की अनुभूति भारतीय लोक-मर्य्यादा के अनुकूल बड़ी विदग्धता-पूर्ण हुई है। पद्माकर की ऐसी ही काव्य-सूक्तियों को देखकर कहना पड़ता है कि वे जीवन की प्राकृतिक व्याख्या (Naturalistic interpretation of life) में बहुत ही प्रवीण हैं—

> आनन के प्यारे तन-ताप के हरनहारे,
>
> नँद के दुलारे ब्रजवारे उमहत हैं।
>
> कहै 'पदमाकर' उरूझे उर अंतर यौं,
>
> अंतर चहेहूँ ते न अंतर चहत हैं॥
>
> नैनन बसे हैं अंग अंग हुलसे हैं,
>
> रोम रोमनि रसे हैं निकसे हैं को कहत हैं।
>
> ऊधो वे गोविंद-कोऊ और मथुरा में रहे,
>
> मेरे तो गोविंद मोहि मोहि में रहत हैं॥

प्रेम और विरह की वह अवस्था जिसमें प्राणी अपने और अपने प्रेमी के अंतर को भूल जाता है—वह न केवल अपने ही रोम रोम में वरन् सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में अपने ही प्रेम-पात्र की मनोहर मूर्ति का दर्शन करता है और उसी में तन्मय हो जाता है—बड़ी ही तृप्तिकर होती है। उस समय विरह अथवा प्रेम-तृष्णा की अनंत ज्वाला से शांति का एक ऐसा सुधा-स्रोत उत्पन्न होता है जिसमें

अवगाहन कर अंतर्देवता का प्राण शीतल और अनंत आनंद में निमग्न हो जाता है। यही समाधि है, यही ब्रह्मानंद है। उपर्युक्त छंद में पद्माकर ने राधा की इसी अवस्था का वर्णन किया है। वर्णन में जैसी उनकी तल्लीनता दिखाई गई है, परमात्मा करे वह प्रत्येक विरही प्राणी को प्राप्त हो।

पद्माकर के इस भाव-चित्र से अनेक कवियों की कल्पना का सादृश्य पाया जाता है—

जो न जी में प्रेम तब कीजै व्रत-नेम,
जब कंजमुख भूलै तब संजम विसेखिए।
आस नहीं पी की तब आसन ही बाँधियत,
सासन कै सासन को मूँद पति पेखिए॥
नख ते सिखा लौं जब प्रेममई बान भई,
बाहिर लौं भीतर न दूजो देव देखिए।
जोग करि मिलै जो वियोग होय बालम जू,
ह्याँ न हरि होयँ तब ध्यान धरि देखिए॥—देव।

निसि-दिन स्रोनन पियूप सो पियत रहै,
छाय रह्यो नाद बाँसुरी के सुर-ग्राम को।
तरनितनूजा तीर बन-कुंज बीथिन मैं,
जहाँ तहाँ देखियत रूप छबि-धाम को॥
कवि मतिराम होत ह्याँ तो ना हिये ते नेक,
सुख प्रेम गात को परस अभिराम को।
ऊधो तुम कहत वियोग तजि जोग करौ,
जोग जब करै जो वियोग होय स्याम को॥

—मतिराम।

My beloved is ever in my heart
That is why I see him every where,

He is in the pupils of my eyes,
That is why I see him everywhere
I went far away to hear his own words
But, ah it was in vain !
When I came back I heard them
In my own songs
Who are you to see him like a beggar from door to door ?
Come to my heart and see his face in the tears of my eyes !
—Rabindra Nath Tagore.

अर्थात्, मेरे प्रियतम सर्वदा मेरे हृदय में निवास करते हैं इसी से मैं उन्हें सर्वत्र देखता हूँ। वे मेरी आँखों की पुतलियों में रहते हैं, इसी से मैं उन्हें सर्वत्र देखता हूँ। मैं दूर देश में उनकी वाणी सुनने के लिये गया। परंतु आह ! सब व्यर्थ था। जब मैं लौटकर आया तो अपने ही संगीत में उसे सुना। तुम कौन हो जो उन्हें भिखारी की भाँति दर दर ढूँढ़ रहे हो। आओ, मेरे आँसुओं में उनकी मधुर मूर्ति का दर्शन करो।

A two-fold existence
I am where thou art ;
My heart in the distance
Beats close to thy heart
Look I am near thee !
I gaze on thy face ;
I see thee I hear thee
I feel thine embrace—Lord Lytton

अर्थात्, पृथक् रहते हुए भी मैं तुम्हारे दो साथ हूँ। दूर पर भी मेरा हृदय तुम्हारे ही हृदय के साथ है। देखो, मैं तुम्हारे निकट, तुम्हारे

मुख-मंडल को देखता हूँ, तुम्हें देखता हूँ, तुम्हें सुनता हूँ और तुम्हारे ही आलिंगन का अनुभव करता हूँ।

उक्त सभी काव्यों में प्रेमी और प्रेमिका के ऐक्य-संबंध को प्रदर्शित किया गया है। देव का काव्य संयत और तर्क-युक्त हुआ है; मतिराम के काव्य में तर्क की अपेक्षा प्रेम का आधिक्य है; रवींद्रनाथ की पंक्तियों में प्रेम की तल्लीनता और आध्यात्मिकता का आवेश है और लार्ड लिटन के छंदों में भावानुभूति की तीव्रता है। किंतु पद्माकर के काव्य में जो तीव्र संवेदना, तन्मयता या भावलीनता पाई जाती है, वह उक्त किसी काव्य में नहीं है।

शृंगार-काव्य की सफलता के पश्चात् पद्माकर का भक्ति-काव्य सार्थक हुआ है। यौवन के आवेश में तथा राजाओं को रिझाने के उद्देश्य से उन्होंने शृंगारात्मक काव्य की रचना की थी। किंतु अवस्था ढलने पर 'पेट की चपेट और लोभ की लपेट' में दर दर भटक चुकने पर रोग-ग्रस्त अवस्था में जब उन्हें कहीं विश्राम का धाम न मिला तो राम-नाम के रसायन द्वारा उन्होंने अपने तन-मन और वाणी को पवित्र किया। इस अवस्था की पद्माकर की रचनाएँ मार्जित और प्रौढ़-विचार-संपन्न हुई हैं। भक्ति-काव्य में अपने उपास्य के प्रति कवि का जैसा अटल विश्वास पाया जाता है वैसा कुछ चुने चुनाए भक्तों की वाणी में ही मिल सकता है। पद्माकर के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उन्होंने जिस प्रकार की भी कविता की है उसमें तल्लीन हो गए हैं। उनके जैसी तल्लीनता हिंदी के बहुत कम कवियों में पाई जाती है।

पद्माकरजी अपने पातकों को बहुत बड़ा समझते थे इसी से उन्होंने लिखा है—

He is in the pupils of my eyes,
That is why I see him everywhere
I went far away to hear his own words
But, ah it was in vain !
When I came back I heard them
In my own songs
Who are you to see him like a beggar from door to door ?
Come to my heart and see his face in the tears of my eyes !
—Rabindra Nath Tagore.

अर्थात्, मेरे प्रियतम सर्वदा मेरे हृदय में निवास करते हैं इसी से मैं उन्हें सर्वत्र देखता हूँ। वे मेरी आँखों की पुतलियों में रहते हैं, इसी से मैं उन्हें सर्वत्र देखता हूँ। मैं दूर देश मे उनकी वाणी सुनने के लिये गया। परंतु आह! सब व्यर्थ था। जब मैं लौटकर आया तो अपने ही संगीत में उसे सुना। तुम कौन हो जो उन्हें भिखारी की भाँति दर दर ढूँढ़ रहे हो। आओ, मेरे आँसुओं में उनकी मधुर मूर्ति का दर्शन करो।

A two-fold existence
I am where thou art;
My heart in the distance
Beats close to thy heart
Look I am near thee!
I gaze on thy face;
I see thee I hear thee
I feel thine embrace—Lord Lytton

अर्थात्, पृथक् रहते हुए भी मैं तुम्हारे ही साथ हूँ। दूर पर भी मेरा हृदय तुम्हारे ही हृदय के साथ है। देखो, मैं तुम्हारे निकट, तुम्हारे

मुख-मंडल को देखता हूँ, तुम्हें देखता हूँ, तुम्हे सुनता हूँ और तुम्हारे ही आलिंगन का अनुभव करता हूँ।

उक्त सभी काव्यों में प्रेमी और प्रेमिका के ऐक्य-संबंध को प्रदर्शित किया गया है। देव का काव्य संयत और तर्क-युक्त हुआ है; मतिराम के काव्य में तर्क की अपेक्षा प्रेम का आधिक्य है; रवींद्रनाथ की पंक्तियों में प्रेम की तल्लीनता और आध्यात्मिकता का आवेश है और लार्ड लिटन के छंदों में भावानुभूति की तीव्रता है। किंतु पद्माकर के काव्य में जो तीव्र संवेदना, तन्मयता या भावलीनता पाई जाती है, वह उक्त किसी काव्य में नहीं है।

शृंगार-काव्य की सफलता के पश्चात् पद्माकर का भक्ति-काव्य सार्थक हुआ है। यौवन के आवेश में तथा राजाओं को रिझाने के उद्देश्य से उन्होंने शृंगारात्मक काव्य की रचना की थी। किंतु अवस्था ढलने पर 'पेट की चपेट और लोभ की लपेट' में दर दर भटक चुकने पर रोग-ग्रस्त अवस्था में जब उन्हें कहीं विश्राम का धाम न मिला तो राम-नाम के रसायन द्वारा उन्होंने अपने तन-मन और वाणी को पवित्र किया। इस अवस्था की पद्माकर की रचनाएँ मार्जित और प्रौढ़-विचार-संपन्न हुई हैं। भक्ति-काव्य में अपने उपास्य के प्रति कवि का जैसा अटल विश्वास पाया जाता है वैसा कुछ चुने चुनाए भक्तों की वाणी में ही मिल सकता है। पद्माकर के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उन्होंने जिस प्रकार की भी कविता की है उसमें तल्लीन हो गए हैं। उनके जैसी तल्लीनता हिंदी के बहुत कम कवियों में पाई जाती है।

पद्माकरजी अपने पातकों को बहुत बड़ा समझते थे इसी से उन्होंने लिखा है—

ब्याधहू ते बिहद असाधु हौं अजामिल ते,
ग्राह ते गुनाही कहौ तिनमें गिनाश्रोगे।
स्यौरी हौं न सूद्र हौं न केवट कहूँ को त्यों न,
गौतमी तिया हौं जापै पग धरि आश्रोगे॥
राम सों कहत 'पद्माकर' पुकारि तुम,
मेरे महापापन को पारहू न पाश्रोगे।
सीता सी सती को तज्यो झूठोई कलंक सुनि,
साचो हूँ कलंकी ताहि कैसे अपनाश्रोगे?

अपने को पापी से भी पापी बताकर उद्धार की प्रार्थना प्रायः सभी भक्तों ने की है। परंतु अपने इष्टदेव राम के सीता-त्याग पर जैसी मीठी चुटकी पद्माकर ने ली है वैसी आज तक किसी के काव्य में देखने को न मिली। व्यंग चाहे जैसा भी उन्होंने क्यों न किया हो पर अपने इष्टदेव की उदारता में उन्हें पूर्ण विश्वास था।

ब्रह्म के पयोनिधि लौं लहरें उठन लागीं,
सहसा लग्यो त्यों होन पौन पुरवैया को।
नीर भरी झाँझरी बिलोकि मँझधार परी,
धीर न धरात 'पद्माकर' खेवैया को॥
कहा वार कहा पार जानी न जात कछू,
दूसरो दिखात न रखैया और भैया को।
बहन न दैहै घेरि घाटहि लगैहै ऐसो,
अमित भरोसो मोहि मेरे रघुरैया को॥

तूफान में पड़ी नाव के डूबने-उतराने के इस रूपक को अनेक भक्त कवियों ने अपने काव्य में चित्रित किया है जिनमें से चार यहाँ पर दिए जाते हैं।—

पार कैसे को जैहै री नदिया अगम अपार।
गहिरी नदिया नाव पुरानी खेवनहार गँवार॥

निशि अँधियारी सोई मतवारो जाके कर पतवार।
काम क्रोध मद मोह घेर यहु मच्छ मगर घरियार॥
सिंधु-सुता जग-मातु बिना अब कोउ न बचावनहार।

—काशीप्रसाद।

नैया मेरी तनक सी बोझी पाथर भार।
चहुँ दिसि अति भौंरैं उठत केवट है मतवार॥
केवट है मतवार नाव मझधारै आनी।
आँधी उठत उदंड ताहु पै बरसै पानी॥
कह गिरिधर कविराय नाथ हौ तुम्हीं खेवैया।
उठै दया को डाँड़ घाट पै आवै नैया॥

—गिरिधर।

अब शिव पार करो मेरी नैया।
औघट घाट महाजल बूड़त, बल्ली लगै न खिवैया।
वारि बरोबर वारि रह्यौ है तापर अति पुरवैया॥
थरथरात कंपत हिय मेरो शिव की देत दुहैया।
देवीसहाय प्रभात पुकारत शिव पितु गिरिजा मैया॥

—देवीसहाय।

डगमग डोलै दीनानाथ नैया भवसागर में मेरी।
मैंने भर भर जीवन भार, छोड़े तन बोहित बहु बार।
पहुँचा एक नहीं उस पार, यह भी कालचक्र ने घेरी॥
मुदगर मेरु दंड पतवार, कर पग पाते चले न धार।
सकुचा मन माझी हिय हार, पूरी दुर्गति रात अँधेरी॥
उँछले अघ झप नक्र भुजंग, झटके पटके ताप तरंग।
तरती कर्म पवन के संग, भँवर में भरती है चकफेरी॥
ठोकर मरणाचल की खाय, फटकर डूब जायगी हाय।

शंकर अब तो पार लगाय, तेरी मार सही बहुतेरी ॥

—शंकर।

काशीप्रसादजी की विपत्ति में उनकी सिंधु-सुता ही अंतिम आधार हैं, गिरिधर और देवीसहायजी के काव्य में अपने इष्टदेव के प्रति कातर प्रार्थना है। शंकरजी का काव्य सादगी से दूर है, उसमें आध्यात्मिक भावना के साथ पूर्ण रूपक अलंकार का निर्वाह किया गया है और पद्माकरजी के काव्य में उनके रघुरैया उनके अंतिम आधार हैं, उनके प्रति यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से नहीं किंतु परोक्ष रूप से कातर प्रार्थना भी है और सबसे बढ़कर है आध्यात्मिक भावावेश के साथ अपने इष्टदेव की शक्ति और उदारता में अटल विश्वास। ऐसा विश्वास ढूँढ़ने पर हो किसी भक्त की वाणी में मिल सकेगा। उनकी वर्णन शैली में प्रवाह और भावलीनता पिछले किसी भी छंद से कहीं अधिक है। शैली में प्रवाह और भावलीनता पद्माकर के काव्य का प्रधान गुण है। इस काव्य में तूफान के मूर्तिमान् चित्रण को देखकर जेम्स टामसन के Storm की कुछ पंक्तियाँ अपने पूर्ण वेग से सम्मुख आ जाती हैं।

Meantime the mountain-billows to the cloud
In dreadful tumult swell'd surge above surge
Burst into chaos with tremendous roar.
And anchor'd navies from their stations drive
Wild as the winds across the howling waste
Of mighty waters! now the inflated wave
Straining they scale, and now impetuous shoot
Into the secret chambers of the deep,
The wintery Baltic thundering o'er their head
Emerging thence again, before the breath

Of full exerted Heaven, they wing their course
And dart on distant coasts, if some sharp rock.
Or shoal fragments fling their floating round

टामसन के काव्य में प्रकृति के रौद्र रूप का दर्शन मिलता है। वह संहारकारिणी बनकर ही उपस्थित हुई है। नीचे पर्वताकार लहरों का हुंकार और आंदोलन, ऊपर विद्युत् का वज्र-निर्घोष—स्थानच्युत जल-पोत की शक्ति कितनी जो इस प्रलयकारी परिस्थिति का सामना कर सके। वह तो लहरों के वशीभूत होकर उन्हीं की कृपा पर टिका हुआ है—अभी अभी है, अभी नहीं। भविष्य अंधकारमय और निराशा-पूर्ण है। किंतु पद्माकर की भीर भरी झाँझरी यद्यपि प्रलय-पयोनिधि सदृश लहरों में ही पड़ी हुई है और खेवैया का धैर्य छूट गया है परंतु खुरैया की शक्ति पर पूर्ण विश्वास है, वह पार लगकर ही रहेगी। भयानक, स्थिति के Background और उज्ज्वल आशा के प्रकाश में भक्त-हृदय का विश्वास एकदम खिल गया है।

पद्माकर को सबसे कम सफलता मिली है वीर अथवा रौद्र भावापन्न काव्यों में। वीर-गाथा काल की शैली के अनुकरण में तो वे सर्वथा विफल हुए हैं। हाँ, भूषण की शैली के अनुगमन में उन्हें अपेक्षाकृत अवश्य अधिक सफलता मिली है। उनकी भूषण-शैली की तलवार-प्रशंसा यहाँ पर दी जाती है।

दाहन ते दूनी तेज तिगुनी त्रिसूल हू ते,
    चिल्लिन ते चौगुनी चलाक चक्रवाली ते।
कहै 'पदमाकर' महीप रघुनाथराव
    ऐसी समसेर सेर सत्रुन पै धाली तै॥
पाँचगुनी पव्य ते पचीस गुनी पावक ते
    प्रगट पचासगुनी प्रलय प्रनाली ते।

माठगुनी सेग तें सहसगुनी सापन तें,
लाखगुनी लूक तें करोरगुनी काली तें ॥

पद्माकरजी ने अनेक संस्कृत छंदों के अनुवाद भी किए हैं, किंतु उनमें भी उनकी प्रतिभा की छाप लगी हुई है। उनसे भी उनका यथेष्ट पांडित्य प्रकट होता है।

चोरसारमपहृत्य शंकया स्वीकृतं यदि पलायनं त्वया।
मानसे मम नितान्ततामसे नन्दनन्दन कथं न लीयसे ॥
ए ब्रजचंद गोविंद गोपाल सुनो किन केते कलाम किये मैं।
त्यों 'पद्माकर' आनँद के नद हौ नँदनंदन जान लिये मैं ॥
माखन चोरि के खोरिन ह्वै चले भाजि कछू भय मानि जिये मैं।
दूरिहु दौरि दुरयो जो चहो तो दुरौ किन मेरे अँधेरे हिये मैं ॥

हे कृष्ण! तुम मक्खन चुराकर भय के कारण गलियों में भाग रहे हो? अच्छा, यदि तुमको कहीं दूर जाकर छिपना ही है जहाँ से तुम्हें कोई ढूँढ़ न सके तो क्यों नहीं मेरे अंधकार-परिपूर्ण हृदय-गह्वर में आकर छिप रहते! यहाँ पर तुम्हें कोई पकड़ नहीं सकता। तुम ब्रजचंद हो, अत: मेरा हृदय प्रकाशमान हो जायगा। तुम गोविंद हो, अत: तुमसे मेरे हृदय की बात अज्ञात नहीं। वह कैसा है इसे तुम भली भाँति जानते हो। तुम गोपाल हो अत: मेरे हृदय का, जो एक गो (इंद्रिय) है, परिपालन करोगे! ब्रजचंद, गोविंद तथा गोपाल इन तीन संबोधनों द्वारा पद्माकर ने जिन सूक्ष्म तत्त्वों की ओर संकेत किया है, संस्कृत श्लोक में उनका कहीं पता भी नहीं है। इस दृष्टि से संस्कृत की अपेक्षा हिंदी का सवैया उत्कृष्ट हो गया है। इसी प्रकार उनके अधिकांश अन्य अनुवादों में उनकी विशेषता की छाप लगी हुई है।

इस प्रकार पद्माकर के भावों की परीक्षा करके देखा जाता है कि उनका भांडार यद्यपि छोटा है किंतु उसमें जो कुछ है उसका

एक भाग बहुत ही उज्ज्वल एवं उत्कृष्ट है। उनकी भाषा बहुरूपिणी है। भावानुरूप वह सरल, तरल तथा मुहावरेदार हुई है। उनके काव्यों में भाषा की जैसी अनेकरूपता देखी जाती है वैसी हिंदी के तुलसी, अँगरेजी के टेनिसन आदि कुछ अत्यंत उत्कृष्ट कवियों में ही पाई जा सकती है। उनके भावों में यद्यपि आजकल के विचारानुसार अधिक गंभीरता नहीं पाई जा सकती किंतु वह जैसी भी है, बहुत सुंदर रूप में विकसित हुई है। भारतीय साहित्य-शास्त्र के आदर्शानुसार यद्यपि पद्माकरजी को महाकवियों की श्रेणी में बैठाना भी कठिन होगा किंतु उनकी कुछ सूक्तियाँ इतनी श्रेष्ठ हुई हैं जो संसार के प्रतिष्ठित कवियों की अच्छी रचनाओं के समकक्ष निःसंकोच रखी जा सकती हैं। उनमें से कुछ तो इतनी उज्ज्वल हुई हैं जिनसे हिंदी-साहित्य का मस्तक ऊँचा हुआ है। पद्माकरजी अपनी परिपाटी के बहुत श्रेष्ठ कवि हो गए हैं और तदनुकूल संसार में उनकी प्रतिष्ठा भी यथेष्ट हुई है।

---

(८) हुमायूँ के विरुद्ध षड्यंत्र

[लेखक—श्री रामशंकर अवस्थी, बी० ए०, प्रयाग]

हुमायूँ के विरुद्ध षड्यंत्र था या नहीं, इस प्रश्न पर अर्वाचीन इतिहासज्ञों में मतभेद है। ऐसा होना स्वाभाविक ही है जब हुमायूँ के समकालीन तथा उसकी मृत्यु के चालीस वर्ष बाद के इतिहासकारों में ही तीन मत हैं—(१) सम्राट् ने हुमायूँ को इस कारण बुला भेजा कि यदि उसकी कहीं मृत्यु ही हो जाय तो कम से कम एक उत्तराधिकारी तो निकट होगा; (२) हुमायूँ ने (बदख्शाँ से) अपने पिता के दर्शन की उत्कट लालसा से प्रेरित हो प्रस्थान किया; (३) आगरा में हुमायूँ को सिंहासन-च्युत करने के लिये एक षड्यंत्र का निर्माण किया गया था तथा प्रधान षड्यंत्रकार मीर खलीफा ने अपने प्रयत्नों को असफल होते देखकर उल्टे हुमायूँ को ही बुला भेजा। अब हम इस विषय पर प्राप्य सामग्री का विश्लेषण कर इन तीनों मतों की वास्तविकता पर विचार करेंगे।

पहले मत का प्रतिपादक स्वयं हुमायूँ का चचेरा भाई मिरजा हैदर दोगलात है। उसका कथन है—"वर्ष ९३५ हि० में बाबर बादशाह ने हुमायूँ मिरजा को वापस बुला भेजा.........। उसने उसे बुला भेजा ताकि उसकी एकाएक मृत्यु के समय कोई उत्तराधिकारी तो निकट मिल जावे[१]।" परंतु इस मत की वास्तविकता का प्रश्न उठाने के पूर्व यह सूचित कर देना अत्यावश्यक है कि हुमायूँ के आगरा चले आने के बाद मिरजा हैदर ने बदख्शाँ आ घेरा था[२]।

---

(१) तारीखे-रशीदी—लेखक मिरजा हैदर दोगलात, अनुवादक ई रॉस, पृष्ठ ३८७।

(२) वही, पृष्ठ ३८८।

उस समय उसने जो कुछ बदख्शाँ-निवासियों से सुना उसी के आधार पर अपना मत प्रकट किया। हुमायूँ ने अपने जाने का वास्तविक रहस्य तो उनसे छिपा रखा था और अपने पिता के बुलाने का बहाना कर दिया था। अतः मिरज़ा हैदर की पुस्तक के उक्त अवतरण पर आगरा की कलुषित राजनीति की छाप न होना स्वाभाविक ही है[1]। प्रो० रश्ब्रुक विलियम्स ने अपनी असाधारण योग्यता से इस मत का खंडन करते हुए इसे बहाना बताया है। उन्होंने चार प्रमाण दिए हैं—हुमायूँ की उपस्थिति ने आगरा में सबको चकित कर दिया; बाबर हिंदाल को बुला चुका था और दोनों को एक साथ कभी न बुलाता; हुमायूँ के स्थान में कोई दूसरा नियुक्त नहीं किया गया था; बाबर ने हुमायूँ से अपने सूबे को लौट जाने को कहा[2]। बात भी ऐसी ही मालूम होती है। बाबर जैसे मातृ-भूमि-प्रेमी के लिये केवल पुत्र-प्रेम पर बदख्शाँ खो बैठना सर्वथा असंभव था।

अबुलफज़ल ने दूसरे मत का समर्थन करते हुए कहा है—"एकाएक हुमायूँ के हृदय में सम्राट् जन्नत-ए-आशियानी के दर्शन करने की उत्कट लालसा हुई तथा अपने को रोकने में असमर्थ

(१) तारीखे-रशीदी के अनुसार बाबर ने हुमायूँ को बुला भेजा ताकि उसकी एकाएक मृत्यु के समय कोई उत्तराधिकारी निकट ही मिल जाय। तबकाते-अकबरी के लेखक तथा कुछ अर्वाचीन इतिहास विशेषज्ञों की भी यही धारणा मालूम होती है। परंतु यह तो एक आश्चर्य तथा हँसी की बात है कि बाबर अपनी एकाएक मृत्यु के विषय में पहले से ही कैसे जान गया? "एकाएक मृत्यु" हो जाने के समय का ज्ञान हो जाना सृष्टिकर्ता के कार्य्य में हस्तक्षेप करना है। मिरज़ा हैदर का यह कथन अविश्वसनीय मालूम होता है।

(२) ऐन एंपायर बिल्डर आफ दी सिक्सटींथ सेंचुरी—लेखक एल० एफ० रश्ब्रुक विलियम्स, पृष्ठ १७२, टिप्पणी २।

पाकर......वह सौभाग्य के काबा तथा आशाओं के किब्ला की ओर चल पड़ा[1]।" यह मत भी हमें ठीक नहीं मालूम होता क्योंकि इस समय हुमायूँ बालक तो था नहीं जो बिना माता-पिता के कहीं रह न पाता। फिर गत फरवरी तक समस्त रनिवास काबुल में ही था तथा बाबर सदा उपदेशयुक्त पत्र उसे भेजता रहता था और हुमायूँ तो आलस्य में कभी कभी उसे उत्तर तक नहीं देता था[2] जिसके लिये उसे अपने पिता की झिड़की भी सहनी पड़ती थी।

दूसरे हुमायूँ की मानसिक प्रगति कुछ सूफी मत की ओर थी जिस कारण वह कुछ विरक्त तथा एकांत-वास-प्रेमी भी हो गया था। कभी कभी तो अमीरों को दिन भर उसके दर्शन दुर्लभ हो जाते थे[3]। यही नहीं, एक बार तो बाबर का राजदूत साल भर तक बदख्शाँ में पड़ा रहा[4]। एक ऐसी प्रकृति का पुरुष अपने पिता के प्रेम से पागल होकर कैसे भाग खड़ा हुआ, यह तो हमें अविश्वसनीय ही प्रतीत होता है। परंतु यदि थोड़ी देर के लिये ऐसा ही मान लिया जाय तो प्रश्न यह उठता है कि पिता के दर्शन करने के बाद उसने अपने उसी श्रेयस्कर पिता के बदख्शाँ लौट जाने के आदेश का उल्लंघन ही क्यों किया? अवश्य ही इसका कारण कोई दूसरा होगा।

---

(१) अकबर-नामा—ले० अबुलफजल, अनु० ए० एस० बिवरिज, जि० १, पृष्ठ २७१।

(२) तुजुके-बाबरी—ले० ज० मो० बाबर, अनु० मिसेज ए० एस० बिवरिज, जि० ३, पृष्ठ ६२७।

(३) वही, जि० ३, पृष्ठ ६२६।

(४) वही, जि० ३, पृष्ठ ६२६।

उसी पत्र में बाबर ने यह भी लिखा—"फिर एकांतवास के विषय में तुमने बहुत बार लिखा है—एकांतवास शासकों के लिये बड़ा दोष है। शासन के साथ एकांतवास शोभा नहीं देता"।

निज़ामुद्दीन अहमद बख्शी ने तीसरे मत का प्रतिपादन किया है। उसकी विचार-धारा के दो भाग हैं—प्रथम तो यह कि मीर ख़लीफ़ा को हुमायूँ की ओर से शंकाएँ थीं और वह उसके सिंहासनस्थ होने के पक्ष में न था। परंतु वह उसी से असंतुष्ट न था, वरन् हुमायूँ के छोटे भाइयों के भी उत्तराधिकारी होने के पक्ष में न था[1]। इससे स्पष्ट है कि यह हुमायूँ तथा मीर ख़लीफ़ा के व्यक्तिगत झगड़ों का ही हानिकारक परिणाम न था वरन् इसका कुछ राजनीति से भी संबंध था।

दूसरे यह कि मेरा पिता वहाँ खड़ा रहा। महँदी ख्वाजा ने, मेरे पिता को भी मीर ख़लीफ़ा के साथ लौट गया जान, दाढ़ी पर ताव देकर कहा—"ईश्वर ने चाहा तो तुझे (मीर ख़लीफ़ा को) भी भून डालूँगा।" मेरा पिता तुरंत मीर ख़लीफ़ा के पास आया और उसने सब बात कह सुनाई। उसने कहा कि हुमायूँ तथा उसके भाइयों के ऐसे राजकुमारों के होते हुए तुम्हें क्या हो गया है जो तुमने सिंहासन किसी दूसरे वंश के राजा को देने की ठान ली है। (इन बातों का समर्थन अबुलफ़ज़ल ने भी किया है)...मीर ख़लीफ़ा ने तुरंत हुमायूँ को बुला भेजा[2]।

इन अवतरणों के आधार पर यूरोपीय तथा भारतीय इतिहास-विशेषज्ञों ने एकमत से कहा है कि आगरा में प्रधान मंत्री के नेतृत्व में एक षड्यंत्र का निर्माण, हुमायूँ को सिंहासन-च्युत करने के अभिप्राय से, किया गया। कुछ विद्वानों का यह भी विचार है कि

---

(१) तबकाते-अकबरी, बिब्लियोथिका इंडिका, प्रकाशक एशियाटिक सोसाइटी, फ़ारसी मूल, पृष्ठ २८।

میرزا بسلطنت پسر بزرگ راضی نباشد نه پسر خورد

که راضی نه خواهد بود—

(२) वही, पृष्ठ २६।

इसमें बाबर का भी हाथ था और माहम (हुमायूँ की माता) ने इसी कारण आगरा की ओर पयान किया। हमें तो यह सब मत कपोल-कल्पित से प्रतीत होते हैं, न कोई षड्यंत्र था, न षड्यंत्रकारी। सच बात तो यह थी कि बाबर बहुत दिनों से उत्तर-पश्चिम प्रदेश को, शांति स्थापित करने के प्रयोजन से, जाना चाहता था जैसा प्रयाग विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग के एक मौलिक तथा ओजस्वी इतिहासवेत्ता का कथन है, बाबर की इस अनुपस्थिति में यह उचित था कि आगरा के प्रबंध का भार किसी निकटस्थ सूबेदार को दे दिया जाय। जौनपुर का अध्यक्ष[1] मोहम्मद जमाँ मिरजा यह भार लेने में सर्वथा असमर्थ था, क्योंकि बंगाल-प्रांतीय अफगान सदा ही विद्रोही रहते थे। उनकी ओर से मुगल साम्राज्य को बड़ा भय था और उनके विरुद्ध मोहम्मद जमाँ जैसे योग्य पुरुष की आवश्यकता थी। अतः बाबर ने मीर खलीफा की सम्मति से कुछ समय के लिये आगरा को महँदी ख्वाजा के सूबे में मिला देने का विचार किया। इस बात को ध्यान में रखते हुए यदि हम तबकाते-अकबरी का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी षड्यंत्र की रचना नहीं की गई थी। इसके प्रमाण निम्न-लिखित हैं—

(क) यदि पारस्परिक द्वेष के ही कारण हुमायूँ को सम्राट् होने से वंचित रखा जा रहा था तो बेचारे कामरान, अस्करी और हिंदाल ने क्या बिगाड़ा था? उनसे तो मीर खलीफा को कोई खटका न था, फिर उन पर यह वज्रपात कैसा कि मीर खलीफा उन्हें भी सिंहासन नहीं देना चाहता था! स्पष्ट बात तो यह मालूम होती है कि बाबर की अनुपस्थिति में थोड़े दिनों के लिये आगरा का प्रबंध करने के लिये बाबर और मीर खलीफा ने राजकुमारों को

(१) तुजुके-बाबरी, जि० २, पृष्ठ ६७६।

बुलाना अनावश्यक समझा; फिर बाबर का जाना भी अभी पूर्ण रूप से निश्चित न था।

(ख) हिंदुस्तान में हुमायूँ के आ जाने के बाद भी बाबर मीर खलीफा का पहले ही की तरह सम्मान[1] करता रहा। यह कहना तो न्याय-संगत न होगा कि इतना हो जाने पर भी उसको इस रहस्य का पता न चल पाया हो, जब कि तबकाते-अकबरी के अनुसार सर्व-साधारण तक को इसका पता लग गया था[2]। अपने पुत्र के विरुद्ध षड्यंत्र का पता पाकर प्रधान षड्यंत्रकारी मीर खलीफा तथा महँदी ख्वाजा को बाबर अवश्य दंड देता। परंतु दंड देने के स्थान में महँदी ख्वाजा के विद्रोही पुत्र को अभयदान मिला[3]। इससे यही स्पष्ट है कि कोई षड्यंत्र न था।

(ग) मीर खलीफा ने, महँदी ख्वाजा के कपट-भाव का पता पाकर, किसी दूसरे व्यक्ति को सिंहासनस्थ होने का सौभाग्य प्रदान क्यों नहीं किया? यदि योग्य व्यक्ति की आवश्यकता थी तो मोहम्मद जमाँ मिरजा[4] निकट ही था, और 'ऐरे गैरे पचकल्यानी' तो कहीं भी मिल सकते थे। परंतु इसके विपरीत उसने

---

(१) तुजुके बाबरी, जि० ३, पृष्ठ ६८६।

(२) तबकाते-अकबरी, पृष्ठ २८।

(३) तुजुके-बाबरी, जि० ३, पृष्ठ ६६०।

(४) मोहम्मद जमाँ मिरजा मध्य एशिया के बायकरा ऐसे प्रसिद्ध घराने का था। वीर तथा साहसी होने के अतिरिक्त वह सम्राट् बाबर का सगा दामाद था। अतः सम्राट् तथा राज-कर्मचारियों की दृष्टि में महँदी ख्वाजा से मोहम्मद जमाँ का कहीं ऊँचा स्थान होगा। इसके अतिरिक्त मोहम्मद जमाँ, हुमायूँ के उत्तराधिकारी होने पर, राज्य पाने के लिये विद्रोही भी हो गया था। यदि इस समय राजसिंहासन-संबंधी समस्या उठी होती तो प्रथम तो बाबर के पुत्रों के बाद उसके उत्तराधिकारी होने के प्रश्न पर अवश्य विचार किया गया होता और दूसरे कदाचित् मोहम्मद जमाँ मिरजा ऐसा अवसर पाकर न चूकता। परंतु कोई इतिहासकार इस काल्पनिक घटना के

हुमायूँ को ही बुला भेजा[1]। इसके दो कारण मालूम होते हैं—प्रथम तो यह कि महँदी ख्वाजा घमंडी व्यक्ति था। यह समझकर कि अब मैं आगरा प्रांत का भी अध्यक्ष हो जाऊँगा, उसके घमंड का और भी ठिकाना न रहा[2]। निस्संदेह ऐसा होने से राज-कर्मचारियों में तो वह थोड़े दिनों के लिये अवश्य सर्वोपरि हो जाता। कितने ही चापलूस उसके यहाँ हाजिरी देने लगे[3]। सच कहा है—"प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं"। भावी प्रभुत्व की आशा ने ही महँदी ख्वाजा के मिजाज सातवें आसमान पर चढ़ा दिए और वह अपने शुभाकांक्षी मीर खलीफा को ही, अपनी थोड़े दिनों की सूबेदारी में, समाप्त कर देने का विचार करने लगा[4]। दूसरे बाबर तथा मीर खलीफा ने अवश्य ही इस शासन-संबंधी भावी प्रबंध को गुप्त रखा होगा। महँदी ख्वाजा का आदर दरबार में अवश्य ही अधिक होने लगा[5]। मीर खलीफा और महँदी ख्वाजा की घनिष्ठ मित्रता भी थी। इन दोनों बातों का प्रभाव जनता तथा राज-कर्मचारियों पर पड़ना स्वाभाविक ही था। बीसवीं शताब्दी के पाठक इस बात को भली भाँति जानते होंगे कि शासन-संबंधी गुप्त समस्याओं की आलोचना जन-समुदाय में किस प्रकार होने लगती है। इसी प्रकार इस समस्या के भी जोड़ में तोड़ भिड़ाए जाने लगे, क्योंकि बाबर के बदख्शाँ जाने का विचार तो जनता को विदित था। अतः जनता के मस्तिष्क में एक

संबंध में उसका नाम तक नहीं लेता। यह तो ऐसी कोई समस्या के न उठने का ही द्योतक है।

(१) तबकाते-अकबरी, एलियट, जि० ५, पृष्ठ १८८।
(२) वही, " " ।
(३) वही, " " ।
(४) वही, " " ।
(५) वही, " " ।

षड्यंत्र की कल्पना होने लगी[1]। बेचारा मीर खलीफा दोषी ठहराया जाने लगा। इस कृष्णावर्तीय विडंबना को शांत करने के लिये उसने हुमायूँ को ही, कदाचित् बाबर को बतलाए बिना, बुला भेजा। बाबर अब उत्तर-पश्चिम की ओर जानेवाला था और हुमायूँ का शीघ्र राजधानी आ पहुँचना भी परमावश्यक था, अतः उसने कुछ दिनों के लिये बदख्शाँ को किसी के अधीनस्थ कर चले आने का संदेश भेजा होगा। अफगान-विद्रोह तथा बाबर की बीमारी[2] के कारण जाना स्थगित कर दिया गया। उधर हुमायूँ पहले से ही बेचैन था। पिता के आने के विचार की सूचना उसे मिल चुकी थी[3]। टीकाकारों के दृष्टि-कोण बहुधा भिन्न भिन्न होते हैं। सम्राट् के भावी आगमन की सूचना पाकर, उजबेगों के अत्याचार से मुक्त हो जाने की आशा से, बदख्शाँ-निवासी तो आनंद मनाने लगे[4]; परंतु हुमायूँ को तो इसमें हलाहल ही दिखाई पड़ता था। उसके तथा प्रधान मंत्री के बीच मन-मुटाव था। हिंदुस्तान में, उसके पिता की अनुपस्थिति में, न जाने मीर खलीफा क्या कर बैठे। वह इन्हीं भावनाओं से संभवतः व्यग्र हो रहा था कि उसे मीर खलीफा का ही निमंत्रण मिला। वह और भी अधिक बेचैन होकर आगरा की ओर चल पड़ा।

अब हम उक्त लेखकों के कुछ और मतों की व्याख्या करेंगे।

---

(१) यद्यपि तबकाते-अकबरी के लेखक का पिता ख्वाजा मुकीम हरवी मीर खलीफा का मित्र था परंतु यह मंत्रणा गुप्त होने के कारण कदाचित् यह भेद मीर खलीफा उसे नहीं बता सका। वास्तविक रहस्य से अनभिज्ञ, ख्वाजा मुकीम ने भी षड्यंत्र की कल्पना को ही ठीक समझा और मीर खलीफा को महँदी ख्वाजा का कपट-भाव बतलाते हुए उसे षड्यंत्र पर धिक्कारने लगा।

(२) तबकाते-अकबरी, इलियट, जि० ५, पृष्ठ १८७।

(३) तुजुके बाबरी, जि० ३, पृ० ६३२।

(४) तारीखे-रशीदी।

हुमायूँ एक दिन में काबुल आ पहुँचा[१] और वहाँ अकस्मात् ही उसकी और भाइयों से भेंट हो गई। इतिहास-विशेषज्ञ प्रो० रश्ब्रुक विलियम्स का कथन है—"तीनों भाइयों ने षड्यंत्र के प्रश्न पर परामर्श किया। उन्होंने देखा कि उनका कल्याण हुमायूँ तथा उसकी माता के इस षड्यंत्र को विध्वंस करने की योग्यता पर ही निर्भर है[२]।" मिस्टर अरस्किन का भी यही मत है। परंतु इसे मानने में दो कठिनाइयाँ हैं—एक तो यह कि कामराँ की राजा होने की प्रबल अभिलाषा थी। हुमायूँ से उसकी बड़ी ईर्ष्या थी। अपनी जागीर हुमायूँ से कम होने के कारण, बाबर के जीवन में ही उसने घोर असंतोष प्रकट किया था[३] और बाबर ने भी हुमायूँ को लिखा था—"मेरा नियम यही रहा है कि जब तुम्हें ६ भाग मिलें तो कामराँ को पाँच। इस नियम में परिवर्तन न होना चाहिए[४]।" भला कामराँ जैसा लोलुप, ईर्ष्यालु तथा हौसलामंद युवक ऐसा अवसर पाकर कब चूकनेवाला था। यदि हुमायूँ उसे अपने जाने का अभिप्राय बता देता तो कदाचित् कामराँ ही पहले आगरा में दिखाई देता। दूसरे यह कि हुमायूँ के भाइयों में वह सहानुभूति तथा सहयोग छू भी नहीं गया था जो उन्हें कल्याण-मार्ग की ओर ले जाता और हुमायूँ तथा उसकी माता को षड्यंत्र का विध्वंस करने देता।

इस प्रकार न कोई षड्यंत्र था, न हुमायूँ तथा उसके भाइयों में इसकी कोई बात ही हुई[५]। अब हम इतिहासज्ञों के इन दो

---

(१) मेम्वायर्स ऑफ बाबर, पृष्ठ ४२७; अकबरनामा, पृष्ठ २७१।

(२) ऐन एंपायर बिल्डर आफ दि सिक्सटींथ सेंचुरी—ले० एल० एफ० रश्ब्रुक विलियम्स, पृष्ठ १७३।

(३) तुजुके-बाबरी, जि० ३, पृष्ठ ६२६।

(४) वही, जि० ३, ६२५।

(५) कामराँ ने जाने का कारण पूछा तो हुमायूँ ने पिता के दर्शन करने का बहाना ही कर दिया।—अकबरनामा, जि० १, पृष्ठ २७२।

कथनों का थोड़ा और विश्लेषण करेंगे कि क्या हुमायूँ की माता माहम को इस षड्यंत्र का ज्ञान था तथा क्या बाबर भी अपने पुत्र के विरुद्ध षड्यंत्र में भाग लेने का दोषी था ?

माहम और षड्यंत्र

षड्यंत्र मत को माननेवाले कुछ यूरोपीय विद्वानों का यह कहना है कि षड्यंत्र की सूचना पाकर माहम ने आगरा को प्रस्थान किया और हिंदुस्तान आकर उसने हुमायूँ को भी चल पड़ने का आदेश भेजा। ओजस्वी इतिहास-वेत्ता प्रो० रश्ब्रुक विलियम्स ने कुछ "अच्छे कयासी प्रमाणों" के आधार पर दो बातें कही हैं— एक तो यह कि माहम ने ही हुमायूँ को आने का आदेश भेजा। दूसरे, संभवत: माहम को इस षड्यंत्र का ज्ञान इटावा होकर आगरा जाते समय हुआ[1]।" मिस्टर अरस्किन तथा मिसेज बिवरिज ने भी इस मत के प्रथम भाग का समर्थन किया है[2]। परंतु निम्न-लिखित प्रमाणों के आधार पर हमारी धारणा है कि माहम को इस काल्पनिक षड्यंत्र का बिलकुल ज्ञान न था।

(क) माहम, निश्चिंतता के साथ पाँच महीने चार दिन में आगरा पहुँची[3]। यदि उसे षड्यंत्र का खटका था तो उसका कर्त्तव्य था कि वह आगरा शीघ्र पहुँचकर स्वयं देखती कि क्या परिस्थिति है और क्या करना कल्याणकारी तथा हितकर होगा, न कि धीरे धीरे आनंद से प्रकृति-निरीक्षण करते हुए आना। इससे तो षड्यंत्र का ज्ञान न होना ही प्रतीत होता है।

---

(१) ऐन एंपायर बिल्डर आफ दि सिक्स्टींथ सेंचुरी, पृष्ठ १७२ और १७३ की टिप्पणी।

(२) बाबर और हुमायूँ—ले० अरस्किन, जि० २, पृष्ठ ५१२।

(३) माहम २१ जनवरी १५२९ ई० को काबुल से चली और २६ जून १५२९ को आगरा पहुँची।—तुज़ुके-बाबरी, जि० ३, पृष्ठ ६८०।

(ख) गुलबदन बेगम[1] ने अपनी पुस्तक में इस घटना का कुछ भी उल्लेख नहीं किया है। क्या षड्यंत्र के विषय में कुछ लिख देने से सम्राट् हुमायूँ की मानहानि हो जाती ? क्या उसे मीर खलीफा या महँदी ख्वाजा का डर था ? उसकी पुस्तक इस घटना के लगभग ६५ वर्ष बाद लिखी जाने के कारण न तो भय होने का प्रश्न उठता है और न मानहानि का ही। माहम गुलबदन को बहुत प्यार करती थी और उसे सब गुप्त बातें भी बता देती थी[2]। यह इस बात का ही द्योतक है कि न तो कोई ऐसी घटना हुई थी और न माहम को उसका कुछ ज्ञान ही था।

(ग) अब रहा यह अनुमान कि माहम को इसकी सूचना इटावे के पास मिली। यह विचार भी बिलकुल निर्मूल है। २२ जून १५२९ को बाबर इटावा में था जहाँ उसका कथन है कि महँदी ख्वाजा ने हम लोगों का स्वागत किया[3]। क्योंकि इस तारीख को बाबर ने माहम के विषय में इटावा में या और कहीं कुछ नहीं लिखा, इससे यह स्पष्ट है कि इस समय तक माहम (२२ जून १५२९ तक) इटावा नहीं पहुँच सकी। माहम का स्वागत आगरा में २६ जून १५२९ को बड़े समारोह के साथ किया गया[4]। ७ जुलाई १५२९ को हुमायूँ और माहम ने बाबर को भेंटें दीं[5]। इससे यह स्पष्ट है कि ७ जुलाई को हुमायूँ आगरा में था अर्थात् संभवतः इसके पूर्व ही आगरा आ पहुँचा था। यदि हम ये

---

(१) गुलबदन-बेगम—सम्राट् हुमायूँ की बहन—भी माहम के साथ ही काबुल से चल दी थी और मार्ग भर उसी के साथ रही।

(२) हुमायूँनामा—ले० गुलबदन बेगम, अनु० मिसेज ए० एस० बिवरिज, पृष्ठ ११६।

(३) तुज़ुके-बाबरी, जि० ३, पृष्ठ ६८६।

(४) वही, " " ।

(५) वही, " " ६८७।

दोनों बातें भी मान लें कि माहम बाबर के वहाँ से आगरा चले जाने के दूसरे ही दिन (अर्थात् २३ जून १५२९ ई० को) इटावा आ पहुँची और हुमायूँ भी माता के साथ भेंट देनेवाले दिन के एक दिन पूर्व ही आ पहुँचा था अर्थात् ६ जुलाई १५२९ को तो इन दो तारीखों के बीच केवल १३ दिनों का अंतर रहता है। रेनेल के अनुसार आगरा से काबुल ९७६ मील दूर है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि जून की गरमी थी, मार्ग में बहुत सी पहाड़ी नदियाँ थीं जिनमें पानी भी अधिक होगा और मार्ग न सुरक्षित ही था, न अच्छा ही। ऐसी परिस्थितियों में, केवल १३ दिन के अंदर, माहम का दूत काबुल से आगे बदख्शाँ (अर्थात् ९७६ मील से अधिक) गया और हुमायूँ एक दिन में काबुल आया[1] तथा वहाँ से आगरा (९७६ मील) आ पहुँचा। इस प्रकार केवल १३ दिन में १९०० मील से अधिक सफर किया गया जो इन असाधारण परिस्थितियों में कठिन ही नहीं वरन् असंभव मालूम होता है[2]।

---

(१) मेम्वायर्स ऑफ बाबर, पैवट डी कोर्टील्ले, पृष्ठ ४१७।

हुमायूँ बदख्शाँ से काबुल ९३६ हि० के बैराम के त्यौहार के दिन पहुँचा। (मेम्वायर्स ऑफ बाबर, अनु० पी० डी० कोर्टील्ले)। यह त्यौहार ९३६ हि० की दो तारीखों को पड़ता है, १ शव्वाल (८ जून १५२९ ई०) और १० जिल्हिज्जा (१६ अगस्त १५२९)। १० जिल्हिज्जा (१६ अगस्त) को हुमायूँ का काबुल जाना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हुमायूँ इसके पूर्व ही ७ जुलाई १५२९ ई० को आगरा में था। अतः १ शव्वाल अर्थात् ८ जून १५२९ ई० को हुमायूँ काबुल आया होगा।

(२) प्रो० रश्ब्रुक विलियम्स का ठीक मत है कि हुमायूँ ८ जून १५२९ ई० को काबुल पहुँचा था। परंतु इससे तो उलटा यही सिद्ध होता है कि माहम को इटावा में षड्यंत्र का ज्ञान नहीं हुआ था, कारण कि माहम इटावा २२ जून १५२९ को पहुँची अर्थात् हुमायूँ के काबुल पहुँचने के १४ दिन बाद और बदख्शाँ छोड़ने के १५ दिन बाद (क्योंकि हुमायूँ बदख्शाँ से

बाबर और षड्यंत्र

कुछ षड्यंत्र के कल्पनाकार इतिहासज्ञों का यह भी मत है कि बाबर ने भी इस षड्यंत्र में भाग लिया था। मिसेज बिवरिज का कथन है कि भिन्न अवतरणों को एक साथ पढ़ने से एक दूसरी ही धारणा होती है कि मीर खलीफा ही नहीं वरन् कुछ और अमीरों के साथ बाबर भी किसी दूसरे को हिंदुस्तान का सम्राट् बनाने की इच्छा करता था[1]। श्रीयुत कालिकारंजनजी कानूनगो का कथन इससे भी अधिक आश्चर्योत्पादक है। उनका अनुमान है कि "बाबर हुमायूँ को देहली के राजसिंहासन पर बैठाने की तैयारियों में इतना तन्मय था कि उसको विद्रोही अफगानों को दबाने का ध्यान ही न रहा[2]।" परंतु बाबर के समय समय के वक्तव्यों तथा उस समय की कुछ घटनाओं पर एक गवेषणात्मक दृष्टिपात करने से तो यह मत नितांत कपोल-कल्पित ही प्रतीत होता है; क्योंकि—

(क) ९ फरवरी १५२९ को बाबर ने ख्वाजा कलाँ को समस्त रनिवास काबुल से नीलब भेजने की आज्ञा दी थी[3]। माहम पहले ही चल चुकी थी। इस प्रकार २६ जून १५२९ तक समस्त राजवंश आगरा में आ पहुँचा था। यदि बाबर स्वयं काबुल जाना चाहता था और अपने पुत्र हुमायूँ को हिंदुस्तान का साम्राज्य भी नहीं देना चाहता था, तो प्रश्न यह उठता है कि फिर उसने अपना

काबुल एक ही दिन में आ गया। (तुजुके-बाबरी और अकबरनामा)। इस प्रकार जब माहम स्वयं हुमायूँ के चल चुकने के १६ दिन बाद इटावा पहुँची तब यह कैसे कहा जा सकता है कि उसने इटावा से काबुल संदेश भेजा था।

(१) तुजुके-बाबरी, अनु० मिसेज ए० एस० बिवरिज, जि० ३, पृष्ठ ७०२, टिप्पणी।

(२) शेरशाह—ले० कालिकारंजन कानूनगो, पृष्ठ ६७, टिप्पणी।

(३) तुजुके-बाबरी, जि० ३, पृष्ठ ६४७।

समस्त राजवंश आगरा क्यों बुला भेजा—उसका सर्वनाश कराने के लिये? नहीं। इसका अभिप्राय यही था कि अब हिंदुस्तान में शांति स्थापित हो चुकी थी और उसने यहीं शासन करने का निश्चय भी कर लिया था।

(ख) हुमायूँ के समकालीन इतिहासकारों ने बार बार यह बतलाया है कि बाबर हुमायूँ को उत्तराधिकारी बनाकर वैराग्य ले लेना चाहता था[1]। गुलबदन बेगम के अनुसार हुमायूँ की बीमारी के समय उसने व्यथित माहम से कहा था—"माहम, यद्यपि मेरे और भी पुत्र हैं परंतु मैं हुमायूँ के इतना किसी को प्यार नहीं करता। मेरी यही कामना है कि यह पुत्र चिरायु हो तथा इसी को सिंहासन मिले, औरों को नहीं[2]।" एक ऐसे भावुक व्यक्ति के लिये यह कहना कि वह दिल्ली कोष से रुपया निकाल लेने के कारण हुमायूँ से क्रुद्ध रहा था, कितना असंगत है यह पाठक स्वयं समझ सकते हैं। हुमायूँ ने अपनी योग्यता तथा वीरता का अभी तक सदा परिचय दिया था[3] और बाबर भी उसे एक कुशल शासक बनने का उपदेश देता रहता था। एक बार उसने लिखा था—"ईश्वर को धन्यवाद! अब प्राणों की बाजी लगाने और तलवार चलाने की तुम्हारी बारी है। आलस्यमय एकांतवास सम्राटों के लिये हितकर नहीं है[4]"।

(१) हुमायूँ नामा, अनु० मिसेज बिवरिज, पृष्ठ १०४-०५।

(२) वही, पृष्ठ १०३।

(३) "बाबर के पुत्रों में हुमायूँ सबसे योग्य, प्रतापी तथा प्रतिभाशाली था। ऐसी अच्छी प्रकृति के तथा सरस पुरुष मैंने बहुत कम देखे हैं।"
—तारीखे-रशीदी, पृष्ठ ४६६।

(४) "अपने भाइयों के साथ मेल से रहो। बड़ों को योग्य उठाना।"—तुजुके-बाबरी जि० २, पृष्ठ ६२६।

(ग) हिंदुस्तान में साम्राज्य स्थापित करने का विचार तो बाबर का आरंभ से ही था। फिर भी मिसेज बिवरिज का यही कथन है—"उसकी इच्छा काबुल को अपना केंद्र बनाने की थी दिल्ली को नहीं, जिससे यदि वह हिंदुस्तान खो भी बैठता तो सिंध नदी के पश्चिम का भाग और कंदहार तो उसके पास रहता[1]।" परंतु इस कथन में भी अधिक तथ्य नहीं जान पड़ता, क्योंकि प्रथम तो यह कि सिंध के पश्चिम का भाग बाबर के पास था ही क्या, और जो था भी वह इतना अस्थायी था कि न जाने कब हाथ से निकल जाय। उसका मध्य एशिया का जीवन ही इस बात का साक्षी है। दूसरे, जैसा लेनपूल महाशय ने कहा है, पाँच साल तक वह हिंदुस्तान में रहा और उसने उसे अपना बना लिया था। पाठकों को याद होगा कि बाबर ने कनवाहा के युद्ध-स्थल पर क्या कहा था—"ईश्वर की कृपा से हम शत्रुओं पर विजयी हुए जिससे हमें चाहिए कि उनके राज्य पर शासन करें। फिर अब क्या आफत आ पड़ी है, क्या जरूरत उठ खड़ी हुई है कि हम बिना कारण ही काबुल जाकर वहाँ की गरीबी का शिकार बनें[2]।" यही नहीं, काबुल के तरबूजों के लिये वह भले ही तरसता था[3] परंतु हिंदुस्तान का सिंहासन खोकर काबुल जाना उसके लिये असंभव था। उसने कहा था—"ज्योंही हिंदुस्तान में शांति स्थापित हो जायगी तथा शासन-प्रबंध ठीक चलने लगेगा त्योंही, ईश्वर ने चाहा तो, मेरा प्रस्थान भी हो जायगा[4]।" इन पाँच

"अपने भाइयों को और बेगमों को दिन में दो बार अपने सामने अवश्य उपस्थित होने की आज्ञा दो। थाना या न आना उन्हीं की इच्छा पर न छोड़ दो।"—तुजुके-बाबरी, पृष्ठ ६२७।

(१) तुजुके-बाबरी, जि० २, पृष्ठ ७०१।
(२) वही, जि० २, पृष्ठ ५२५।
(३) वही, पृष्ठ ५१६।
(४) वही, पृ० ५३२।

इस प्रकार भारत की शांति उसके लिये अधिक महत्त्वपूर्ण थी।

वर्षों में उसने आगरा में सुंदर सुंदर महल, बावलियाँ, चश्मे, फव्वारे, वाटिकाएँ बनवाकर उसे काबुल ही की तरह सजा दिया था और लोगों के ऐसा कहने पर उसे बड़ी प्रसन्नता होती थी[1]। प्रो० रश्ब्रुक विलियम्स ने बहुत ठीक लिखा है—

"It is also significant of Babar's grasp of vital issues that from henceforth the centre of gravity of his power is shifted from Kabul to Hindustan. He recognised clearly that the greater must rule the less and that from the little kingdom of his former days, he could never hope to control the destinies of the new empire.[2]

(घ) हुमायूँ के बदख्शाँ छोड़कर चले आने पर बाबर ने मीर खलीफा से बदख्शाँ जाने को कहा[3]। यदि बाबर भी मीर खलीफा के साथ षड्यंत्र में था तो उसको यह अवश्य मालूम रहा होगा कि बिना खलीफा के षड्यंत्र में सफलता न होगी और इस कारण वह उससे कभी बदख्शाँ चले जाने को न कहता। इससे बाबर का निर्दोष होना ही सिद्ध होता है।

इन कारणों से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि हुमायूँ के विरुद्ध कोई षड्यंत्र नहीं था और बाबर, माहम तथा खलीफा सभी निर्दोष थे।

---

(१) तुजुके-बाबरी, जि० २, पृष्ठ ५२२।

(२) ऐन एंपायर बिल्डर आफ दी सिक्सटींथ सेंचुरी, पृष्ठ १६०।

(३) अकबरनामा, जि० १, पृष्ठ २०३।

लेख-संबंधी आवश्यक तारीखें

१—रज्जब १२, ९३३ हि० = १४ अप्रैल १५२७, हुमायूँ का हिंदुस्तान से काबुल को प्रस्थान।

२—जमादुल् अव्वल १०, ९३५ = २१ जनवरी १५२९ ई०, माहम का काबुल से आगरा को प्रस्थान।

३—जमादुल् अव्वल ३०, ९३५ = ९ फरवरी १५२९ ई०, काबुल से बेगमों को भेज देने की माहम को आज्ञा।

४—७ जून १५२९, हुमायूँ का बदख्शाँ से प्रस्थान।

५—८ जून १५२९, हुमायूँ का काबुल पहुँचना।

६—२६ जून १५२९, माहम का आगरा पहुँचना।

७—जून १५२९ के अंतिम सप्ताह में, हुमायूँ का आगरा पहुँचना।

(६) जेतवन

[लेखक—श्री राहुल सांकृत्यायन, ग्यांत्सी]

जेतवन श्रावस्ती से दक्षिण तरफ था; चीनी भिक्षुओं के अनुसार यह प्रायः एक मील (५, ६, ७ ली) के फासले पर था। पुरातत्त्व-विषयक खोजों से निश्चित ही हो चुका है कि महेट से दक्षिण सहेट ही जेतवन है। चीनी यात्रियों के ग्रंथों में हम इसका दर्वाजा पूर्व मुँह देखते हैं। जेतवन की खुदाई में जो दो प्रधान इमारतें निकली हैं, जिन्हें गंधकुटी और कोसंबकुटी से मिलाया गया है, उनका भी द्वार पूर्व को ही है, जो इस बात की साक्षी हैं कि मुख्य द्वार पूर्व तरफ था। नगर से दक्षिण होने पर भी प्रधान दर्वाजा उत्तर मुँह न होकर पूर्व मुँह था, इसका कारण यही था कि श्रावस्ती का दक्षिण द्वार वहाँ से पूर्व तरफ पड़ता था। जेतवन बौद्धधर्म के अत्यंत पवित्र स्थानों में से है। यद्यपि त्रिपिटक के अत्यंत पुरातन भाग **दीघनिकाय** (महापरिनिब्बानसुत्त[1]) में जो चार अत्यंत पवित्र स्थान गिनाए गए हैं, उनमें इसका नाम नहीं है, तो भी दीघनिकाय की **अट्ठकथा**[2]

---

(१) चत्तारिमानि आनद ! सद्धस्सकुलपुत्तस्स दस्सनीयानि...ठानानि... इध तथागतो जातोति, ..इध तथागतो अनुत्तर सम्मासम्बोधिं अभिसम्बुद्धोति, ...इध तथागतेन अनुत्तरं धम्मचक्कं पवत्तितन्ति,...इध तथागतो अनुपादिसेसाय निब्बाणधातुया परिनिब्बुतोति... ।—महा० परि० सुत्त, १६।

(२) चत्तारि अविजहितट्ठानानि... बोधिपल्लङ्को...। धम्मचक्कप्पवत्तनट्ठानं इसिपतने मिगदाये...। देवोरोहणकाले संकस्सनगरद्वारे पठमपदगण्ठि...। जेतवने गंधकुटिया चत्तारि मञ्चपादट्ठानानि अविजहितानेव होन्ति।...विहारोपि न विजहति मेव ..। इदानि नगरं उत्तरतो विहारो दक्खिणतो...।

—दी० नि०, महापदानसुत्त, १४; अ० क० २८२।

में इसे चार 'अविजहित' स्थानों में रखा है। जो हो, बुद्ध के सबसे अधिक उपदेश जेतवन में हुए हैं। **मज्झिमनिकाय** के डेढ़ सौ सुत्तों में ६५ जेतवन ही में कहे गए; संयुत्त और अंगुत्तर निकाय में तो तीन चतुर्थांश से भी अधिक सुत्त जेतवन में ही कहे गए हैं। भिक्षुओं के शिक्षापदों में भी अधिकतर श्रावस्ती—जेतवन में ही दिए गए हैं। विनयपिटक के '**परिवार**' ने नगरों के हिसाब से उनकी सूची इस प्रकार दी है—

कतमेसु सत्तसु नगरेसु पञ्ञत्ता।

....

दस वेसालियं पञ्ञत्ता, एकवीस राजगहे कता।
छ-ऊन-तीनि सतानि, सब्बे सावत्थियं कता॥
छ आळवियं पञ्ञत्ता, अट्ठ कोसम्बियं कता।
अट्ठ सक्केसु वुच्चन्ति, तयो भग्गेसु पञ्ञत्ता॥

—परिवार, गाथासंगणिक।

अर्थात् साढ़े तीन सौ शिक्षापदों में २९४ श्रावस्ती में ही दिए गए। और परीक्षण करने पर इनमें से थोड़े से ही **पूर्वाराम** में और बाकी सभी जेतवन ही में दिए गए। इसलिये जेतवन[1] का खास स्थान होना ही चाहिए।

विनयपिटक के चुल्लवग्ग में जेतवन के बनाए जाने का इतिहास दिया गया है। विनयपिटक की पाँच पुस्तकें हैं—**पाराजिक, पाचित्ति, महावग्ग, चुल्लवग्ग** और **परिवार**। इनमें से **परिवार** तो पहले **चारों का सरल संग्रह है**। समय-समाप्ति ईसा के प्रथम या द्वितीय शताब्दी में हुई जान पड़ती है। किंतु बाकी चार उससे पुराने हैं। इनमें भी महावग्ग और चुल्लवग्ग, जिन्हें इकट्ठा 'खंधक' भी कहते

---

(१) इदंहि तं जेतवनं इसिसंघनिसेवितं।
आवुट्ठं धम्मराजेन पीतिसञ्जननं मम॥
—सं० नि०, १:२:८, २:२:१०।

हैं, पातिमोक्ख को छोड़ विनयपिटक के सबसे पुराने भाग हैं और इनका प्रायः सभी अंश अशोक (तृतीय-संगीति) के समय का मानना चाहिए। इस खंधक की प्राचीनता की एक बड़ी स्पष्ट बात यह है कि इसमें प्रायः सभी जगह शुद्धोदन को 'सुद्धोदन सक्क' कहा गया है। चुल्लवग्ग[1] की कथा यों है—

"अनाथपिंडिक गृहपति राजगृह के श्रेष्ठी का बहनोई था। एक बार अनाथपिंडिक राजगृह गया। उस समय राजगृह के श्रेष्ठी ने संघ सहित बुद्ध को निमंत्रित किया था। अनाथपिंडिक को बुद्ध के दर्शन की इच्छा हुई। वह अधिक रात रहते ही घर से निकल पड़ा और सीवद्वार से होकर सीतवन पहुँचा। उपासक बनने के बाद उसने सावत्थी में भिक्षु-संघ सहित बुद्ध को, वर्षा-वास करने के लिये, निमंत्रित किया। अनाथपिंडिक ने श्रावस्ती जाकर चारों ओर नजर दौड़ाई और विचार किया कि भगवान् उस स्थान में विहार करेंगे, जो ग्राम से न बहुत दूर और न बहुत समीप हो, आने जाने की आसानी हो, आदमियों के पहुँचने योग्य हो, दिन में बहुत जमघट न हो और रात में एकांत और ध्यान के अनुकूल हो। अनाथपिंडिक ने राजकुमार जेत के उद्यान को देखा जो इन लक्षणों से युक्त था। उसने राजकुमार जेत से कहा—आर्यपुत्र! मुझे अपना उद्यान आराम बनाने के लिये दो राजकुमार ने कहा कि वह (कहापणों को) कोटि (= कोर) लगाकर बिछाने से भी अदेय है। अनाथपिंडिक ने कहा—आर्यपुत्र! मैंने आराम ले लिया। बिका या नहीं बिका इसके लिये उन्होंने कानून के मन्त्रियों से पूछा। महामात्यों ने कहा—आर्यपुत्र! आराम बिक गया, क्योंकि तुमने मोल किया। फिर अनाथपिंडिक ने जेतवन में कोर से कोर मिलाकर मोहरें बिछा दीं। एक बार का लाया हुआ हिरण्य द्वार के कोठे के बराबर थोड़ी सी जगह

(१) सेनासनक्खन्धक, पृ० २२४।

के लिये काफी न हुआ। गृहपति ने और हिरण्य (= अशर्फी) लाने के लिये मनुष्यों को आज्ञा की। राजकुमार जेत ने कहा—बस गृहपति, इस जगह पर मत बिछाओ। यह जगह मुझे दो, यह मेरा दान होगा। गृहपति ने उस जगह को जेत कुमार को दे दिया। जेत कुमार ने वहाँ कोठा बनवाया। अनाथपिंडिक गृहपति ने जेतवन में विहार, परिवेण, कोठे, उपस्थानशाला, कप्पिय-कुटी, पाखाना, पेशाबखाना, चंक्रम, चंक्रमणशाला, उदपान, उदपानशाला, जंताघर, जंताघरशाला, पुष्करिणियाँ और मंडप बनवाए। भगवान् धीरे धीरे चारिका करते श्रावस्ती, जेतवन में पहुँचे। गृहपति ने उन्हें खाद्य भोज्य से अपने हाथों तर्पित कर, जेतवन को आगत अनागत चातुर्दिश संघ के लिये दान किया।

अट्ठकथाओं[1] में जेतवन का चेत्रफल आठ करीष लिखा है। अनाथपिंडक ने 'कोटिसंथारेन'(कार्षापणों की कोर से कोर मिलाकर) इसे खरीदा था। ई० पू० तृतीय शताब्दी के भरहुट स्तूप में भी 'कोटिसंठतेन केता' उत्कीर्ण है। अत यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि कार्षापण बिछाकर जेतवन खरीद करने की कथा ई० पू० तीसरी शताब्दी में खूब प्रसिद्ध था।

पाली ग्रंथों में जेतवन की भूमि आठ करीष लिखी है। 'करीस चतुरम्मण' पालिकोष अभिधम्मप्पदीपिका (१८७) में आता है। डाक्टर रीस डेविड्स ने 'अम्मण' (सिंहली अमुण, स० अर्मण) को प्रायः दो एकड़ के बराबर लिखा है। इस प्रकार सारा चेत्रफल १४ एकड़ होगा। पंडित दयाराम साहनी ने (१९०७-८ की Arch S I, p 117) लिखा है—

The more conspicuous part of the mound at the present is 1600 feet from the north-east corner to

(१) देखो उपयु'क्त चुल्लवग्ग की अट्ठकथा।

the south-west, and varies in width from 450′ to 700′, but it formerly extended for several hundred feet further in the eastern direction.

इस हिसाब से क्षेत्रफल प्राय: बाईस एकड़ होता है। यद्यपि अठारह करोड़ संख्या संदिग्ध है तो भी इसे कार्षापण मानकर (जिसका ही व्यवहार उस समय अधिक प्रचलित था) देखने से भी हमें इस क्षेत्रफल का कुछ अनुमान हो सकता है। पुराने 'पंच-मार्क' चौकोर कार्षापणों की लंबाई-चौड़ाई यद्यपि एक समान नहीं है, तो भी हम उसे सामान्यत: ·७ इंच ले सकते हैं, इस प्रकार एक कार्षापण से ·४९ या ½ वर्ग इंच भूमि ढक सकती है, अर्थात् १८ करोड़ कार्षापणों से ९ करोड़ वर्ग इंच, जो प्राय: १४·३५ एकड़ के होते हैं[1]। आगे चलकर, जैसा कि हम बतलाएँगे, विहार नं० १९ और उसके आस-पास की भूमि आदि जेतवन की नहीं है, इस प्रकार क्षेत्रफल १२००′ × ६००′ अर्थात् १४·७ एकड़ रह जाता है, जो १८ करोड़ के हिसाब के समीप है। गंधकुटी जेतवन के प्राय: बीचोबीच थी। खेत नं० ४८७ जेतवन की पुष्करिणी है, क्योंकि नक़शा नं० १ का D इसी का संकेत करता है। आगे हम बतलाएँगे कि पुष्करिणी जेतवन विहार के दर्वाजे के बाहर थी। पुष्करिणी के बाद पूर्व तरफ जेतवन की भूमि होने की आवश्यकता नहीं मालूम होती। इस प्रकार गंधकुटी के बीचोबीच से ४००′ पर, पुष्करिणी की पूर्वीय सीमा के कुछ आगे बढ़कर जेतवन की पूर्वीय सीमा थी। उतना ही पश्चिम तरफ मान लेने पर पूर्व-पश्चिम की चौड़ाई ८००′ होगी। लंबाई जानने के लिये जेतवन खास

(१) दीघनिकाय, महापदानसुत्त, अट्ठकथा, २८। (सिंहल-लिपि) अम्हाकं पन भगवतो पकतिमानेन सोळसकरीसे, राजमानेन अट्ठ करीसे पदेसे विहारो पतिट्ठितोति।

को Mo. No 5 (कारेरि गंधकुटी) को सीमा पर रखना चाहिए। गंधकुटी से दक्षिण ६८०′, उतना ही उत्तर ले लेने से लंबाई उत्तर-दक्षिण १३६०′ होगी; इस प्रकार सारा क्षेत्रफल प्रायः २५ एकड़ के होगा। इस परिणाम पर पहुँचने के लिये हमारे पास तीन कारण हैं—(क) गंधकुटी जेतवन के बीचोबीच थी, जेतवन वर्गाकार था, इसके लिये कोई प्रमाण न तो लेख में है और न भूमि पर ही। इसलिये जेतवन को एक आयत क्षेत्र मानकर हम उसके बीचोबीच गंधकुटी को मान सकते हैं। (ख) गंधकुटी के पूर्व तरफ का D. ही पुष्करिणी सा मालूम होता है, जिसकी पूर्वीय सीमा से जेतवन बहुत दूर नहीं जा सकता। (ग) Mo. No.19 को राजकाराम मान लेने पर जेतवन की सीमा Mo. No. 5 तक जा सकती है।

तत्र **वीसतिखारिकोति,** मागधकेन पत्थेन चत्तारो पत्था कोसलरट्ठके पत्थो होति. तेन पत्थेन चत्तारो पत्था आढ़कं, चत्तारि आढ़कानि दोणं, चतुदोणं मानिका, चतुमानिकं खारि, ताय खारिया वीसति खारिको तिलवाहोति; तिलसकटं।[1]

अस्तु, ऊपर के वर्णन से हम निम्न परिणाम पर पहुँचते हैं—

(१) १८ करोड़ कार्षापण बिछाने से १८·३४८ एकड़

(२) साहनी के अनुसार वर्तमान में २२·३ ,, (१६००′×६००′)

(३) उसमें से राजकाराम निकाल देने पर १४·७,, (१२००′×६००′)

(४) गंधकुटी, पुष्करिणी, कारेरी कुटी से २४·६ ,, (१३६०′×८००′)

(५) ८ करीस १,२ (अम्मण=२ एकड़) ६४ ,,

एक और तरह से भी इस क्षेत्रफल के बारे में विचार कर सकते हैं। करीस (संस्कृत खारीक) का परिमाण **अभिधानप्पदीपिका** और लीलावती में इस प्रकार दिया है—

---

(१) परम त्थजोतिका II, p. 476

४ कुडव या पसत (पसर)	= १ पत्थ	४ कुडव	= प्रस्थ
४ पत्थ	= १ आळूहक	४ प्रस्थ	= आढक
४ आळूहक	= १ दोण	४ आढक	= द्रोण
४ दोण	= १ माणी		
४ माणी	= १ खारी	१६ द्रोण	= खारी

विनय में ४ **कहापण** का एक कंस लिखा है। कंस को कर्ष मान लेने पर यह वजन और भी चौगुना हो जायगा, अर्थात् १६ मन से भी ऊपर। ऊपर के मान में २० खारी का एक तिलवाह, अर्थात् तिलों भरी गाड़ी माना है, जो इस हिसाब से अवश्य ही गाड़ी के लिये असंभव हो जायगा।

सुत्त० नि० अट्ठकथा में कोसलक परिमाण इस प्रकार है।

४ मागधक पत्थ	=	कोसलक पत्थ
४ को० पत्थ	=	को० आढ़क
४ को० आ०	=	को० दोण
४ को० दो०	=	को० मानिका
४ को० मा०	=	खारी।
२० खारी	=	१ तिलवाह (=तिलसकट अर्थात् तिल से लदी गाड़ी)

वाचस्पत्य के उद्धरण से यह भी मालूम होता है कि ४ पल एक कुडव के बराबर है। **लीलावती** ने पल का मान इस प्रकार दिया है—

५ गुंजा	=	माष
१६ माष	=	कर्ष
४ कर्ष	=	पल

*अभिधानप्पदीपिका से यहाँ भेद पड़ता है—

४ वीहि (व्रीहि) = गुंजा

२ गुंजा = मापक

मापक कर्ष (=कार्षापण) का सोलहवाँ भाग है। विनय[1] में २० मासे का कहापण (=कार्षापण) लिखा है। **समंतपासादिका** ने इस पर टीका करते हुए इससे कम वजनवाले रुद्रदामा आदि के कार्षापणों का निर्देश किया है तो भी हमें यहाँ उनसे प्रयोजन नहीं। हम इतना जानते हैं कि पुराने पंच मार्क के कार्षापण सिक्कों का वजन प्राय: १४६ ग्रेन के बराबर होता है। यही वजन उस समय के कर्ष का भी है। आजकल भारतीय सेर ८० तोले का है, और तोला १८० ग्रेन के बराबर होता है। इस प्रकार एक मागध खारी आजकल के ४१·८ सेर के बराबर, अर्थात् प्राय: १ मन होगी और कोसलक खारी ४ मन के करीब। करीष का संस्कृत पर्याय खारी न अर्थात् खारी भर बीज से बोया जानेवाला खेत (तस्य वापः, **पाणिनि** ५:१:४५) है। पटना में पक्के ८ मन तेरह सेर धान से आजकल कितना खेत बोया जा सकता है, इससे भी हमें, जेतवन की भूमि का परिमाण, एक प्रकार से, मिल सकता है।

राजकाराम (सललागार)—अब हमें जेतवन की सीमा के विषय में एक बार फिर कुछ बातों को साफ कर देना है। हमने पीछे कहा था कि Monastery No. 19 जेतवन खास के भीतर नहीं था। **संयुत्त-निकाय**[2] में आता है, एक बार भगवान् श्रावस्ती के राजकाराम में विहार करते थे। उस समय एक हजार भिक्षुणियों का संघ भगवान् के पास गया। इस पर **अट्ठकथा** ने लिखा है—राजा

---

(१) पाराजिका, २,।

(२) सोतापत्ति संयुत्त IV Chapter II सहस्सक or—राजकारामवग्गो V, 360.

प्रसेनजित् द्वारा बनवाए जाने के कारण इसका नाम राजकाराम पड़ा था। बोधि के पहले भाग (५२७-१३ ई० पू०) में भगवान् के महान् लाभ सत्कार को देखकर तैर्थिक लोगों ने सोचा, इतनी पूजा शील-समाधि के कारण नहीं है वरन् यह इसी भूमि का माहात्म्य है। यदि हम भी जेतवन के पास अपना आराम बना सकें तो हमें भी लाभ-सत्कार प्राप्त होगा। उन्होंने अपने सेवकों से कहकर एक लाख कार्षापण इकट्ठा किया। फिर राजा को घूस देकर जेतवन के पास तीर्थिकाराम बनवाने की आज्ञा ले ली। उन्होंने जाकर, खंभे खड़े करते हुए, हल्ला करना शुरू किया। शास्ता ने गन्धकुटी से निकलकर बाहर के चबूतरे पर खड़े हो आनंद से पूछा—ये कौन हैं आनंद! मानो केवट मछली मार रहे हों। आनंद ने कहा—तीर्थिक जेतवन के पास में तीर्थिकाराम बना रहे हैं। आनंद! ये शासन के विरोधी भिक्षु संघ के विहार में गड़बड़ डालेंगे। राजा से कहकर हटा दो। आनंद भिक्षु-संघ के साथ राजा के पास पहुँचे। घूस खाने के कारण राजा बाहर न निकला। फिर शास्ता ने सारिपुत्त मोग्गलान को भेजा। राजा उनके भी सामने न आया। दूसरे दिन बुद्ध स्वयं भिक्षु-संघ सहित पहुँचे। भोजन के बाद उपदेश दिया और अंत में कहा—महाराज! प्रव्रजितों को आपस में लड़ाना अच्छा नहीं है। राजा ने आदमियों को भेजकर वहाँ से तीर्थिकों को निकाल दिया और यह सोचा कि मेरा बनवाया कोई विहार नहीं है, इसलिये इसी स्थान पर विहार बनवाऊँ। इस प्रकार धन वापिस किए बिना ही वहाँ विहार बनवाया।

जातकट्ठकथा (निदान) में भी यह कथा आई है, जहाँ से हमें कुछ और बातें भी मालूम होती हैं।

तीर्थिकों ने जंबूद्वीप के सर्वोत्तम स्थान पर बसना ही श्रमण गोतम के लाभ-सत्कार का कारण समझा और जेतवन के पीछे की ओर तीर्थि-

काराम बनवाने का निश्चय किया। घूस देकर राजा को अपनी राय में करके, बढ़इयों को बुलाकर, उन्होंने आराम बनवाना आरंभ कर दिया।

इन उद्धरणों से हमें पता लगता है—(१) जेतवन के पीछे की ओर पास ही में, जहाँ से काम करनेवालों का शब्द गंधकुटी में बैठे बुद्ध को खूब सुनाई देता था, तीर्थिकों ने अपना आराम बनाना आरंभ किया था। (२) जिसे राजा ने पीछे बंद करा दिया। (३) राजा ने वहाँ आराम बनवाकर भिक्षु-संघ को अर्पण किया। (४) यह आराम प्रसेनजित् द्वारा बनवाया पहला आराम था। नकशे में देखने से हमें मालूम होता है कि विहार नं० १९ जेतवन के पीछे और गंधकुटी से दक्षिण-पश्चिम की ओर है। फासला गंधकुटी से प्राय: ९०० फीट, तथा जेतवन की दक्षिण-पूर्व सीमा से बिल्कुल लगा हुआ है। इस प्रकार का दूसरा कोई स्थान नहीं है, जिस पर उपर्युक्त बातें लागू हों। इस प्रकार Mo. No.19 ही राजकाराम है, जो मुख्य जेतवन से अलग था।

इस विहार का हम एक जगह और (**जातकट्ठकथा** में) उल्लेख पाते हैं। यहाँ उसे **जेतवन-पिट्ठि विहार** अर्थात् जेतवन के पीछे वाला विहार कहा है। मालूम होता है, जेतवन और इस 'पिट्ठि विहार' के बीच में होकर उस समय रास्ता जाता था। दोनों विहारों के बीच से एक मार्ग के जाने का पता हमें **धम्मपदट्ठकथा** से भी लगता है। राजकाराम जेतवन के समीप था। उसे प्रसेनजित् ने बनवाया था। एक बार उसमें भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका, चारों की परिषद् में बैठे हुए, बुद्ध धर्मोपदेश कर रहे थे। भिक्षुओं ने आवेश में आकर "जीवें भगवान् जीवें सुगत" इस तरह जोर से नारा लगाया। इस शब्द से कथा में बाधा पड़ी। यहाँ स्पष्ट मालूम होता है कि यह राजकाराम अच्छा लम्बा-चौड़ा था।

ई० पू० छठी शताब्दी की बनी इमारतों के ढाँचे में न जाने कितनी बार परिवर्तन हुआ होगा। तीर्थिकाराम बनाने के वर्णन में खंभे उठाने और बढ़ई से ही काम आरंभ करने से हम जानते हैं कि उस समय सभी मकान लकड़ी के ही अधिक बनते थे, जंगलों की अधिकता से इसमें आसानी भी थी। ऐसी हालत में लकड़ी के मकानों का कम टिकाऊ होना उनके चिह्न पाने के लिये और भी बाधक है। तथापि मौर्य-तल से नीचे खुदाई करने में हमें शायद ऐसे कुछ चिह्नों के पाने में सफलता हो। अस्तु, इतना हम जानते हैं कि जहाँ कहीं बुद्ध कुछ दिन के लिये निवास करते थे वहाँ उनकी गंधकुटी[1] अवश्य होती थी। यह गंधकुटी बहुत ही पवित्र समझी जाती थी, इसलिये सभी गंधकुटियों की स्मृति को बराबर कायम रखना स्वाभाविक है। जेतवन के नक़शे में हम Monasteries Nos. 1,2,3,5, और 19 ऐसे एक विशेष तरह के स्थान पाते हैं। Mo. Nos 19 के पश्चिमी भाग के बीच की परिक्रमावाली इमारत के स्थान पर ही राजकाराम में बुद्ध की गंधकुटी थी।

आगे हम जेतवन के भीतर की चार इमारतों में 'सललागार' को भी एक बतलाएँगे। **दीघनिकाय** में आता है—"एक बार भगवान् श्रावस्ती के सललागारक में विहार करते थे।" इस पर अट्ठकथा में लिखा है—"सलल (वृक्ष) की बनी गंधकुटी में।" **संयुत्तनिकाय** में भी—"एक समय आयुष्मान् अनुरुद्ध श्रावस्ती के सललागार में विहार करते थे।" इस पर **अट्ठकथा** में—"सलल-वृक्ष-मयी पर्णशाला, या सलल वृक्ष के

---

(१) बुद्ध के निवास की कोठरी को पहले विहार ही कहते थे। पीछे, मालूम होता है, उस पर फूल तथा दूसरी सुगंधित चीजें चढ़ाई जाने के कारण वह विहार 'गंधकुटी' कहा जाने लगा।

द्वार पर रहने से इस नाम का घर।" दीघनिकाय की अट्ठकथा के अनुसार "सलल घर राजा प्रसेनजित् का बनवाया हुआ था।"

(१) संयुत्त और दीघ दोनों निकायों ही में सललागार के साथ जेतवन का नाम न आकर, सिर्फ श्रावस्ती का नाम आना बतलाता है कि सललागार जेतवन से बाहर था। (२) सललागार का अट्ठकथा में सललघर हो जाना मामूली बात है। (३) (क) सलल घर राजा प्रसेनजित् का बनवाया था; (ख) जो यदि जेतवन में नहीं था तो कम से कम जेतवन के बहुत ही समीप था, जिससे अट्ठकथा की परंपरा के समय वह जेतवन के अंतर्गत समझा जाने लगा।

हम ऐसे स्थान राजकाराम को बतला चुके हैं, जो आज भी देखने में जेतवन से बाहर नहीं जान पड़ता। इस प्रकार सललागार राजकाराम (Mo. No. 19) का ही दूसरा नाम प्रतीत होता है। श्रावस्ती के भीतर भिक्षुणियों का आराम भी, राजा प्रसेनजित् का बनवाया होने के कारण, 'राजकाराम' कहा जाता था; इसी लिये यह सललागार या सललघर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

गंधकुटी—जेतवन के भीतर की अन्य इमारतों पर विचार करने से, जेतवन के पूर्व, गंधकुटी का जानना आवश्यक है; क्योंकि इसे जान लेने से और स्थानों के जानने में आसानी होगी। वैसे तो सारा जेतवन ही 'अविजहितट्ठान' माना गया है, किंतु जेतवन में गंधकुटी[१] की चारपाई के चारों पैरों के स्थान 'अविजहित' हैं, अर्थात् सभी अतीत और अनागत बुद्ध इसको नहीं छोड़ते। कुटी का द्वार किस दिशा को था, इसके लिये कोई प्रमाण हमें नहीं मिला। तो भी पूर्व दिशा की विशेषता को देखते हुए पूर्व मुँह होना ही अधिक संभव प्रतीत होता है। जहाँ इस विषय पर

(१) "जेतवने गंधकुटिया चत्तारि मंचपादट्ठानानि अविजहितानेव होन्ति।"—दी० नि०, महापदान सुत्त, १४, अ० क०।

पाली स्रोत से हम कुछ नहीं पाते, वहाँ यह बात संतोष की है कि सहेट के अंदर के Mos. Nos. 1, 2, 3, 5, 19 पाँचों ही विशेष मंदिरों का द्वार पूर्व मुख को है। इसी लिये मुख्य दर्वाजा भी पूर्व मुँह ही को रहा होगा। यहाँ एक छोटी सी घटना से, जिसको हम दे चुके हैं, मालूम होता है कि जब वे स्त्री-पुरुष पानी पीने के लिये जेतवन के भीतर घुसे, तब उन्होंने बुद्ध को गंधकुटी की छाया में बैठे देखा। Mo. No. 2 के दक्षिण-पूर्व का कुआँ यद्यपि **सर जान मार्शल**[1] के अनुसार कुषाण-काल का है, तो भी तथागत के परिभुक्त कुएँ की पवित्रता कोई ऐसी-वैसी नहीं, जिसे गिर जाने दिया गया हो। यदि इसकी ईंटें कुषाण-काल की हैं, तो उससे यही सिद्ध हो सकता है कि ईसा की आरंभिक शताब्दियों में इसकी अंतिम मरम्मत हुई थी। दोपहर के बाद गंधकुटी की छाया में बैठे हुए, बुद्ध के लिये दर्वाजे की तरफ से कुएँ पर पानी पीने के लिये जानेवाला पुरुष सामने पड़ेगा, यह स्पष्ट ही है।

गंधकुटी अपने समय की सुंदर इमारत होगी। **संयुत्त निकाय की अट्ठकथा**[2] में इसे देवविमान के समान लिखा है। भरहुत-स्तूप के जेतवन-चित्र से इसकी कुछ कल्पना हो सकती है। गंधकुटी के बाहर एक चबूतरा था, जिससे गंधकुटी का द्वार कुछ और ऊँचा था, जिस पर चढ़ने के लिये सीढ़ियाँ थीं। पमुख के नीचे खुला आँगन था। चबूतरे को 'गंधकुटि पमुख' कहा है। भोजनोपरांत यहाँ खड़े होकर तथागत भिक्षु-संघ को उपदेश देते हुए अनेक बार वर्णित किए गए हैं। मध्याह्नभोजनोपरांत भगवान् पमुख पर खड़े हो जाते थे, फिर सारे भिक्षु वंदना करते थे, इसके बाद उन्हें सुगतोपदेश देकर बुद्ध भी गंधकुटी में चले जाते थे।

---

(१) A.S.I. रिपोर्ट, 1910-11.
(२) देवसंयुत्त।

सोपानफलक—गंधकुटी में जाने से पहले, मणिसोपान फलक पर खड़े होकर, भिक्षु-संघ को उपदेश देने का भी वर्णन आता है। अकाल में वर्षा कराने के चमत्कार के समय के वर्णन में आता है कि बुद्ध ने वर्षा करा, "पुष्करिणी में नहाकर लाल दुपट्टा पहन कमरबंद बाँध, सुगतमहाचीवर को एक कंधा (खुला रख) पहन, भिक्षु-संघ से चारों तरफ घिरे हुए जाकर गंधकुटी के आँगन में रखे हुए श्रेष्ठ बुद्धासन पर बैठकर, भिक्षु-संघ के वंदना करने पर उठकर मणिसोपानफलक पर खड़े हो, भिक्षु संघ को उपदेश दे, उत्साहित कर सुरभि गंधकुटी में प्रवेश कर .. " यह सोपान संभवतः पमुख से गंधकुटी-द्वार पर चढ़ने के लिये था, क्योंकि अन्यत्र इस मणिसोपानफलक का गंधकुटी के द्वार पर देखते हैं—"एक दिन रात को गंधकुटी के द्वार पर मणिसोपानफलक पर खड़े हो भिक्षु संघ को सुगतोवाद दे गंधकुटी में प्रवेश करने पर, धम्मसेनापति (= सारिपुत्र) भी शास्ता को वंदना कर अपने परिवेण को चले गए। महामोग्गलान भी अपने परिवेण को . ।"

गंधकुटी परिवेण—मालूम होता है, पमुख थोड़ा ही चौड़ा था। इसके नीचे का सहन गंधकुटी परिवेण कहा जाता था। इस परिवेण में एक जगह बुद्धासन रखा रहता था, जहाँ पर बैठे बुद्ध की वंदना भिक्षु संघ करता था। इस परिवेण में बालू बिछाई हुई थी, क्योंकि **मज्झिमनिकाय**[1] अ० क० में अनाथपिंडिक के बारे में लिखा है कि वह खाली हाथ कभी बुद्ध के पास न जाता था, कुछ न होने पर बालू ही ले जाकर गंधकुटी के आँगन में बिखेरता था। **अंगुत्तरनिकायट्ठकथा** में, बुद्ध के भोजनोपरांत के काम का वर्णन करते हुए, लिखा है—"इस प्रकार भोजनोपरांतवाले कृत्य के समाप्त होने पर, यदि गात्र धोना (= नहाना)

(१) सुत्त १४३ की अट्ठकथा।

चाहते थे, तो बुद्धासन से उठकर स्नानकोष्ठक में जाकर, रखे जल से शरीर को ऋतु-ग्रहण कराते थे। उपट्ठाक भी बुद्धासन ले आकर गंधकुटी-परिवेण में रख देता था। भगवान् लाल दुपट्टा पहनकर काय-बंधन बाँधकर, उत्तरासंग एक कंधा (खुला रख) पहनकर वहाँ आकर बैठते थे; अकेले कुछ काल ध्यानावस्थित होते थे। तब भिक्षु जहाँ-तहाँ से भगवान् के उपस्थान के लिये आते थे। वहाँ कोई प्रश्न पूछते थे, कोई कर्म-स्थान; कोई धर्मोपदेश सुनना चाहते थे। भगवान्, उनके मनोरथ को पूरा करते हुए, पहले याम को समाप्त करते थे।"

बुद्धासन-स्तूप—गंधकुटी का परिवेण इस तरह एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान था। जेतवन में, गंधकुटी में, रहते हुए भगवान् यहीं आसीन हो प्रायः नित्य ही एक याम उपदेश देते थे, वंदना ग्रहण करते थे। इस तरह गंधकुटी-परिवेण की पवित्रता अधिक मानी जानी स्वाभाविक है। उसमें उस स्थान का माहात्म्य, जहाँ तथागत का आसन रखा जाता था, और भी महत्त्वपूर्ण है और ऐसे स्थान पर परवर्ती काल में कोई स्मृति-चिह्न अवश्य ही बना होगा। जेतवन की खुदाई में स्तूप No. H ऐसा ही एक स्थान मिला है। इसके बारे में सर जान मार्शल लिखते हैं[1]—

Of the stupas H, J and K, the first-mentioned seems to have been invested with particular sanctity; for not only was it rebuilt several times, but it is set immediately in front of temple No. 2, which there is good reason to identify with the famous Gandhakuti, and right in the midst of the main road which approaches this sanctuary from the east...this plinth is constructed of bricks of same size as those monasteries (of Kushan Period).

---

(1) Archæological Survey of India, 1910-11, p. 9.

जान पड़ता है, यह स्तूप H वह स्थान है जहाँ बैठकर तथागत उपदेश दिया करते थे और इसी लिये उसे बार बार मरम्मत करने का प्रयत्न किया गया है। गंधकुटी-परिवेण में, भिक्षुओं के ही लिये नहीं, प्रत्युत गृहस्थों के लिये भी उपदेश होता था —"विशाखा, उपदेश सुनने के लिये, जेतवन गई। उसने अपने बहुमूल्य आभूषण 'महा-लतापसाधन' को दासी के हाथ में इसलिये दे दिया था कि उपदेश सुनते समय ऐसे शरीर-शृंगार की आवश्यकता नहीं। दासी उसे चलते वक्त भूल गई। नगर को लौटते समय दासी आभूषण के लिये लौटी। विशाखा ने पूछा—तूने कहाँ रखा था? उसने कहा—गंधकुटी-परिवेण में। विशाखा ने कहा—गंधकुटी-परिवेण में रखने के समय से ही उसका लौटाना हमारे लिये अयुक्त है।"[1]

आभूषण के छूटने का यह वर्णन **विनय** में भी आया है। संभवतः बुद्धासन-स्तूप के पूर्व का स्तूप g इसी के स्मरण में है। **सर जान** कहते हैं[2] —

This stupa is coeval with the three buildings of Kushan Period, just described (ibid, p. 10)

यह गंधकुटी-परिवेण बहुत ही खुली जगह थी, जिसमें हजारों आदमी बैठ सकते थे। बुद्धासन-स्तूप (Stupa H) गंधकुटी से कुछ अधिक हटकर मालूम होता है। उसका कारण यह है कि उपदेश के समय तथागत पूर्वाभिमुख बैठते थे। उनके पीछे भिक्षु-संघ पूर्व मुँह करके बैठता था और आगे गृहस्थ लोग तथागत की ओर मुँह करके बैठते थे। गंधकुटी-पमुख से बुद्धासन तक की भूमि भिक्षुओं के लिये थी। इसका वर्णन हमें **उदान** में[3] मिलता है, जहाँ तथागत का पाटलिगाम के नए आवसथागार में बैठने का

(१) धम्मपदट्ठकथा, ४.४४, विसाखाय वत्थु।

(२) A. S. I. रिपोर्ट, १९१०–११ ई०

(३) उदान—पाटलिगामियवग्ग (८।६), पृ० ८६, P. T. S. ed.

सविस्तर वर्णन है। संभवतः यह परिवेण पहले और भी चौड़ा रहा होगा, और कम से कम बुद्धासन से उतना ही स्थान उत्तर और भी छूटा रहा होगा जितना कि No.K से बुद्धासन। इस प्रकार कुषाण-काल की इमारत के स्थान पर की पुरानी इमारत, यदि कोई रही हो तो, दक्षिण तरफ इतनी बढ़ी हुई न रही होगी, अथवा रही ही न होगी।

गंधकुटी कितनी लंबी-चौड़ी थी, यद्यपि इसके जानने के लिये कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, तथापि एक आदमी के लिये थी, इसलिये बहुत बड़ी नहीं हो सकती। संभवतः Mo. No. 2 के बीच का गर्भ बहुत कुछ पुरातन गंधकुटी के आकार को बतलाता है। गंधकुटी के दर्वाजे में **किवाड़**[1] लगा था, जिसमें भीतर से किल्ली (सूचीघटिक) लगाने का भी प्रबंध था। इसमें तथागत के **सोने का मंच** था। इस मंच के चारों पैरों के स्थान को अट्ठकथा-वालों ने 'अविजहित' कहा है। गंधकुटी के दर्वाजे द्वारा कई बातों का संकेत भी होता था। **म० नि० अट्ठकथा**[2] में बुद्धघोष ने लिखा है—'**जिस दिन भगवान्** जेतवन में रहकर पूर्वाराम में दिन को विहार करना चाहते थे, उस दिन बिस्तरा, परिष्कार भांडों को ठीक ठीक करने का संकेत करते थे। स्थविर (आनंद) झाड़ू देते, तथा कचड़े में फेंकने की चीजों को समेट लेते थे। जब अकेले पिंडचार को जाना चाहते थे, तब सवेरे ही नहाकर गंधकुटी मे प्रवेश कर दर्वाजा बंदकर समाधिस्थ हो बैठते थे। जब भिक्षु-संघ के साथ पिंडचार को जाना चाहते थे, तब गंधकुटी को आधी खुली रखकर...। जब जनपद में विचरने के लिये निकलना चाहते थे, तो एक-दो ग्रास अधिक खाते थे और सब काल चंक्रमण पर आरूढ़ हो पूर्व-पश्चिम घूमते थे।" भरहुट के जेतवन-पट्टिका

(१) धम्मपद-अट्ठकथा ४:४४ भी।

(२) सुत्त २६।

में गंधकुटी के द्वार का ऊपरी आधा भाग खुला है, जिससे यह भी पता लगता है कि किवाड़ ऊपर नीचे दो भागों में विभक्त होता था। गंधकुटी का नाम यद्यपि सैकड़ों बार आता है, किंतु उसका इससे अधिक विवरण देखने में नहीं मिलता।

द्वारकोट्ठक—हम पीछे (पृष्ठ २६०) कह चुके हैं कि अनाथपिंडिक के पहले बार लाए हुए कार्षापणों से जेतवन का एक थोड़ा सा हिस्सा विना ढँका ही रह गया था, जिसे कुमार जेत ने अपने लिये माँग लिया और वहाँ पर उसने अपने दाम से कोठा बनवाया जिसका नाम जेतवनबहिर्द्वारकोष्ठक या केवल *द्वारकोट्ठक* कहा गया है। यह गंधकुटी के सामने ही था, क्योंकि **धम्मपद-अट्ठकथा** में आता है—

एक समय अन्य तीर्थिक उपासकों ने... अपने लड़कों को कसम दिलाई कि घर आने पर तुम शाक्यपुत्रीय श्रमणों को न तो वंदना करना और न उनके विहार में जाना। एक दिन जेतवन विहार के बहिर्द्वारकोष्ठक के पास खेलते हुए उन्हें प्यास लगी। तब एक उपासक के लड़के को कहकर भेजा कि तुम जाकर पानी पिओ और हमारे लिये भी लाओ। उसने विहार में प्रवेश कर शास्ता को वंदना कर पानी पी इस बात को कहा। शास्ता ने कहा कि तुम पानी पीकर...जाकर औरों को भी, पानी पीने के लिये यहाँ भेजो। उन्होंने आकर पानी पिया। गंधकुटी के पास का कुआँ हमें मालूम है। द्वारकोष्ठक से कूएँ पर आते हुए लड़कों को गंधकुटी के द्वार पर से देखना स्वाभाविक है, यदि दर्वाजा गंधकुटी के सामने हो।

जेतवन-पोक्खरणी—यह द्वारकोट्ठक के पास ही थी। **जातकट्ठकथा** (निदान) में एक जगह इसका इस प्रकार वर्णन आता है—

एक समय कोसल राष्ट्र में वर्षा न हुई। सस्य सूख रहे थे। जहाँ-तहाँ तालाब, पोखरी और सरोवर सूख गए। **जेतवन-द्वारकोष्ठक** के समीप की जेतवन-पुष्करिणी का जल भी सूख गया।

घने कीचड़ में घुसकर लेटे हुए मच्छ-कच्छपों को कौए चील आदि अपनी चोंचों से मार मार, ले जाकर, फड़फड़ाते हुओं को खाते थे। शास्ता ने मत्स्य-कच्छपों के उस दुःख को देखकर, महती करुणा से प्रेरित हो, निश्चय किया—आज मुझे पानी बरसाना है।...भोजन के बाद सावत्थी से विहार को जाते हुए जेतवन-पुष्करिणी के **सोपान** पर खड़े हो आनंद स्थविर से कहा—आनंद, नहाने की धोती ला; जेतवन-पुष्करिणी में स्नान करेंगे।...शास्ता एक छोर से नहाने की धोती को पहनकर और दूसरे छोर से सिर को ढाँककर सोपान पर खड़े हुए।...पूर्वदिशा-भाग में एक छोटी सी घटा ने उठकर...बरसते हुए सारे कोसल राष्ट्र को बाढ़ जैसा बना दिया। शास्ता ने पुष्करिणी में स्नान कर, लाल दुपट्टा पहिन......... ।

यहाँ हमें मालूम होता है कि (१) पुष्करिणी जेतवन-द्वार के पास ही थी, (२) उसमें घाट बँधा हुआ था।

इस पुष्करिणी के पास वह स्थान था, जहाँ पर देवदत्त का जीते जी पृथिवी में समाना कहा गया है। फाहियान और ह्वेन्-चाङ् दोनों ही देवदत्त को जेतवन में तथागत पर विष-प्रयोग करने के लिये आया हुआ कहते हैं, किंतु **धम्मपद अट्ठकथा** का वर्णन दूसरा ही है—

देवदत्त[1] ने, नौ मास बीमार रहकर अंतिम समय शास्ता के दर्शन के लिये उत्सुक हो, अपने श्रावकों से कहा—मैं शास्ता का दर्शन करना चाहता हूँ; मुझे दर्शन करवाओ। ऐसा कहने पर—समर्थ होने पर तुमने शास्ता के साथ वैरी का आचरण किया, हम तुम्हें वहाँ न ले जायँगे। तब देवदत्त ने कहा—मेरा नाश मत करो। मैंने शास्ता के साथ आघात किया, किंतु मेरे ऊपर शास्ता का केशाग्रमात्र

(१) ध० प० ११ १२। अ० क० ७४, ७५ (Commentary Vol. I, p. 147.) देवदत्तवत्थु। देखो दी० नि० सुत्त २ की अट्ठकथा भी।

भी क्रोध नहीं है। वे शास्ता वधिक देवदत्त पर, डाकू अंगुलिमाल पर, धनपाल और राहुल पर—सब पर—समान भावनावाले हैं। तब वह चारपाई पर लेकर निकले। उसका आगमन सुनकर भिक्षुओं ने शास्ता को कहा'''। शास्ता ने कहा—भिक्षुओ! इस शरीर से वह मुझे न देख सकेगा ...। अब एक योजन पर आ गया है, आधे योजन पर, गावुत (= गव्यूति)भर पर, जेतवन-पुष्करिणी के समीप... । यदि वह जेतवन के भीतर भी आ जाय, तो भी मुझे न देख सकेगा। देवदत्त को ले आनेवाले जेतवन-पुष्करिणी के तीर पर चारपाई को उतार पुष्करिणी में नहाने को गए। देवदत्त भी चारपाई से उठ, दोनों पैरों को भूमि पर रखकर, बैठा। (और) *वह वहीं पृथिवी में चला गया। वह क्रमशः घुट्टी तक, फिर ठेहुने तक*, फिर कमर तक, छाती तक, गर्दन तक धुस गया। ठुड्डी की हड्डी के भूमि पर प्रतिष्ठित होते समय उसने यह गाथा कही—

इन आठ प्राणों से उस अग्रपुद्गल (= महापुरुष) देवातिदेव, नरदम्यसारथी समंतचक्षु शतपुण्यलक्षण बुद्ध के शरणागत हूँ। *वह अब से सौ हजार कल्पों बाद अट्ठिस्सर नामक प्रत्यक् बुद्ध होगा।*
—वह पृथिवी में धुसकर अवीचिनरक में उत्पन्न हुआ।

इस कथा में ऐतिहासिक तथ्य चाहे कुछ भी हो, किंतु इसमें संदेह नहीं कि देवदत्त के जमीन में धँसने की जो किवदंती फाहियान के समय *(पाँचवीं शताब्दी में) खूब प्रसिद्ध थी* उससे भी पहले की सिंहाली अट्ठकथाओं में यह बात वैसे ही थी, जिनके आधार पर फाहियान के समकालीन बुद्धघोष ने पाली अट्ठकथा में इसे लिखा। फाहियान ने देवदत्त के धँसने के इस स्थान को जेतवन के पूर्वद्वार पर राजपथ से ७० पद, पश्चिम ओर जहाँ चंचा के धरती में धँसने का उल्लेख किया है, लिखा है।

ह्यू न्-चाङ् ने इस स्थान के विषय में लिखा है—

To the east of the convent about 100 paces is a great chasm; this is where Devadutta went down alive into Hell after trying to poison Buddha. To the south of this, again is a great ditch; this is the place where the Bhikshu Kokali went down alive into Hell after slandering Buddha. To the south of this, about 800 paces, is the place where the Brahman woman Chancha went down alive into Hell after slandering Buddha. All these chasms are without any visible bottom (or bottomless pits). (·Beal Life of H. Ts. pp. 93 and 94).

इनमें ऐतिहासिक तथ्य संभवत: इतना ही हो सकता है कि मरणासन्न देवदत्त को अंत में अपने किए का पश्चात्ताप हुआ और वह बुद्ध के दर्शन के लिये गया, किंतु जेतवन के दर्वाजे पर ही उसके प्राण छूट गए। यह मृत्यु पहले भूमि में धँसने में परिणत हुई। फाहियान ने उसे पृथिवी के फटकर बीच में जगह देने के रूप में सुना। ह्यूनू-चाङ् के समय वह स्थान अथाह चँदवक में परिणत हो गया था। किंतु इतना तो ठीक ही है कि यह स्थान (१) पूर्व-कोट्ठक के पास था; (२) पुष्करिणी के ऊपर था; (३) विहार (गंधकुटी) से १०० कदम पर था; और (४) चंचा के धँसने का स्थान भी इसके पास ही था।

चंचा के धँसने का स्थान द्वार के बाहर पास ही में अट्ठकथा में भी आता है, किंतु कोकालिक के धँसने का कहीं जिक्र नहीं आता। ·बल्कि इसके विरुद्ध उसका वर्णन सुत्तनिपात में इस प्रकार है—

कोकालिक ने जेतवन में भगवान् के पास जाकर कहा—भंते, सारिपुत्त मोग्गल्लान पापेच्छु हैं, पापेच्छाओं के वश में हैं। भगवान्

ने उसे सारिपुत्त मोग्गल्लान के विषय में चित्त को प्रसन्न करने के लिये तीन बार कहा, किंतु उसने तीन बार उसी को दुहराया। वहाँ से प्रदक्षिणा करके गया तो उसके सारे बदन में सरसों के बराबर फुंसियाँ निकल आईं, जो क्रमशः बेल से भी बड़ी हो फूट गईं। फिर खून और पीब बहने लगा और वह इसी बीमारी में मरा।

इसमें कहीं कोकालिक के धँसने या बुद्ध को अपमानित करने का वर्णन नहीं है। इसमें शंका नहीं, इसी सुत्तनिपात की अट्ठकथा में इस कोकालिय को देवदत्त के शिष्य कोकालिय से अलग बतलाया है, किंतु उसका भी जेतवन के पास भूमि में धँसना कहीं नहीं मिलता। चंचा के भूमि में धँसने का उल्लेख फाहियान और ह्यू न् चाङ् दोनों ही ने किया है। लेकिन ह्यू न्-चाङ् ने ८०० कदम दक्षिण लिखा है, यद्यपि फाहियान ने चूहों से बंधन काटने और धँसने का स्थान एक ही लिखा है। **पाली में यह कथा[1] इस प्रकार है—**

पहली बोधी[1] (५२७-१३ ई० पू०) में तैर्थिकों ने बुद्ध के लाभ-सत्कार को देखकर उसे नष्ट करने की ठानी। उन्होंने **चिंचा** परिव्राजिका से कहा। वह श्रावस्ती-वासियों के धर्मकथा सुनकर जेतवन से निकलते समय इंद्रगोप के समान वर्णवाले वस्त्र को पहन गंधमाला आदि हाथ में ले जेतवन की ओर जाती थी। जेतवन के समीप के तीर्थिकाराम में वास कर प्रातः ही नगर से उपासक जनों के निकलने पर, जेतवन के भीतर रही हुई सी हो, नगर में प्रवेश करती थी। एक मास के बाद पूछने पर कहती थी कि जेतवन में श्रमण गोतम के साथ एक गंधकुटी ही में सोई हूँ। आठ नौ मास के बाद पेट पर गोल काष्ठ बाँधकर, ऊपर से वस्त्र पहन, सायाह्न समय, धर्मोपदेश करते हुए तथागत के सामने खड़ी हो

(१) धम्मपद-अ० क०, १३·१६।

उसने कहा—"महाश्रमण, लोगों को धर्मोपदेश करते हो। मैं तुमसे गर्भ पाकर पूर्णगर्भा हो गई हूँ। न मेरे सूतिका-गृह का प्रबंध करते हो और न घी-तेल का। यदि आपसे न हो सके तो अपने किसी उपस्थापक ही से—कोसलराज से, अनाथपिंडिक से या विशाखा से—करा दो...।" इस पर देवपुत्रों ने, चूहे के बच्चे बन, बंधन की रस्सी को काट दिया। लोगों ने यह देख उसके शिर पर थूककर उसे ढेले, डंडे आदि से मारकर जेतवन से बाहर किया। **तथागत** के दृष्टिपथ से हटने के बाद ही महापृथिवी ने फटकर उसे जगह दी।

इस कथा में तथागत के आँखों के सामने से चंचा के अलग होते ही उसका पृथिवी में धँसना लिखा है। बुद्ध इस समय बुद्धासन पर (Stup. H) बैठे रहे होंगे। दर्वाजे का बहिर्कोष्ठक सामने ही था। द्वारकोष्ठक के पार होते ही उसका आँखों से ओझल होना स्वाभाविक है और इस प्रकार धँसने की जगह द्वारकोष्ठक के बाहर पास ही, पुष्करिणी के किनारे हो सकती है; जिसके पास, पीछे देवदत्त का धँसना कहा जाता है, जो फाहियान के भी अनुकूल है। काल बीतने के साथ कथाओं के रूप में भी अतिशयोक्ति होनी स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त ह्यू नू-चाङ् उस समय आए थे, जिस समय महायान भारत में यौवन पर था। महायान ऐतिहासिकता की अपेक्षा लोकोत्तरता की ओर अधिक झुकता है, जैसा कि महायान करुणापुंडरीक सूत्र आदि से खूब स्पष्ट है। इसी लिये ह्यू नू-चाङ् की किंवदंतियाँ फाहियान की अपेक्षा अधिक अतिरंजित मिलती हैं। और इसी लिये ह्यू नू-चाङ् की कथा में हो चिंचा को ८०० कदम और दक्षिण पाते हैं। ह्यू नू-चाङ् का यह कथन कि देवदत्त के धँसने की जगह अर्थात् द्वारकोष्ठक के बाहर पुष्करिणी का घाट विहार (=गंधकुटी) से १०० कदम था, ठीक मालूम होता है और इस प्रकार Monastery F की पूर्वी दीवार से धिन-

कुल पास ही जेतवन के द्वारकोट्ठक का होना सिद्ध होता है और फिर ४८७ नंबरवाले खेत की निचली भूमि ही जेतवन की पुष्करिणी सिद्ध होती है।

कपल्ल-पूव-पब्भार—इसमें संदेह नहीं कि कितनी ही जगहों का आरंभ अनैतिहासिक कथाओं पर अवलंबित है, किंतु इससे वैसे स्थानों का पीछे माना जाना असत्य नहीं हो सकता। ऐसा ही एक स्थान जेतवन-द्वारकोट्ठक में 'कपल्ल-पूव-पब्भार' था। कथा यों है—

राजगृह नगर[1] के पास एक सक्खर नाम का कस्बा था। वहाँ अस्सी करोड़ धनवाला कौशिक नामक एक कंजूस सेठ रहता था। उसने एक दिन बहुत आगा-पीछा कर भार्या से पुआ खाने के लिये कहा। स्त्री ने पुआ बनाना आरंभ किया। यह जान स्थविर महा-मोग्गलान उसी समय जेतवन से निकलकर ऋद्धिबल से उस कस्बे में सेठ के घर पहुँचे। ..सेठ ने भार्या से कहा—भद्रे! मुझे पुओं की जरूरत नहीं, उन्हें इसी भिक्षु को दे दो।...स्थविर ऋद्धिबल से सेठ-सेठानी को पुओं के साथ लेकर जेतवन पहुँच गए। सारे विहार के भिक्षुओं को देने पर भी वह समाप्त हुआ सा न मालूम होता था। इस पर भगवान् ने कहा—इन्हें जेतवन द्वारकोट्ठक पर छोड़ दो। उन्होंने उसे द्वारकोट्ठक के पास के स्थान पर ही छोड़ दिया। आज भी वह स्थान कपल्ल-पूव-पब्भार के ही नाम से प्रसिद्ध है।

यह स्थान भी द्वारकोट्ठक के ही एक भाग में था, और इस जगह की स्मृति में भी कोई छोटा-मोटा स्तूप अवश्य बना होगा।

जेतवन के बाहर की बातों को समाप्तकर अब हमें जेतवन के अंदर की शेष इमारतों को देखना है। विनय (पृष्ठ १५२) के अनु-

(१) धम्मपदट्ठकथा, Vol. I, p. 373.

सार अनाथपिंडिक ने जेतवन के भीतर ये चार्जें बनवाईं—
विहार, परिवेण, कोठा, उपस्थानशाला, कप्पियकुटी, पाखाना, पेशावखाना, चंक्रम (=टहलने की जगह), चंक्रमणशाला, उदपान (=प्याऊ), उदपानशाला, जंताघर (=स्नानगृह), जंताघरशाला, पुष्करिणी और मंडप। जातक-अट्ठकथा[1] (निदान) के अनुसार इनका नाम इस प्रकार है—मध्य में गंधकुटी, उसके चारों तरफ अस्सी महास्थविरों के अलग अलग निवासस्थान, एक कुट्टक (=एकतला), द्विकुट्टक, हंसवट्टक, दीघसाला, मंडप आदि तथा पुष्करिणी, चंक्रमण, रात्रि के रहने के स्थान और दिन के रहने के स्थान।

चुल्लवग्ग के **सेनासनक्खंधक** (६) से हमें निम्न प्रकार के गृहों का पता लगता है—

उपस्थानशाला—उस समय भिक्षु खुली जगह में खाते समय शीत से भी, उष्ण से भी कष्ट पाते थे। भगवान् से कहने पर उन्होंने कहा—मैं अनुमति देता हूँ कि उपस्थानशाला बनाई जाय, ऊँची कुरसीवाली, ईंट, पत्थर या लकड़ी से चिनकर; सीढ़ी भी ईंट, पत्थर या लकड़ी की; बाँह-आलंबन भी; लीप-पोतकर, सफेद या काले रंग की गेरू से सँवारी, माला लता, चित्रों से चित्रित, खूँटी, चीवर-बाँस चीवर-रस्सी के सहित।

जेतवन में भी ऐसी उपस्थानशाला थी, जिसका वर्णन सूत्रों में बहुत आता है। जेतवन की यह उपस्थानशाला लकड़ी की रही होगी तथा नीचे ईंटें बिछी रही होंगी।

जेतवन के भीतर हम इन इमारतों का वर्णन पाली स्रोत से पाते हैं—करेरिकुटिका, कोसंबकुटी, गंधकुटी, सललघर; करेरिमंडलमाल, करेरिमंडप, गंधमंडलमाल, उपट्ठानसाला (=धर्मसभामंडप), नहानकोट्ठक, अग्गिसाला, अंबलकोट्ठक (=आसनसाला, पानीय-

(१) जातक, १: ८: ८।

साला), उपसंपदामालक। यद्यपि सललघर जेतवन के भीतर लिखा मिलता है; किंतु ज्ञात होता है कि जेतवन से यहाँ जेतवन-राजकाराम अभिप्रेत है और सललघर राजकाराम की ही गंधकुटी का नाम था।

करेरिकुटिका और करेरिमंडलमाल—दीघनिकाय[1] में आता है कि एक समय भगवान् जेतवन में अनाथपिंडिक के आराम, करेरिकुटिका में, विहार करते थे। भोजन के बाद करेरिमंडलमाल में इकट्ठा बैठे हुए बहुत से भिक्षुओं में पूर्वजन्म-संबंधी धार्मिक चर्चा चल पड़ी। भगवान् ने उसे दिव्य श्रोत्र-धातु से सुना। इस पर टीका करते हुए आचार्य बुद्धघोष ने लिखा है—

करेरि वरुण वृक्ष का नाम है। करेरि वृक्ष उस कुटी के द्वार पर था, इसी लिये करेरिकुटिका कही जाती थी; जैसे कोसंब वृक्ष के द्वार पर होने से कोसंबकुटिका। जेतवन के भीतर करेरिकुटि, कोसंबकुटि, गंधकुटि, सललघर ये चार बड़े घर (महागेह) थे। एक एक सौ हजार खर्च करके बनवाए गए थे। उनमें सललघर राजा प्रसेनजित् द्वारा बनवाया गया था, बाकी अनाथपिंडिक गृहपति द्वारा। इस तरह अनाथपिंडिक गृहपति द्वारा खंभों के ऊपर बनवाई हुई देवविमान-समान करेरिकुटिका में भगवान् विहार करते थे[2]।

सूत्र से हमें मालूम होता है कि जेतवन के भीतर (१) करेरिकुटिका थी, जो संभवत: गंधकुटी, कोसंबकुटी की भाँति सिर्फ

---

(१) दी० नि० महापदानसुत्त, XIV. Vol. I. (P. T. S. ed)

(२) दी० नि० अट्ठकथा, II, पृ० २६६।

एकं समयं भगवा सावत्थियं विहरति जेतवने अनाथपिंडिकस्स आरामे करेरिकुटिकायां। अथ खो संबहुलानं भिक्खूनं पच्छाभत्तं पिंडपात पटिक्कन्तानं करेरि मंडल-माले सन्निसिन्नानं सन्निपतितानं पुब्बे-निवास-पटिसंयुत्ता धम्मिय-कथा उदपादि—'इति पुब्बे-निवासो इति पुब्बेनिवासोति'।

बुद्ध ही के रहने के लिये थी; (२) उससे कुछ हटकर करेरि-मंडलमाल था। बिल्कुल पास होने पर दिव्य श्रोत्र धातु से सुनने की कोई आवश्यकता न थी। अट्ठकथा से मालूम होता है कि इस (३) कुटी के द्वार पर करेरी का वृक्ष था, इसी लिये इसका नाम करेरिकुटिका पड़ा था। इतना ही नहीं, कोसंब-कुटी का नाम भी द्वार पर कोसंब वृक्ष के होने से पड़ा था। (४) अनाथपिंडिक द्वारा यह करेरिकुटी लकड़ी के खंभों के ऊपर बहुत ही सुंदर बनाई गई थी। करेरिमंडलमाल पर टीका करते हुए. बुद्धघोष कहते हैं—"उसी करेरिमंडप[1] के अविदूर (=बहुत दूर नहीं) बनी हुई निसीदनशाला (को करेरिमंडलमाल कहते हैं)। वह करेरिमंडप गंधकुटी और निसीदनशाला के बीच में था। इसी लिये गंधकुटी भी करेरिकुटिका, और शाला भी करेरिमंडल-माल कहा जाता था।" उदान में भी—'एक बार[2] बहुत से भिक्षु करेरिमंडलमाल में इकट्ठे बैठे थे' देखा जाता है। टीका करते हुए अट्ठकथा में आचार्य धर्मपाल लिखते हैं—"करेरि[3] वरुण वृक्ष का नाम है। वह गंधकुटी, मंडप और शाला के बीच में था। इसी लिये गंधकुटी भी करेरिकुटी कही जाती थी, मंडप भी, और शाला भी करेरिमंडलमाल। प्रतिवर्ष बननेवाले घास पत्ती के छप्पर को मंडल-माल कहते हैं। दूसरे कहते हैं, अतिमुक्त आदि लताओं के मंडप को मंडलमाल कहते हैं।

यहाँ दी० नि० अट्ठकथा में 'करेरिमंडप, गंधकुटी और निसी-दनशाला के बीच में था' उदान अट्ठकथा में 'करेरि वृक्ष

---

(१) पीछे दीघ० नि० अ० क०।

(२) (उदान—३ । ८)—करेरिमंडलमाळे सन्निसिन्नानं सन्निपति-तानं अयं अंतराकथा उदपादि।

(३) उदानट्ठकथा, पृ० ११९।

गंधकुटी, मंडप और शाला के बीच में था', जिसमें 'गंधकुटी, मंडप' को 'गंधकुटी-मंडप' स्वीकार किया जा सकता है, किंतु आगे 'इसी लिये गंधकुटी भी...,मंडप भी और शाला भी...से मालूम होता है कि यहाँ करेरिकुटी, करेरिमंडप, करेरिमंडलमाला ये तीन अलग चीजें हैं, और इन तीनों के बीच में करेरि वृक्ष था।' लेकिन दीघनिकायट्ठकथा का 'यह करेरिमंडप गंधकुटी और निसीदनशाला के बीच में था'—यह कहना फिर करेरिमंडप को संदेह में डाल देता है। इससे तो मालूम होता है 'करेरिवृक्ष' की जगह पर 'करेरिमंडप' भ्रम से लिखा गया जान पड़ता है। यद्यपि इस प्रकार करेरिमंडप का होना संदिग्ध हो जाता है; तो भी इसमें संदेह नहीं कि करेरि वृक्ष करेरिकुटी के सामने था, जिसके आगे करेरिमंडलमाल। जेतवन में सभी प्रधान इमारतें गंधकुटी की भाँति पूर्वमुँह ही थीं। करेरि-कुटी के द्वार पर पूर्व तरफ एक करेरि का वृक्ष था, और उससे पूर्व तरफ (१) करेरिमंडलमाल था, जिसमें भोजनोपरांत भिक्षु प्रायः इकट्ठा होकर धर्म-चर्चा किया करते थे। (२) यह मंडलमाल प्रतिवर्ष फूस से छाया जाता था, इसलिये कोई स्थायी इमारत न थी।

यहाँ हमें यह कुछ भी नहीं पता लगता कि करेरिकुटी, कोसंब-कुटी और गंधकुटी से किस ओर थी। यदि हम **'करेरिकुटी, कोसंबकुटी, गंधकुटी'** इस क्रम को उनका क्रम मान लें, तो करेरिकुटी कोसंबकुटी से भी पश्चिम थी। यहाँ सललघर को इस क्रम से किंतु नहीं मानना होगा क्योंकि यह तैर्थिकों की जगह पर राजा प्रसेनजित् का बनवाया हुआ आराम था। शायद यह जेतवन के वस्तुतः बाहर होने पर भी समीपता के कारण उसमें ले लिया गया था। ऐसा होने पर Mo. No 5. को हम करेरिकुटिका मान सकते हैं। करेरि का वृक्ष उसके द्वार पर पूर्वोत्तर के कोने में था, और करेरिमंडलमाल उससे पूर्वोत्तर में।

उपट्ठानसाला—खुद्दकनिकाय के उदान ग्रंथ में आता है—
"एक समय[1] भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के आराम जेतवन में विहार करते थे। उस समय भोजन के बाद, उपस्थानशाला में इकट्ठे बैठे, बहुत से भिक्षुओं में यह कथा होती थी। इन दोनों राजाओं में कौन बड़ा...है, राजा मागध सेनिय बिंबिसार अथवा राजा प्रसेनजित् कोसल।...उस समय ध्यान से उठकर भगवान् शाम के वक्त उपट्ठानशाला में गए और नियत आसन पर बैठे।"

इसकी अट्ठकथा में आचार्य धर्मपाल लिखते हैं—

'भगवान्[2] ने...भोजनोपरांत...गंधकुटी में प्रवेश कर फलसमापत्ति सुख के साथ दिवस-भाग को व्यतीत कर (सोचा)...अब चारों परिषद् (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका) मेरे आने की प्रतीक्षा में सारे विहार को पूर्ण करती बैठी है, अब धर्मदेशना के लिये धर्म-सभा-मंडल में जाने का समय है...।'

इससे मालूम होता है कि उपस्थानशाला (१) जेतवन में भिक्षुओं के एकत्र होकर बैठने की जगह थी; (२) तथागत सायंकाल को उपदेश देने के लिये वहाँ जाते थे। अट्ठकथा से इतना और मालूम होता है—(३) इसी को धर्म-सभा-मंडल भी कहते थे। (४) यह गंधकुटी के पास थी; (५) सायंकाल को धर्मोपदेश सुनने के लिये भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका सभी यहाँ इकट्ठे होते थे; (६) मंडल शब्द से करेरिमंडल की भाँति ही यह भी शायद फूस के छप्परों से प्रतिवर्ष छाई जानेवाली इमारत थी, (७) ये छप्पर शायद गंधकुटी के पासवाली भूमि पर पड़े थे, इसी लिये 'सारे विहार को पूर्ण करती' शब्द आया है।

---

(१) तेन खो पन समयेन उपट्ठानसालायं सन्निसिन्नानं सन्निपतितानं अयमन्तराकथा उदपादि।—उदान, २-२।

(२) उदानट्ठकथा, पृ० ७२ (सिंहललिपि)

गंधकुटी के पासवाले गंधकुटी-परिवेण के विषय में हम कह चुके हैं। यह गंधकुटी के सामने का आँगन था। गंधकुटी की शोभा के ढँक जाने के ख्याल से इस जगह उपस्थानशाला नहीं हो सकती। यह संभवतः गंधकुटी से लगे हुए उत्तर तरफ के भू-खंड पर थी, जिसमें स्तूप No. 8 या 9 शायद बुद्धासन के स्थान पर हैं।

स्नानकोष्ठक—अंगुत्तरनिकाय-अट्ठकथा का उद्धरण दे चुके हैं—"भोजनोपरांतवाले कृत्य (तीसरे पहर के कृत्य—उपदेश आदि) के समाप्त होने पर, यदि बुद्ध नहाना (= गात्र धोना) चाहते थे, तो बुद्धासन से उठकर स्नानकोष्ठक में...शरीर को ऋतु ग्रहण कराते थे।" (१) यह स्नानकोष्ठक गंधकुटी के पास था। (२) गंधकुटी के पास का कुआँ भी इसके पास ही हो सकता है। (३) यह अलग नहाने की एक छोटी सी कोठरी रही होगी।

इन पर विचार करने से Mo no 2 के कुएँ के पासवाला स्तूप k स्नानकोष्ठक का स्थान मालूम होता है, जिसके विषय में सर जान मार्शल ने लिखा है—

The character is not wholly apparent. It consists of a chamber, 12′ 8″ square, with a paved passage around enclosed by an outer wall. The floor of the inner chamber and the passage around it are paved in bricks of the same size 13″ × 9″ × 2½″ (of Kushana period) as those used in the walls...absence of any doorway. In all probability, it was a stupa with a relic-chamber within and a paved walk outside; and the outer wall was added at a later date... ......*well.* A few feet to the south west of this structure is a carefully constructed well; which appears

to be of a slightly later date than the building k......
The bricks are of the same size as those in the building k......sweet and clear water......

जंताघर (=अग्निशाला)—इसके बारे में धम्मपद अट्ठकथा के वाक्य ये हैं—

सड़े शरीरवाला तिष्य[1] स्थविर अपने शिष्य आदि द्वारा छोड़ दिया गया था। (भगवान् ने सोचा) इस समय इसको मुझे छोड़ दूसरा कोई अवलंब नहीं; और गंधकुटी से निकल विहारचारिका करते हुए, अग्निशाला में जा जलपात्र को धो चूल्हे पर रख जल को गर्म हुआ जान, जाकर उस भिक्षु के लेटने की खाट का किनारा पकड़ा। तब भिक्षु खाट को अग्निशाला में लाए। शास्ता ने इसके पास खड़े हो गर्म पानी से शरीर को भिगोकर मल मलकर नहलाया। फिर वह हल्के शरीर हो और एकाग्रचित्त हो खाट पर लेटा। शास्ता ने उसके सिरहाने खड़े हो यह गाथा कह उपदेश दिया—

"देर नहीं है कि तुच्छ, विज्ञान-रहित, निरर्थक काष्ठखंड सा यह शरीर पृथिवी पर लेटेगा।...देशना के अंत में वह अर्हत्व को प्राप्त हो, परिनिर्वृत्त हुआ। शास्ता ने उसका शरीरकृत्य कराकर हड्डियाँ ले चैत्य बनवाया।"

जंताघर[2] और अग्निशाला दोनों एक ही चीज हैं। चुल्लवग्ग में अग्निशाला के विधान में यह वाक्य है—

"अनुज्ञा[3] देता हूँ, एक तरफ अग्निशाला...ऊँची कुर्सी की..., ईंट पत्थर या लकड़ी से चुनी...,सोपान...आलंबनबाहु-सहित...।"

(१) (ध०प० ४:८, अ० क० १२७)।

(२) "जंताघरं त्वग्गिसाला" (अभिधानप्पदीपिका २१४)।

(३) अनुजानामि भिक्खवे एकमंतं अग्गिसालं कातुं...उच्चवत्थुकं इट्ठिकाचयं सिलाचयं दारुचयं...सोपाणं...आलंबणबाहं...।" (सेनासन-क्खंधक, ६)।

इन उद्धरणों से मालूम होता है कि (१) जंताघर संघाराम के एक छोर पर होता था। (२) यह नहाने की जगह थी। (३) ईंट, पत्थर या लकड़ी की चुनी हुई इमारत होती थी। (४) उसमें पानी गर्म करने के लिये आग जलाई जाती थी, इसी लिये उसे अग्निशाला भी कहते हैं। (५) उसमें केवाड़, ताला-चाभी भी रहती थी। (६) धूएँ की चिमनी भी होती थी। (७) बड़े जंताघरों में आग जलाने का स्थान बीच में, छोटों में एक किनारे पर। (८) जंताघर की भूमि ईंट, पत्थर या लकड़ी से ढकी रहती थी। (९) उसमें पीढ़े पर बैठकर नहाते थे। (१०) वह ईंट, पत्थर या लकड़ी की दीवार से घिरा रहता था।

महावग्ग में सामणेर का कर्त्तव्य वर्णन करते हुए जंताघर के संबंध में इस प्रकार कहा गया है—

"यदि[१] उपाध्याय नहाना चाहते हों।... यदि उपाध्याय जंताघर में जाना चाहते हों, तो चूर्ण ले जाना चाहिए, मिट्टी भिगोनी चाहिए। जंताघर के पीठ (=चौकी) को लेकर उपाध्याय के पीछे पीछे जाकर, जंताघर में पीठ देकर, चीवर लेकर एक तरफ रखना चाहिए। चूर्ण देना चाहिए। मिट्टी देनी चाहिए।...जल में भी उपाध्याय का परिकर्म करना (=मलना) चाहिए। नहाकर पहले ही निकलकर अपने गात्र को निर्जल कर वस्त्र पहनकर, उपाध्याय के गात्र से जल सम्मार्जित करना चाहिए। वस्त्र देना चाहिए, संघाटी देनी चाहिए। जंताघर के पीठ को लेकर पहले ही (निवासस्थान पर) आकर आसन ठीक करना चाहिए...।"

जंताघर के वर्णन में इस प्रकार है[२] —

अनुज्ञा देता हूँ (जंताघर को) उच्च-वस्तुक करना...केवाड़... सूचिक, घटिक तालछिद्र...धूमनेत्र ..., ...छोटे जंताघर में एक तरफ

(१) (महा० व०, p. 43)

(२) चु० व०, शुद्दकवत्थुक्खंधक, p. 213,214)

अग्निस्थान, घड़े के मध्य में...। (जंताघर में कीचड़ होता या इसलिये) ईंट, पत्थर या लकड़ा से गच करना,...पानी का रास्ता बनाना,... जंताघर-पीठ..., ईंट, पत्थर या लकड़ी के प्राकार से परिक्षेप करना...।

जेतवन का जंताघर भी जेतवन के अगल-बगल एक कोने में रहा होगा, जो ऊपर वर्णन किए गए तरीके पर संभवतः ईंट और लकड़ी से बना होगा। ऐसा स्थान जेतवन के पूर्व-दक्षिण कोण में संभव हो सकता है; अर्थात् Monastery B के आसपास।

आसनशाला, अंबलकोट्ठक—जातकट्ठकथा में इसके लिये यह शब्द है—

"अंबलकोट्ठक[1] आसनशाला में भात खानेवाले कुत्ते के संबंध में कहा। उस (कुत्ते) को जन्म से ही पनभरों ने लेकर वहाँ पाला था।" इससे हमें ये बातें मालूम होती हैं—(१) जेतवन में आसनशाला थी, (२) जिसके पास या जिसमें ही अंबलकोट्ठक नाम की कोई कोठरी थी, (३) जिसमें पानी भरनेवाले अक्सर रहा करते थे; (४) पानीशाला या उदपानशाला भी यहीं पास में थी।

यह स्थान भी गंधकुटी से कुछ हटकर ही होना चाहिए। पनभरों के संबंध से मालूम होता है, यह भी जंताघर(Monastery B) के पास ही कहीं पर रहा होगा।

उपसंपदा मालक—"फिर[2] उसको स्थविर ने जेतवन में ले आकर अपने हाथ से ही नहलाकर, मालक में खड़ा कर प्रव्रजित कर, उसकी लँगोटी और हल को मालक की सीमा ही में वृक्ष की डाल पर रखवा दिया।"

---

(१) जातक, २४२।
(२) ध० प०, २५:१०, अ० क०।

अन्यत्र धम्मपद (८: ११ अ० क०) में भी उपसंपदा-मालक नाम आता है।

यह संभवत: गंधकुटी के पास कहीं एक स्थान था, जहाँ प्रव्रज्या दी जाती थी। जेतवन में वैसे सभी जगह वृक्ष ही वृक्ष थे, अतः इसकी सीमा में वृक्ष का होना कोई विशेषता नहीं रखता।

आनंदबोधि—आखिरी चीज जो जेतवन के भीतर रह गई वह आनंदबोधि है। जातकट्ठकथा में उसके लिये यह वाक्य है—

"आनंद[1] स्थविर ने रोपा था, इसलिये आनंदबोधि नाम पड़ा। स्थविर द्वारा जेतवनद्वारकोट्ठक के पास बोधि (=पीपल) का रोपा जाना सारे जंबूद्वीप में प्रसिद्ध हो गया था।"

भरहुट की जेतवन-पट्टिका में भी गंधकुटी के सामने, कोसंबकुटी से पूर्वोत्तर के कोण पर, वेष्टनी से वेष्टित एक वृक्ष दिखाया गया है, जो संभवत: आनंदबोधि ही है। यद्यपि उपर्युक्त उद्धरण से यह नहीं मालूम होता कि यह पीपल का वृक्ष द्वारकोट्ठक के बाहर था या भीतर; किंतु अधिकतर इसका भीतर ही होना मालूम पड़ता है, क्योंकि ऐसा पूजनीय वृक्ष जेतवन खास के भीतर ही होना चाहिए। पट्टिका में भी भीतर ही दिखलाया गया है, क्योंकि उसमें द्वारकोट्ठक छोड़ दिया गया है।

वड्ढमान—जेतवन के भीतर यह एक और प्रसिद्ध वृक्ष था। धम्मपदट्ठकथा में—"आनंद, आज वर्द्धमान की छाया में...चित्त... मुझे वंदना करेगा।...वंदना के समय राज-मान से आठ करीस प्रमाण प्रदेश में...दिव्य पुष्पों की घन वर्षा होगी।" (ध० प० ५: १४, अ० क० २५०)। यह चित्त गृहपति तथागत के गृहस्थ सर्वश्रेष्ठ शिष्यों में था। तथागत ने इसके बारे में स्वयं कहा है—

---

१. जातक, २६१।

"भिक्षुओ, श्रद्धालु उपासक अच्छी प्रार्थना करते हुए यह प्रार्थना करे, वैसा होऊँ जैसा कि चित्त गहपति।" (अं० नि० ३-२-२-५३)।

सुंदरी—जेतवन के संबंध में एक और प्रसिद्ध घटना (जो अट्ठकथा और चीनी परिव्राजकों के विवरण में ही नहीं, वरन् उदान में भी, जो त्रिपिटक के मूल भाग में हैं) सुंदरी परिव्राजिका की है। उदान में इसका उल्लेख इस प्रकार है—

"भगवान् जेतवन[1] में विहरते थे। उस समय भगवान् और भिक्षु-संघ सत्कृत पूजित, पिंडपात, शयनासन, ग्लानप्रत्य भैषज्यों के लाभी थे, लेकिन अन्य तीर्थिक परिव्राजक असत्कृत...थे। तब वे तीर्थिक, भगवान् और भिक्षुसंघ के सत्कार को न सहते हुए, सुंदरी परिव्राजिका के पास जाकर बोले—

भगिनी! ज्ञाति की भलाई करने का उत्साह रखती हो?—मैं क्या करूँ आर्यो! मेरा किया क्या नहीं हो सकता? जीवन भी मैंने ज्ञाति के लिये अर्पित कर दिया है।—तो भगिनी बार बार जेतवन जाया कर।—बहुत अच्छा आर्यो! यह कहकर..., सुंदरी परिव्राजिका बराबर जेतवन जाने लगी। जब अन्य तीर्थिक परिव्राजकों ने जाना, कि बहुत लोगों ने सुंदरी...को बराबर जेतवन जाते देख लिया, तो उन्होंने उसे जान से मारकर वहीं **जेतवन की खाई** में कुआँ खोदकर डाल दिया और राजा प्रसेनजित् कोसल के पास जाकर कहा—महाराज! जो वह सुंदरी परिव्राजिका थी, सो नहीं दिखलाई पड़ती।—तुम्हें कहाँ संदेह है?—जेतवन में महाराज।—तो जाकर जेतवन को ढूँढ़ो। तब (उन्होंने) जेतवन में ढूँढ़कर अपने खोदे हुए परिखा के कुएँ से निकालकर खाट पर डाल श्रावस्ती में प्रवेश कर एक सड़क से दूसरी सड़क, एक चौराहे से दूसरे चौराहे पर जाकर आदमियों को शंकित कर दिया—"देखो आर्यो! शाक्यपुत्रीय

(१) उदान, ४:८ (मेघियवग्ग)।

श्रमणों का कर्म, ये अलज्जी, दुःशील, पापधर्म, मृषावादी, अब्रह्मचारी हैं।...इनको श्रामण्य नहीं, इनको ब्रह्मचर्य नहीं। इनका श्रामण्य, ब्रह्मचर्य नष्ट हो गया है। ...कैसे पुरुष पुरुष-कर्म करके स्त्री को जान से मार देगा ?" उस समय सावत्थी में लोग भिक्षुओं को देखकर (उन्हें) असभ्य और कड़े शब्दों से फटकारते थे, परिहास करते थे...। तब बहुत से भिक्षु श्रावस्ती से.. पिंडपात करके .. भगवान् के पास जाकर...बोले—"इस समय भगवान् ! श्रावस्ती में लोग भिक्षुओं को देखकर असभ्य और कड़े शब्दों से फटकारते हैं ...। यह शब्द भिक्षुओ ! चिरकाल तक नहीं रहेगा, एक सप्ताह में समाप्त हो लुप्त हो जायगा...। (और) वह, शब्द नहीं चिरकाल तक रहा, सप्ताह भर ही रहा... ।"

धम्मपद-अट्ठकथा में भी यह कथा आई है, जहाँ यह विशेषता है—...तब तीर्थिकों[1] ने कुछ दिनों के बाद गुंडों को कहापण देकर कहा—जाओ सुंदरी को मारकर श्रमण गोतम की गंधकुटी के पास मालों के कूड़े में डाल आओ...। राजा ने कहा—तो (मुर्दा लेकर) नगर में घूमो।...(फिर) राजा ने सुंदरी के शरीर को कच्चे श्मशान में मचान बाँधकर रखवा दिया।...गुंडों ने उस कहापण से शराब पीते ही झगड़ा किया (और रहस्य खोल दिया)...। राजा ने फिर तैर्थिकों को कहा—जाओ, यह कहते हुए नगर में घूमो कि यह सुंदरी हमने मरवाई...। (फिर) तीर्थिकों ने भी मनुष्य-वध का दंड पाया।

उदान में कहा है—(१) तीर्थिकों ने खुद मारा। (२) जेतवन की परिखा में कुआँ खोदकर सुंदरी के शरीर को दबा दिया। (३) सप्ताह बाद अपनी ही बदनामी रह गई। लेकिन धम्मपद-अट्ठकथा में—(१) तीर्थिकों ने गुंडों से मरवाया। (२) जेत-

[1] ध० प०, २२·१, अ० क०, ४७१।

वन की गंधकुटी के पास माला के कूड़े में सुंदरी के शरीर को डाल दिया। (३) धूर्तों ने शराब के नशे में भंडा फोड़ दिया। (४) तीर्थिकों को भी मनुष्य-वध का दंड मिला। यहाँ यद्यपि अन्य अंशों का समाधान हो सकता है, तथापि उदान का 'परिखा मे गाड़ना' और अट्ठकथा का गंधकुटी के पास कूड़े मे डालना, परस्पर विरुद्ध दिखाई पड़ते हैं। आरामों के चारों ओर परिखा होती थी, इसके लिये विनयपिटक में यह वचन है—"उस[1] समय आराम में घेरा नहीं था, बकरी आदि पशु भी पौधों को नुकसान करते थे। भगवान् से यह बात कही। (भगवान् ने कहा)—बाँस-वाट, कंटकी-वाट, परिखा-वाट इन तीन वाटों (=हँवान) से घेरने की अनुज्ञा देता हूँ।" यह परिखा आराम के चारों ओर होने से गंधकुटी के समीप नहीं हो सकती। दोनों का विरोध स्पष्ट ही है। ऐसे भी उदान मूल सूत्रों से संबंध रखता है, इसलिये उसकी, अट्ठकथा से अधिक प्रमाणिकता है। दूसरे उसका कथन भी अधिक संभव प्रतीत होता है। परिखा दूर होने से वहाँ आदमियों के आने-जाने का उतना भय न था, इसलिये खून करने का वही स्थान हत्यारों के अधिक अनुकूल था, बनिस्बत इसके कि वे गंधकुटी के पास उसे करें, जो मुख्य दर्वाजे के पास थी और जहाँ लोगों का बराबर आना-जाना रहता था। शरीर ढाँकने भर के लिये मालाओं के ढेर का इतना गंधकुटी के पास जमा करके रखना भी अस्वाभाविक है।

एन्‌-चाङ् ने लिखा है—

Behind the convent, not far, is where the Brahmachari herretics killed women and accused Buddha of the murder. (The Life of Hiuen-Tsang, p 93).

फाहियान ने इसके लिये कोई विशेष स्थान निर्दिष्ट नहीं किया है।

---

(१) चुल्लवग्ग, सेनासन० ६, पृ० २१०।

परिखा—सुंदरी के इस वर्णन से यह भी पता लगता है कि जेतवन के चारों ओर परिखा खुदी हुई थी। इसलिये बाँस या काँटे की बाड़ नहीं रही होगी।

इन इमारतों के अतिरिक्त जेतवन के अंदर पेशाबखाने, पाखाने, चंक्रमणशालाएँ भी थीं; किंतु इनका कोई विशेष उद्धरण नहीं मिलता।

जेतवन बनने का समय—पृष्ठ २५९ में दिए विनय के प्रमाण से पता लगता है कि राजगृह में अनाथपिंडिक ने वर्षावास के लिये निमंत्रित किया था। फिर वर्षा भर रहने के लिये स्थान खोजते हुए उसे जेतवन दिखलाई पड़ा और फिर उसने बहुत धन लगाकर वहाँ अनेक सुंदर इमारतें बनवाईं। यद्यपि सूत्र और विनय में हमें बुद्ध के वर्षावासों की सूची नहीं मिलती तो भी अट्ठकथाएँ इसकी पूरी सूचना देती हैं। अंगुत्तरनिकाय-अट्ठकथा (८:४:५) में यह इस प्रकार है—

वर्षा०	ई० पू०	
१	(५२७)	ऋषिपतन (सारनाथ)
२	(५२६)	राजगृह (वेणुवन)
३	(५२५)	" "
४	(५२४)	" "
५	(५२३)	वैशाली (महावन)
६	(५२२)	मंकुल पर्वत
७	(५२१)	त्रायस्त्रिंशभवन
८	(५२०)	भर्ग (सुंसुमारगिरि = चुनार)
९	(५१९)	कौशांबी
१०	(५१८)	पारिलेय्यकवनखंड
११	(५१७)	नाला
१२	(५१६)	वेरंजा
१३	(५१५)	चालिय पर्वत

वर्षा०	ई० पू०	
१४	(५१४)	जेतवन
१५	(५१३)	कपिलवत्थु
१६	(५१२)	आलवी
१७	(५११)	राजगह
१८	(५१०)	चालिय पव्वत
१९	(५०९)	चालिय पव्वत
२०	(५०८)	राजगह
२१	(५०७)	सावत्थी
२२	(५०६)	...
२३	(५०५)	...
२४	(५०४)	...
२५	(५०३)	...
२६	(५०२)	...
२७	(५०१)	...
२८	(५००)	...
२९	(४९९)	...
३०	(४९८)	...
३१	(४९७)	...
३२	(४९६)	...
३३	(४९५)	...
३४	(४९४)	...
३५	(४९३)	...
३६	(४९२)	...
३७	(४९१)	...
३८	(४९०)	...

वर्षा०	ई० पू०	
३९	(४८९)	...
४०	(४८८)	...
४१	(४८७)	...
४२	(४८६)	...
४३	(४८५)	...
४४	(४८४)	...
४५	(४८३)	वैसाली (वेलुवगाम)

इसके देखने से मालूम होता है कि सर्वप्रथम वर्षावास तथागत ने जेतवन में बोधि के चौदहवें वर्ष में किया था। इसका अर्थ यह भी है कि जेतवन बना भी इसी वर्ष (५१४-५१३ ई० पू०) में था, क्योंकि विनय का कहना साफ है कि अनाथपिंडिक ने वर्षावास के लिये निमंत्रित किया था और विनय के सामने अट्ठकथा का प्रमाण नहीं। यहाँ इस बात पर विचार करने के लिये कुछ और प्रमाणों पर विचार करना होगा।

वर्षावास के लिये जेतवन निमंत्रित होना (पृष्ठ २५९), इसलिये जब जेतवन को पहले गए, तो वर्षावास भी वहीं किया।

(क) कौशांबी[1] में भिक्षुओं के कलह के बाद पारिलेयक में जाकर रहना, वहाँ से फिर जेतवन में।

(ख) उदान[2] में एकांत विहार के लिये पारिलेयक में जाना लिखा है, झगड़े का जिक्र नहीं।

---

(१) "कोसम्बियं पिंडाय चरित्वा...संघमज्झे ठितकोव...गाथाय भासित्वा ..बालकलोणकारगामे...,यथ...पाचीनवंसदाये...। अथ... पारिलेय्यके... यथाभिरत्तं विहरित्वा...अनुपुब्बेन चारिकं चरमानो...सावत्थियं ..जेतवने...।"

—महावग्ग, कोसम्बक्खन्धक १०, ४०४-४०८, पृष्ठ।

(२) भगवा कोसम्बियं विहरति घोसितारामे। तेन खो पन समयेन भगवा आकिण्णो विहरति भिक्खूहि, भिक्खुनीहि उपासकेहि उपासिकाहि राजूहि

(ग) संयुत्तनिकाय[1] में एकांत विहार का भी जिक्र नहीं। बिल्कुल चुपचाप पारिलेयक का चला जाना लिखा है। पीछे चिरकाल के बाद आनंद का भिक्षुओं के साथ जाना, किंतु हाथी आदि का वर्णन नहीं।

(घ) धम्मपदट्ठकथा[2] में झगड़े के विस्तार का वर्णन है, और महावग्ग की तरह यात्रा करके पारिलेयक में जाना तथा वहाँ वर्षावास करना भी लिखा है। वर्षावास के बाद फिर वहाँ से जेतवन जाना।

यद्यपि चारों जगहों की कथाओं में परस्पर कितना ही भेद है, किंतु संयुत्तनिकाय से भी, जो निःसंदेह सबसे पुरातन प्रमाण

राजमहामत्तेहि तित्थियेहि तित्थियसावकेहि आकिण्णो दुक्खं न फासु विहरति।... अथ खो भगवा ..अनामतेत्वा उपट्ठाकं अनपलोकेत्वा भिक्खुसंघं एको अदुतीयो येन पारिलेय्यकं तेन चारिकं पक्कामि। अनुपुब्बेन चारिकं चरमानो येन पारिलेय्यकं तदवसरि। तत्रसुदं भगवा पारिलेय्यके विहरति रक्खितवनसंडे भद्दसालमूले। अञ्ञतरोपि खो हत्थिनागो...येन भगवा तेनुपसंकमि।

—उदान, ४:५।

(१) एकं समयं भगवा कोसंबियं विहरति घोसितारामे।...कोसंबियं पिंडाय चरित्वा ..अनामंतेत्वा उपट्ठाके, अनपलोकेत्वा भिक्खुसंघं, एको अदुतीयो चारिकं पक्कामि। ..एकको भगवा तस्मिं समये विहरितुकामो होति। . अथ सो भगवा अनुपुब्बेन चारिकं चरमानो येन पारिलेय्यकं तदवसरि। तत्रसुदं पारिलेय्यके विहरति भद्दसालमूले। ..अथ खो सम्बहुला भिक्खू ..आनंदं उपसंकमित्वा...चिरस्सं सुता खो नो आवुसो आनंद भगवतो सम्मुखा धम्मिकथा।...अथ खो...आनंदो तेहि भिक्खूहि सद्धिं येन पारिलेय्यकं भद्दसालमूलं येन भगवा तेनुपसंकमि।...भगवा धम्मिया कथाय संदस्सेसि।

—सं० नि०, २१:८:६।

(२) कोसंबियं पिंडाय चरित्वा अनपलोकेत्वा भिक्खुसंघं एककोव... बालकलोणकारगामं गन्त्वा...पाचीनवंसदाये...येन पारिलेय्यकं तदवसरि...भद्दसालमूले पारिलेय्यके एकेन हत्थिना उपट्ठहियमानो फासुकं वस्सावासं वसि।... अनुपुब्बेन जेतवनं अगमासि।.. (ध० प०, १:५, अ० क०)

है, चिरकाल तक पारिलेयक में वास करना मालूम होता है, क्योंकि वहाँ भिक्षु आनंद से कहते हैं—'आयुष्मान् आनंद ! भगवान् के मुख से धर्मोपदेश सुने बहुत दिन हुए।' संयुत्तनिकाय के बाद उदान का नंबर है, जहाँ झगड़े का जिक्र नहीं है, तो भी चिरकाल तक वहाँ रहना लिखा है। यद्यपि इन दोनों पुराने प्रमाणों में पारिलेयक से श्रावस्ती जाना नहीं लिखा है, तो भी पारिलेयक में अधिक समय का वास वर्षावास के विरुद्ध नहीं जाता। विनय और पीछे के दूसरे ग्रंथों में वर्णित जेतवन-गमन कोई विरुद्ध नहीं है, यद्यपि हाथी की सेवा की कथा संयुत्तनिकाय के बाद उदान के समय में गढ़ी गई मालूम होती है। अस्तु, पारिलेयक में वर्षा के बाद जेतवन में जाना निश्चित मालूम होता है। पारिलेयक का वर्षावास ऊपर की सूची में बोधि से दसवें वर्ष (५१८ ई० पू०) में है। अतः इससे पूर्व ही जेतवन बना था। बोधि-प्राप्ति के समय तथागत की आयु ३५ वर्ष की थी। सं० निकाय में राजा प्रसेनजित् से संभवतः पहली मुलाकात होने का इस प्रकार वर्णन आया है—

"भगवान्...जेतवन में विहरते थे। राजा प्रसेनजित् कोसल... भगवान् के पास जा सम्मोदन करके एक तरफ बैठ गया। ..फिर भगवान् से कहा। आप गोतम भो—'हमने अनुत्तर सम्यक् संबोधि को प्राप्त कर लिया'—यह प्रतिज्ञा करते हैं ? जिसको महाराज ! अनुत्तर सम्यक्-संबुद्ध हुआ कहें, ठीक कहते हुए वह मुझे ही कहे।... हे गोतम ! जो भी संघी, गणी, गणाचार्य, ज्ञात, यशस्वी तीर्थंकर, बहुत जनों के साधु-सम्मत,...जैसे—पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोसाल, निगंठनाथपुत्त, संजय बेलट्ठिपुत्त, पकुध कच्चायन, अजित केसकंबल, वह भी पूछने पर 'अनुत्तर सम्यक् संबोधि को जान गए', यह दावा नहीं करते। फिर क्या कहना है, आप गोतम तो

जन्म से दहर (= तरुण) हैं, प्रव्रज्या से भी नए हैं।...भगवान्, आज से मुझे अपना शरणागत उपासक...धारण करें[1]।"

यहाँ राजा प्रसेनजित् जेतवन में जाकर, निर्ग्रंथ ज्ञातृ-पुत्र (महावीर) आदि का यश वर्णन करके, तथागत को उमर में कम और नया साधु हुआ कहता है, इससे मालूम होता है कि तथागत अभिसंबोधि (३५ वर्ष की आयु) के बहुत देर बाद श्रावस्ती नहीं गए थे। उस समय जेतवन बन चुका था। 'दहर' कहने के लिये हम ४५ वर्ष की उम्र तक की सीमा मान सकते हैं। इस प्रकार पुराने सुत्तंत के अनुसार भी अभिसंबोधि से दसवें वर्ष (५१९ ई० पू०) से पूर्व ही जेतवन बन चुका था।

महावग्ग में राजगृह से कपिलवस्तु, फिर वहाँ से श्रावस्ती, जेतवन का वर्णन आया है—

"भगवान्[2] राजगृह में...विहार करके...चारिका चरण करते हुए ...शाक्य देश में कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में विहार करते थे।...फिर भगवान् 'पूर्वाह्ण समय...पात्र चीवर लेकर जहाँ शुद्धोदन शाक्य का घर था वहाँ गए, और रखे हुए आसन पर बैठे। तब राहुलमाता देवी ने राहुल कुमार को कहा। राहुल! यह तेरा पिता है, जा दायज्ज माँग।...राहुल कुमार यह कहते हुए भगवान् के पीछे पीछे हो लिया 'श्रमण, मुझे दायज्ज दो', 'श्रमण, मुझे दायज्ज दो'। तब भगवान् ने आयुष्मान् सारिपुत्र को कहा—तो सारिपुत्त तू राहुल कुमार को प्रव्रजित कर...। फिर भगवान् कपिलवस्तु में इच्छानुसार विहार कर श्रावस्ती की ओर चारिका के लिये चल दिए। वहाँ...अनाथ-पिंडिक के आराम जेतवन में विहार करते थे। उस समय आयुष्मान् सारिपुत्त के उपस्थाक-कुल ने एक लड़के को आयुष्मान् सारि-

(१) पृ० २३।

(२) महावग्ग (सिंहललिपि), ३६१-६३।

पुत्र के पास प्रव्रज्या देने के लिये भेजा। आयुष्मान् सारिपुत्र के चित्त में हुआ, भगवान् ने प्रज्ञप्त किया है, एक को दो सामणेर अपनी सेवा में न रखना चाहिए। और यह मेरा राहुल सामणेर है ही..." अट्ठकथा से स्पष्ट है कि यह यात्रा बोधि के दूसरे वर्ष में अर्थात् गया से वाराणसी ऋषिपतन, वहाँ से राजगृह आकर फिर कपिलवस्तु जाना। इस प्रकार ५२६ ई० पू० में जेतवन मौजूद मालूम होता है।

जातकट्ठकथा में इसे इस तरह संचित किया है—शास्ता[1] बुद्ध होकर प्रथम वर्षा० ऋषिपतन में बसकर,...उरुवेला को जा वहाँ तीन मास बस,...भिक्षुसंघ सहित पौष की पूर्णिमा को राजगृह में पहुँच दो मास ठहरे। इतने में वाराणसी से निकले को पाँच मास हो गए।...फाल्गुण पूर्णिमा को उस (=उदायि) ने सोचा...अब यह (यात्रा का) समय है...। राजगृह से निकलकर प्रतिदिन एक योजन चलते थे।...(इस प्रकार) राजगृह से ६० योजन कपिलवस्तु दो मास में पहुँचे।...(वहाँ से) भगवान् फिर लौटकर राजगृह जा सीतवन में विहरे। उस समय अनाथपिंडिक गृहपति...अपने प्रिय मित्र राजगृह के सेठ के घर जा, बुद्धोत्पत्ति सुन, ..शास्ता के पास जा धर्मोपदेश सुन,...द्वितीय दिन बुद्ध प्रमुख संघ को महादान दे, श्रावस्ती आने के लिये शास्ता की प्रतिज्ञा ले...।

यहाँ विनय से जातकट्ठकथा का, कलिवस्तु से आगे जाने के स्थान में विरोध है। जातकट्ठकथा के अनुसार बुद्ध वहाँ से लौटकर फिर राजगृह आए। लेकिन विनय के अनुसार राहुल को प्रव्रजित कर वे श्रावस्ती जेतवन पहुँचे। जातक के अनुसार बुद्ध की कपिलवस्तु की यात्रा बोधि से दूसरे वर्ष (५२६ ई० पू०) की फाल्गुन-पूर्णिमा को आरंभ हुई, और वे दो मास बाद वैशाख-पूर्णिमा को वहाँ पहुँचे। वहाँ से फिर लौटकर राजगृह आकर

(१) जातक, निदान।

वहाँ उन्होंने वर्षावास किया जो ऊपर की सूची से स्पष्ट है। वहाँ सीतवन में अनाथपिंडिक का जातकट्ठकथा के अनुसार श्रावस्ती आने की प्रतिज्ञा लेना, विनय के अनुसार वर्षावास के लिये निमंत्रण स्वीकार कराना होता है। इस प्रकार तथागत का जाना द्वितीय वर्षावास के बाद (५२६-५२५ ई० पू०) हो सकता है।

अब यहाँ दो बातों पर ही हमें विशेष विचार करना है—(१) विनय के अनुसार कपिलवस्तु से श्रावस्ती जाना और वहाँ जेतवन में ठहरना। (२) जा० अ० कथा के अनुसार कपिलवस्तु से राजगृह लौट आना, और संभवत: वर्षावास के बाद दूसरे वर्ष जेतवन में विहार तैयार हो जाने पर वहाँ जाना। यद्यपि विनय ग्रंथ की प्रामाणिकता अट्ठकथा से अधिक है, तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि कपिलवस्तु के जाने से पहले अनाथपिंडिक का तथागत से मिलना नहीं आता; इसी लिये कपिलवस्तु से श्रावस्ती जाकर जेतवन में ठहरना बिल्कुल ही संभव नहीं मालूम पड़ता। इसके विरुद्ध जातक का वर्णन सीतवन के दर्शन के (द्वितीय वर्षा० के) बाद जाना अधिक युक्तियुक्त मालूम होता है। विनय ने स्पष्ट कहा है कि अनाथपिंडिक ने वर्षावास के लिये निमंत्रण दिया, और इसी लिये तीन मास के निवास के लिये जेतवन के झटपट बनवाने की भी अधिक जरूरत पड़ी; इस प्रकार तथागत जेतवन गए और साथ ही वहीं उन्होंने वर्षावास भी किया—यह अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। यद्यपि वर्षावासों की सूची में तीसरा वर्षावास राजगृह में लिखा है, तो भी जेतवन बोधि के दूसरे और तीसरे वर्ष के बीच (५२६-५२५ ई० पू०) में बना जान पड़ता है।

पृ० २६५ के अट्ठकथा के उद्धरण से मालूम होता है कि तीर्थिकों ने जेतवन के पास तीर्थिकाराम प्रथम बोधि अर्थात् बोधि के बाद प्रथम पंद्रह वर्षों (५२७-५१३ ई० पू०) में बनाना आरंभ किया था। इससे निश्चित ही है कि उस (५१३ ई० पू०) से पूर्व जेतवन बन चुका होगा।

पृष्ठ २९४-९६ में दी गई वर्षावास की सूची के अनुसार प्रथम वर्षावास श्रावस्ती में बोधि से चौदहवें साल (५१४ ई० पू०) में किया। चूँकि अनाथपिंडिक का निमंत्रण वर्षावास का था, इसलिये यह भी जेतवन के बनने का साल हो सकता है।

सातवाँ वर्षावास त्रयस्त्रिंश-लोक में बतलाया जाता है। उस वर्ष आषाढ़ पूर्णिमा (बुद्धचर्या पृष्ठ ८५) के दिन तथागत श्रावस्ती जेतवन में थे। इस प्रकार इस समय (५२१ ई० पू०) जेतवन बन चुका था।

सारांश यह कि जेतवन के बनने के सात समय हमें मिलते हैं—

(१) सोलहवें वर्ष (५१२ ई० पू०) से पूर्व (अट्ठकथा) पृ० २९९।

(२) पंद्रहवें " (५१३ ई० पू०) से पूर्व (अट्ठकथा) पृ० २९४।

(३) दसवें " (५१८ ई० पू०) से पूर्व (विनय सूत्र) पृष्ठ २९६।

(४) " " " (सूत्र) पृ० २९८।

(५) सातवाँ (५२१ ई० पू०) से पूर्व (अट्ठकथा) पृ० २९९।

(६) द्वितीय (५२० ई० पू०) (विनय) पृ० २९९।

(७) तृतीय (५२५ ई० पू०) (अट्ठकथा) पृ० ३००।

इनमें पहले पाँच से हमें यही मालूम होता है कि उक्त समय से पूर्व किसी समय जेतवन तैयार हुआ, इसलिये उनका किसी से विरोध नहीं है।

पूर्वाराम

जेतवन के बाद बौद्धधर्म की दृष्टि में दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान पूर्वाराम था। पहले हम पूर्वाराम की स्थिति के बारे में संक्षेप से विचार कर चुके हैं। पूर्वाराम और पूर्वद्वार के संबंध में संयुत्त-निकाय[1] के और उदान[2] के इस उद्धरण से कुछ प्रकाश पड़ता है।

---

(१) ३:२:१, पृ० २४; अ० क० २१६।

(२) ६:२।

भगवान्...पूर्वाराम में...सायंकाल ध्यान से उठकर बाहरी द्वार के कोठे के बाहर बैठे थे।...(उस समय) राजा प्रसेनजित् भगवान् के पास पहुँचा।...उस समय सात जटिल, सात निगंठ, सात अचेलक, सात एकसाटक और सात परिव्राजक, नख, लोम बढ़ाए अनेक प्रकार की खारिया लेकर भगवान् के अविदूर से जाते थे। तब राजा...आसन से उठकर, उत्तरासंग को एक कंधे पर कर, दहिने घुटने को भूमि पर रख, उन सातों...की ओर अंजलि जोड़ तीन बार नाम सुनाने लगा—भंते! मैं राजा प्रसेनजित् कोसल हूँ...।

इस पर अट्ठकथा—"बाहरी द्वार का कोठा—प्रासाद—द्वार-कोट्ठक के बाहर, विहार के द्वारकोट्ठक से बाहर का नहीं। वह प्रासाद **लौहप्रासाद** की भाँति चारों ओर चार द्वारकोट्ठकों से युक्त, प्राकार से घिरा था। उनमें से पूर्व द्वारकोट्ठक के बाहर प्रासाद की छाया में पूर्व दिशा की ओर मुँह करके...बैठे थे। अविदूर से, अर्थात् अविदूर मार्ग से नगर (=श्रावस्ती) में प्रवेश करते थे।"

इससे हमे निम्न-लिखित बातें मालूम होती हैं—

(१) पूर्वाराम के प्रासाद के चारों ओर चार फाटकोंवाली चहारदीवारी थी।

(२) अनुराधपुर का लौहप्रासाद और पूर्वाराम का प्रासाद कई अंशों में समान थे। सभवतः पूर्वाराम के नमूने पर ही लौह-प्रासाद बना था।

(३) इसके चारों तरफ चार दर्वाजे थे।

(४) सायंकाल को पश्चिम द्वार के बाहर बैठकर (जाड़े में) प्रायः तथागत धूप लिया करते थे।

(५) जहाँ राजा प्रसेनजित् तथा दूसरे संभ्रांत व्यक्ति भी उप-स्थित होते थे।

(६) उसके पास ही से मार्ग था।

(७) इस स्थान से नगर का पूर्वद्वार बहुत दूर न था, क्योंकि जटिलों के लिये 'नगर को जाते थे' न कहकर 'नगर में प्रवेश करते थे' कहा है।

(८) संभवतः पूर्वाराम[1] की तरफ की ओर भी, जटिल, निगंठ (= जैन), अचेलक, एकसाटक और परिव्राजक साधुओं के विहार थे, जहाँ से वे नगर में जा रहे थे।

पृष्ठ २८२ में हम बतला चुके हैं कि किस प्रकार विशाखा का 'महालता आभूषण' एक दिन जेतवन में छूट गया था-। विशाखा ने तथागत से कहा—"भंते[2]! आर्य आनंद ने मेरे आभूषण को हाथ लगाया...। उसको देकर, (उसके मूल्य से) चारों प्रत्ययों में कौन प्रत्यय ले आऊँ? विशाखा! पूर्व द्वार पर, संघ के लिये वासस्थान बनाना चाहिए। अच्छा भंते! यह कहकर तुष्ट-मानसा विशाखा ने नव करोड़ में भूमि ही खरीदी। अन्य नव करोड़ से विहार बनाना प्रारंभ किया।...एक दिन अनाथपिंडिक के घर भोजन करके शास्ता उत्तर द्वार की ओर हुए।...उत्तर द्वार जाते हुए देख चारिका को जाएँगे...यह सुन...विशाखा ने जाकर... कहा—भंते! कृताकृत जाननेवाले एक भिक्षु को लौटाकर (= देकर) जाएँ। वैसे (भिक्षु) का पात्र ग्रहण करो।...विशाखा ने ऋद्धि-मान् समझ महामोग्गल्लान का पात्र पकड़ा।...उनके अनुभाव से पचास-साठ योजन पर वृक्ष और पाषाण के लिये आदमी गए। बड़े बड़े पाषाणों और वृक्षों को लेकर उसी दिन लौट आते थे।... जल्दी ही दो-महला प्रासाद बना दिया गया, निचले तल पर पाँच सौ गर्भ (= कोठरियाँ) और ऊपर की भूमि (=तल) पर पाँच सौ गर्भ,

---

(१) वर्तमान हनुमनवाँ।

(२) ध० प०, ४:८; अ० क०, १११, ३८-३९।

(कुल) एक हजार गर्भों से सुशोभित...था। शास्ता नौ मास चारिका चलके फिर श्रावस्ती आए। विशाखा के प्रासाद में भी काम नौ मास में समाप्त हुआ। प्रासाद के कूट को ठोस साठ जलघड़े के बराबर लाल सुवर्ण से बनवाया। शास्ता जेतवन को जा रहे हैं, यह सुन (विशाखा ने) आगे जा, शास्ता को अपने विहार में लाकर...। उसकी एक सहायिका हजार मूल्यवाले एक वस्त्र को ले आकर—सहायिके! तेरे प्रासाद में मैं इस वस्त्र का फर्श बिछाना चाहती हूँ; बिछाने का स्थान मुझे बतलाओ। वह उससे कम मूल्यवाले वस्त्र को न देख रोती हुई खड़ी थी। तब आनंद स्थविर ने कहा—सोपान और पैर धोने के स्थान के बीच में पाद-पुंछन करके बिछा दो।...विहार की भूमि को खरीदने में नौ करोड़, विहार बनवाने में नौ, और विहार के उत्सव में नौ, इस प्रकार सब सत्ताईस करोड़ उसने बुद्ध-शासन में दान दिया। स्त्री होते, मिथ्या-दृष्टि के घर में बसती हुई का इस प्रकार का त्याग (और) नहीं है।"

इससे मालूम होता है—

(९) पूर्वाराम ९ मास में बना था।

(१०) मोग्गल्लान बनाने में तत्त्वावधायक थे।

(११) मकान बनवाने में खर्च कुल २७ करोड़।

(१२) यह दो-महला था। प्रत्येक तल में ५०० गर्भ थे।

विनय में है—

"विशाखा[1] ...संघ के लिये आलिंद (= बरामदा)-सहित, हस्तिनख प्रासाद बनवाना चाहती थी।"

इससे—

(१३) वह बरामदा सहित था।

(१४) वह हस्तिनख प्रासाद था।

---

(1) चुल्लवग्ग, सेनासनक्खंधक ६, पृ० २६६।

संयुत्तनिकाय में—

"भगवान्[1] ...पूर्वाराम में...सायंकाल को...पीछे की ओर धूप में पीठ तपाते बैठे हुए थे। आयुष्मान् आनंद भगवान् के पास गए।...और हाथ से भगवान् के शरीर को रगड़ते हुए उनसे बोले—आश्चर्य है भंते! अब भगवान्...का छवि-वर्ण उतना परिशुद्ध नहीं रहा। गात्र शिथिल है, सब झुर्रियाँ पड़ गई हैं, शरीर सामने झुका हुआ है। चक्षु...(आदि) इंद्रियों में भी विपरीतता दिखलाई पड़ती है।"

इस पर अट्ठकथा में है—"प्रासाद पूर्व ओर छाया से ढँका था, इसी लिये प्रासाद के पश्चिम-दिशाभाग में धूप थी। उस स्थान पर... बैठे थे।...यह हिम पड़ने का शीत समय था, उस वक्त महाचीवर को उतारकर सूर्यकिरणों से पीठ को तपाते हुए बैठे थे।"

इनसे ये बातें और मालूम होती हैं—

(१५) उस समय तथागत के शरीर में झुर्रियाँ पड़ गई थीं, आँखों आदि की रोशनी में अंतर आ गया था।

(१६) प्रधान द्वार पूर्व ओर था, तभी 'पीछे की ओर' कहा गया है। संयुत्तनिकाय ही में है—

"मोग्गलान[2] ने...पैर के अँगूठे से मिगारमाता के प्रासाद को हिलाया।...उन भिक्षुओं ने (कहा)...यह मिगारमाता का प्रासाद गंभीरनेम, सुनिखात, अचल, असंपकपि है...।"

अट्ठकथा में गंभीरनेम का अर्थ 'गंभीर भूमिभाग में प्रतिष्ठित' किया है। और 'सुनिखात' का, कूटकर अच्छा तरह स्थापित।"

इनसे—

(१७) पूर्वाराम ऊँची और दृढ़ मि में बनाया गया था।

---

(१) सं० नि०, २:६:२६, पृष्ठ ४७।

(२) ५०:२:४।

(१८) "कूटकर गाड़ा गया था" से खंभों को गाड़कर, लकड़ियों का बना मालूम होता है।

मज्झिमनिकाय में—

"हे गौतम, जिस[1] प्रकार इस मिगारमाता के प्रासाद में अंतिम सोपान कलेवर तक अनुपूर्व क्रिया देखी जाती है...।"

अट्ठकथा में—

"प्रथम सोपानफलक[2] तक, एक ही दिन में सात महल का प्रासाद नहीं बनाया जा सकता। वस्तु शोधन कर खंभ खड़ा करने से लेकर चित्रकर्म करने तक अनुपूर्व क्रिया।"

इससे भी—

(१९) वह प्रासाद सात महल का था, जो (१२) से बिल्कुल विरुद्ध है, और इसको बतलाता है कि किस प्रकार बातों की अतिशयोक्ति होती है।

(२०) मकान बनाने में पहले भूमि को बराबर किया जाता था, फिर खंभे गाड़े जाते थे,...अंत में चित्रकर्म होता था।

मज्झिमनिकाय में ही—

"जिस[3] प्रकार आनंद ! यह मिगारमाता का प्रासाद हाथी, गाय, घोड़ा-घोड़ों से शून्य है, सोना चाँदी से शून्य है; स्त्री-पुरुष-सन्निपात से शून्य है"। इसकी अट्ठकथा में लिखा है—

"वहाँ काष्ठ-रूप[4], पुस्त-रूप, चित्र-रूप में बने हाथी आदि हैं। वैश्रवण मांधाता आदि के स्थित स्थान पर चित्रकर्म भी किए गए हैं। रत्न-परिसेवित जंगले, द्वारबंध, मंच, पीठ आदि रूप से स्थित,

---

(१) म० नि०, ३:१:७, गणक-मोग्गल्लानसुत्त, १०७।
(२) अ० क०, ८२१।
(३) म० नि०, ३:२:७, चूल सुञ्ञतासुत्त, ११९।
(४) अ० क०।

तथा जीर्ण प्रतिसंस्करणार्थ रखा हुआ सोना चाँदी है। काष्ठरूपादि के रूप में, तथा प्रश्न पूछने आदि के लिये आनेवाले स्त्री-पुरुष हैं। इसलिये वह (मिगारमातु पासाद) उनसे शून्य है, का अर्थ है— इंद्रिययुक्त जीवित हाथी आदि का, तथा इच्छानुसार उपभोग-योग्य सोने चाँदी का, नियमपूर्वक बसनेवाले स्त्री-पुरुषों का अभाव"।

इससे—

(२१ वह सोने चाँदी से शून्य था। अट्ठकथा की इस पर की लीपापोती सिर्फ यही बतलाती है कि कैसे पीछे भिक्षु वर्ग चमक-दमक के पीछे पड़कर, वाचाल किया करता था।

दीघनिकाय की अट्ठकथा में—

"(विशाखा)[1] दशबल की प्रधान उपस्थायिका ने उस आभूषण को देकर नव करोड़ से... करीस भर भूमि पर प्रासाद बनवाया। उसके ऊपरी भाग में ५०० गर्भ, निचले भाग में ५०० गर्भ, १००० गर्भों से सुशोभित। वह प्रासाद खाली नहीं शोभा देता था, इसलिये उसको घेरकर, साढ़े पाँच सौ घर, ५०० छोटे प्रासाद और ५०० दीर्घशालाएँ बनवाईं...। अनाथपिंडिक ने... श्रावस्ती के दक्षिण भाग में अनुराधपुर के महाविहार-सदृश स्थान पर जेतवन महाविहार को बनवाया। विशाखा ने श्रावस्ती के पूर्व भाग में उत्तमदेवी विहार के समान स्थान पर पूर्वाराम को बनवाया। भगवान् ने इन दो विहारों में नियमित रूप से निवास किया। (वह) एक वर्षा० को जेतवन में व्यतीत करते थे, एक पूर्वाराम में।"

(२२) विहार एक करीस अर्थात् प्रायः ३ एकड़ भूमि में बना था।

(२३) चारों ओर और हजारों घरों, छोटे प्रासादों, दीर्घशालाओं का लिखना अट्ठकथाकारों का अपना काम मालूम होता है।

---

(१) दी० नि०, आनअसुत्त २०, म० क० पृ० १४। अ० नि० अ० क० १:७:२ भी।

(२४) अनुराधपुर में भी जेतवन और पूर्वाराम का अनुकरण किया गया था। पूर्वाराम श्रावस्ती के उसी प्रकार पूर्व तरफ था, जैसे अनुराधपुर (सीलोन) में उत्तरदेवी विहार।

जिस प्रकार सुदत्त सेठ का नाम अनाथपिंडिक प्रसिद्ध है; उसी प्रकार विशाखा मिगारमाता के नाम से प्रसिद्ध है। नाम से, मिगार विशाखा का पुत्र मालूम होगा, किंतु बात ऐसी नहीं है, मिगार सेठ विशाखा का ससुर था। इस नाम के पड़ने की कथा इस प्रकार है—

विशाखा[1]...अंग राष्ट्र (भागलपुर, मुँगेर जिले) के भद्दिय (=मुँगेर) नगर में मेंडक सेठ के पुत्र धनंजय सेठ की अग्रमहिषी सुमना देवी के कोख से पैदा हुई...। बिंबिसार राजा के आज्ञा-प्रवर्तित स्थान (अंग-मगध) में पाँच अतिभोग व्यक्ति जोतिय, जटिल, मेंडक, पुण्णक और काकवलिय थे...। श्रावस्ती में कोसल राजा ने बिंबिसार के पास संदेश भेजा...हमको एक महाधनी कुल भेजो।...राजा ने...धनंजय को...भेजा। तब कोसल राजा ने श्रावस्ती से सात योजन के ऊपर साकेत (अयोध्या) नगर में श्रेष्ठी का पद देकर (उसे) बसा दिया। श्रावस्ती में मिगारसेठी का पुत्र पूर्णवर्द्धनकुमार वयः-प्राप्त था।...मिगार सेठ (बारात के साथ) कोसल राजा को लेकर गया।...चार मास (उन्होंने वहाँ) पूरा किया।...(धनंजय सेठ ने विशाखा को) उपदेश देकर दूसरे दिन सभी श्रेणियों को इकट्ठा करके राजसेना के बीच में आठ कुटुंबियों को जामिन देकर—'यदि गए हुए स्थान पर मेरी कन्या का कोई दोष उत्पन्न हो, तो तुम उसे शोधन करना'—कहकर नौ करोड़ मूल्य के 'महालता' आभूषण से कन्या को आभूषित कर, स्नान चूर्ण के मूल्य में ५४ सौ गाड़ी धन दे...। मिगारसेठी ने...सातवें दिन...नंगे श्रमणों को बैठाकर, (कहा)—मेरी बेटी आवे, अर्हतों की वंदना करे ...। वह...उन्हें

(१) अ० नि०, १:७:२, अ० क० २१६।

देख...'धिक्, धिक्' निंदा करती चली गई।...नंगे श्रमणों ने सेठ की निंदा की—...क्यों गृहपति! दूसरी नहीं मिली? श्रमण गौतम की श्राविका (शिष्या) महाकालकर्णी को किसलिये इस घर में प्रवेश कराया।...(सेठ) आचार्यो! बच्ची है...आप चुप रहें—यह कह नंगों को विदा कर, आसन बैठ सोने की कर्छुल लेकर विशाखा द्वारा परोसे (खाद्य को) भोजन करता था।...उसी समय एक मधूकरी-वाला भिक्षु घर के द्वार पर पहुँचा...। वह...स्थविर को देख-कर भी...नीचे मुँह कर पायस को खाता ही रहा। विशाखा ने... स्थविर को (कहा)—माफ करें भंते! मेरा ससुर पुराना खाता है। वस (सेठ) ने अपने आदमियों से कहा...इस पायस को हटाओ, इसे (=विशाखा को) भी इस घर से निकालो। यह मुझे ऐसे मंगल घर में अशुचि-खादक बना रही है...। विशाखा ने...कहा—तात! इतने वचन मात्र से मैं नहीं निकलती। मैं कुंभदासी की भाँति पनघट से तुम्हारे द्वारा नहीं लाई गई हूँ। जीते मा बाप की लड़-कियाँ इतने मात्र से नहीं निकला करतीं,...आठों कुटुंबिकों को बुलाकर मेरे दोषादोष की शोध कराओ।.. सेठ ने आठ कुटुंबिकों को बुलाकर कहा—यह लड़की सप्ताह भी न परिपूर्ण होते, मंगल घर में बैठे हुए मुझे अशुचि-खादक बतलाती है।...ऐसा है अम्म?—तात! मेरा ससुर अशुचि खाने की इच्छावाला होगा, मैंने ऐसा करके नहीं कहा; एक पिंडपातिक स्थविर के घर-द्वार पर स्थित होने पर, यह निर्जल पायस भोजन करते हुए, उसका ख्याल (मन में) नहीं करते थे। मैंने इसी कारण से—'माफ करो भंते! मेरा ससुर इस शरीर से पुण्य नहीं करता, पुराने पुण्य को खाता है',...कहा—आर्य, दोष नहीं है, हमारी बेटी तो कारण कहती है, तुम क्यों क्रुद्ध होते हो।... (फिर कुछ और इलजामों के जाँच करने पर)—वह और उत्तर न दे, अधोमुख हो बैठ गया। फिर कुटुंबिकों ने उससे पूछा—

क्यों सेठ, और भी दोष हमारी बेटी का है ?—नहीं आर्यो !—क्यों फिर निर्दोष को अकारण घर से निकलवाते हो ? उस समय विशाखा ने कहा—पहले मेरे ससुर के वचन से मेरा जाना ठीक न था। मेरे आने के दिन मेरे पिता ने दोष शोधन के लिये तुम्हारे हाथ में रखकर (मुझे) दिया था। अब मेरा जाना ठीक है। यह कह, दासी दासों को यान तैयार करने के लिये आज्ञा दी। तब सेठ ने उन कुटुंबिकों को लेकर कहा—अम्म ! अनजाने मेरे कहने को क्षमा कर।—तात, तुम्हारे चैतन्य को क्षमा करती हूँ; किंतु मैं बुद्धशासन में अनुरक्त कुल की बेटी हूँ; हम बिना भिक्षुसंघ के नहीं रह सकतीं। यदि अपनी रुचि के अनुसार भिक्षु-संघ की सेवा करने पाऊँगी, तो रहूँगी।—अम्म ! तू अपनी रुचि के अनुसार अपने श्रमणों की सेवा कर।

तब विशाखा ने निमंत्रित कर दूसरे दिन...बुद्धप्रमुख भिक्षुसंघ को बैठाया।...मेरा ससुर आकर दशबल को परोसे (यह खबर भेजी)।...(मिगारसेठ ने बहाना कर दिया)...। आकर दशबल की धर्मकथा को सुने...। मिगारसेठ जाकर कनात से बाहर ही बैठा।...देशना के अंत में सेठ ने **स्रोतापत्ति-फल** में प्रतिष्ठित हो कनात को हटा...पंचांग से वंदना कर, शास्ता के सामने ही—'अम्म ! तू आज से मेरी माता है'—यह कह विशाखा को अपनी माता के स्थान पर प्रतिष्ठित किया। तभी से विशाखा 'मिगार-माता' प्रसिद्ध हुई।"

तीर्थिकाराम

समयप्पवादक-परिव्राजकाराम—पृष्ठ ३०३ में ५ प्रकार के अन्य तीर्थिक—जटिल, निर्ग्रंथ आदि बतलाए हैं। अचेलक[1] एकदम नंगे रहते थे। अट्ठकथा में—एक दिन भिक्षुओं ने निर्ग्रंथों को देखकर कथा

---

(१) ध० प० २२:८, ध० क० ४७८।

उठाई—आवुसो! सब तरह बिना ढँके हुए अचेलकों से यह निर्ग्रंथ (=जैन) श्रेष्ठतर हैं, जो एक अगला भाग भी तो ढाँकते हैं, मालूम होता है ये सलज्ज हैं। यह सुन निर्ग्रंथों ने कहा—इस कारण से नहीं ढाँकते हैं, पांशु धूलि भी तो पुद्गल (=जीव) ही है। प्राणी हमारे भिक्षा-भाजन में न पड़ें, इस वजह से ढाँकते हैं।" एक-शाटक और परिव्राजकों का जिक्र कर चुके हैं। इन सभी मतों के साधुओं के आराम श्रावस्ती के बाहर फैले हुए थे। ये अधिकतर श्रावस्ती के दक्षिण और पूर्व तरफ में रहे होंगे, जिधर कि पूर्वाराम और जेतवन थे। चिंचा और सुंदरी के वर्णन से भी पता लगता है कि जेतवन की ओर तीर्थिकों के भी स्थान थे। इनमें **समयप्प-वादक तिंदुकाचीर एकसालक** मल्लिका का आराम बहुत ही बड़ा था। हमने इसको **चीरेनाथ** के मंदिर की जगह पर निश्चित करने के लिये कहा है। दीघनिकाय में कहा है—"पोट्ठपाद[1] परिव्राजक समयप्पवादक . मल्लिका के आराम में तीस सौ परिव्राजकों की बड़ी परिषद् के साथ निवास करता था।" अ० क० में—उस स्थान पर चंकि, तारुक्ख, पोक्खरसाति, "आदि ब्राह्मण, निर्ग्रंथ, अचेलक, परिव्राजक आदि प्रव्रजित एकत्र हो अपने अपने समय (=सिद्धान्त) को व्याख्यान करते थे; इसी लिये वह आराम समयप्पवादक (कहा जाता था)...।" (पृष्ठ २३८)

मज्झिम-निकाय में—

समणमंडिकापुत्त उग्गाहमाण ... राजक समयप्पवादक...... मल्लिका के आराम में सात सौ परिव्राजकों की बड़ी ... परिषद् के साथ वास करता था। उस समय पंचकंग स्थपति दोपहर को श्रावस्ती से भगवान् के दर्शन के लिये निकला। तब पंचकंग स्थपति को

(१) दी० नि०, ६।

ख्याल हुआ—भगवान् के दर्शन का यह समय नहीं है, भगवान् इस समय ध्यान में हैं।...क्यों न...मल्लिका के आराम में चलूँ।"

ये दोनों उद्धरण दीघनिकाय और मज्झिमनिकाय के हैं, जो कि त्रिपिटक के अत्यंत पुराने भाग हैं[1]। इनसे हमें ये बातें और स्पष्ट मालूम होती हैं—

(१) यह एक बड़ा आराम था, जिसमें ७०० या तीन हजार परिव्राजक निवास कर सकते थे।

(२) नगर से जेतवन जानेवाले द्वार (=दक्षिण द्वार) के बाहर था।

(३) यहाँ बैठकर ब्राह्मण और साधु लोग नाना प्रकार की दार्शनिक चर्चाएँ किया करते थे।

(४) बुद्ध तथा उनके गृहस्थ और विरक्त शिष्य यहाँ जाया करते थे।

जेतवन के पीछे आजीवकों की भी कोई जगह थी। क्योंकि जातकट्ठकथा में आता है—

"तब[2] **आजीवक** जेतवन के पीछे नाना प्रकार का मिथ्या तप करते थे। उक्कुटिक प्रधान, वग्गुलिव्रत, कंटकाप्रश्रय, पंचताप-तपन आदि।"

परिव्राजकाराम का बनना रुक जाने से, जेतवन के बहुत समीप और कोई किसी ऐसे आराम का होना संभव नहीं मालूम होता। शायद जेतवन के पीछे की ओर खुली ही जगह में वे तपस्या करते रहे होंगे।

सुतनु-तीर[3]—संयुत्तनिकाय से पता लगता है, सुतनुतीर पर भी भिक्षुओं का कोई विहार था। 'तीर' शब्द से तो पता लगता

(१) "आयुष्मान् सारिपुत्र...(जेतवन से) श्रावस्ती में पिंड के लिये चले।...बहुत सवेरा है......(इसलिये) जहाँ अन्य तीर्थिकों, परिव्राजकों का आराम था वहाँ गए।"

—अं० नि० ७:८:११, ९:२:८, १०:३:७।

(२) जातकट्ठकथा १:१४:१।

(३) "एक समय आयुष्मान् अनुरुद्ध श्रावस्ती में सुतनु के तीर विहार करते थे।"—सं० नि०, ५१:१:२।

है, यह कोई जलाशय (=छोटी नदी, या बड़ा तालाब) होगा। संभवतः वर्तमान ओड़ाझार, खड्डाझार सुवनुवीर को सूचित करते हैं। ऐसा होने पर वर्तमान खजुहा ताल प्राचीन सुवनु है।

अंधवन—श्रावस्ती के पास एक और प्रसिद्ध स्थान अंधवन था। संयुत्तनिकायट्ठकथा में—

"काश्यप[1] सम्यक्-संबुद्ध के चैत्य में मरम्मत के लिये धन एकत्र कराकर आते हुए यशोधर नामक धर्मभाणक आर्यपुद्गल की आँखें निकालकर, वहाँ (स्वयं) अंधे हुए पाँच सौ चोरों के बसने से...अंधवन नाम पड़ा। यह श्रावस्ती से दक्षिण तरफ गव्यूति भर दूर राजरक्षा से रक्षित (वन) था...। वहाँ एकांतप्रिय (भिक्षु)... जाया करते थे।"

फाहियान ने इस पर लिखा है—

"विहार[2] से चार 'ली' दूर उत्तर-पश्चिम तरफ एक कुंज है।... पहले ५०० अन्ध भिक्षु इस वन में वास करते थे, एक दिन इनके मंगल के लिये बुद्धदेव ने धर्मव्याख्या की, उसी समय उन्होंने दृष्टि-शक्ति पाली। प्रसन्न हो उन्होंने अपनी अपनी लकड़ियों को मिट्टी में दबाकर प्रणाम किया। उसी दम वे लकड़ियाँ वृक्ष के रूप में, और शीघ्र ही वन रूप में परिणत हो गईं।......इस प्रकार इसका यह नाम (अंधवन) पड़ा। जेतवनवासी अनेक भिक्षु मध्याह्न भोजन करके (इस) वन में जाकर ध्यानावस्थ होते हैं।"

इससे मालूम होता है—

(१) काश्यप बुद्ध के स्तूप से श्रावस्ती की ओर लौटते समय यह स्थान रास्ते में पड़ता था।

(२) श्रावस्ती से दक्षिण एक गव्यूति या प्रायः २ मील था।

---

(१) सं० नि०, २१:१०, अ० क०, ११४८।
(२) ch. XX.

(३) जेतवन से उत्तर-पश्चिम ४ 'ली' (=१ मील से कम) था। दूरी और दिशाएँ इन पुरानी लिखतों में शब्दशः नहीं ली जा सकतीं। इससे **पुरैना** का ध्वंस अंधवन मालूम होता है। यह **भीँटी** से श्रावस्ती के आने के रास्ते में भी है, जिसे कि सर जान मार्शल[1] ने काश्यप-स्तूप निश्चित किया है।

पांडुपुर—श्रावस्ती के पास पांडुपुर नामक गाँव था। धम्मपद-अट्ठकथा में "श्रावस्ती के अविदूर पांडुपुर नामक एक गाँव था। वहाँ एक केवट वास करता था"।

इस गाँव के बारे में इसके अतिरिक्त और कुछ मालूम नहीं है।

मैंने इन थोड़े से पृष्ठों में श्रावस्ती और उसके पास के बुद्धकालीन स्थानों पर विचार किया है। सुत्त, विनय और उसकी अट्ठकथाओं की सामग्री शायद ही कोई छूटी हो। यहाँ मुझे सिर्फ भौगोलिक दृष्टि से ही विचार करना था, यद्यपि कहीं कहीं और बातें भी आ गई हैं[2]।

---

(१) A. S. I. R. 1910-11, P. 4.

(२) जेतवन के नक़शों के लिये देखो Arch. Survey of India की १९०७–०८ और १९१०–११ की रिपोर्टें।

(१०) उड़िया ग्राम-साहित्य में राम-चरित्र

[लेखक—श्री देवेंद्र सत्यार्थी]

श्याम सुरभि-पय विसद अति गुनद करहिँ सब पान।
गिराग्राम्य सिय-राम-जस गावहिँ सुनहिँ सुजान ॥

—रामचरितमानस, बालकांड।

जिस प्रकार फल की उत्पत्ति से पहले फूल अपनी बहार दिखाता है उसी प्रकार बड़े बड़े प्रतिभाशाली साहित्य-सेवियों तथा कलाकारों के आने से पहले ग्रामीण भाट और कथकड़ गीत गाकर ग्राम-साहित्य की नींव डालते हैं। साहित्य के इस बाल्य-काल में घटना और कल्पना में सगी बहनों का सा संबंध रहता है। सुख-दुःख की कितनी ही समस्याएँ भोले-भाले ग्राम-वासियों को अपने साथ हँसा-कर या रुलाकर साहित्य-निर्माण के लिये सामग्री प्रदान करती हैं। माता के हृदय में वात्सल्य रस का जन्म होता है। शिशु दूध भी पीता जाता है और वात्सल्य रस से ओत-प्रोत मीठी मीठी लोरियाँ भी सुनता जाता है। ग्रामीण नर-नारी अपने आपको भूलकर गाते हैं और अपने दुखी जीवन को मधुर बना लेते हैं। राह-चलते बटोही गीत गा गाकर अपना पसीना सुखा डालते हैं। जीवन की विषमता तथा विकटता में भी उन्हें कविता-देवी के साकार दर्शन होते हैं। इस प्रकार 'साहित्य' सबके साझे की वस्तु बन जाता है। इस अवस्था में भाड़े के गायकों की कुछ आवश्यकता नहीं पड़ती।

लोरियाँ सुननेवाला शिशु रात के समय चूल्हे के पास बैठी हुई माँ से कहता है—'माँ, कहानी सुना।'. माँ कहानी आरंभ करती है—'एक राजा था।' अज्ञात राजा-रानी के नाम से कथा-साहित्य की सृष्टि होती है। थोड़ा आगे चलकर माँ कहती है—'उस राजा

के सात पुत्र थे।' काम तो एक ही राजपुत्र से चल सकता है परंतु माँ एक साथ सात पुत्रों की कल्पना करती है। सात भाइयों की एक-आध बहन भी होनी चाहिए, नहीं तो कहानी में रस का संचार नहीं हो सकता। आगे चलकर माँ कहती है—'उस राजा के एक छोटी सी कन्या भी थी।' इस प्रकार कथा आगे चलती रहती है। ज्यों ज्यों शिशु बड़ा होता जाता है, इस कथा के अनेक रूपांतर होते जाते हैं। कथा-साहित्य में कोरी कल्पना से ही काम नहीं चलता—कल्पना के साथ-साथ घटना भी अपना रंग दिखाती रहती है और इस प्रकार सात राजपुत्रों में से एक राजपुत्र कभी राम के रूप में और कभी युधिष्ठिर के रूप में कथा-साहित्य का नायक बनता रहता है।

राम का पुनीत चरित्र हर रंग में, हर रूप में, पूरे सोलह आने उतरा है। कदाचित् 'रामायण' की रचना के पूर्व ही राम-चरित्र देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक विख्यात हो गया था। राम केवल अयोध्या के ही नहीं, सारे देश के राम बन गए थे। माताएँ अपने शिशुओं में राम की भावना करने लगी थीं। राम घर घर के राम बन गए थे। उनकी न्यायप्रियता तथा शूरवीरता की कहानियाँ देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक प्रचलित हो गई थीं। इस प्रकार राम-चरित्र ग्राम-कथाओं का विषय बन गया था। ग्रामीण कवि उनका चरित्र-गान करके यश के भागी बनने लगे थे। विवाह-संगीतों में वर की कल्पना करती हुई रम-णियों के सामने राम की मूर्ति विराजमान रहती थी। इस प्रकार राम-चरित्र की सर्वप्रथम भूमिका निर्माण करने में ग्राम-साहित्य का सबसे बड़ा हाथ था।

'वाल्मीकि' तथा 'तुलसीदास' के राम वन में आकर भी किसी राजा से कम नहीं रहे। सीता-हरण से पहले के बारह वर्ष, हमारी

आँख बचाकर, झट से बीत जाते हैं। राम की छोटी छोटी बातें सुनने के लिये हमारा हृदय प्यासा ही रह जाता है। वहाँ हम यह नहीं जान पाते कि राम दिन में कितनी बार हँसते थे; कितनी बार वे मनोविनोद की बातें करते थे। इन बातों का पता लगाने के लिये हम उत्कंठित हो उठते हैं। राम क्या खाते थे? वे केवल फल पर ही निर्वाह करते थे या आटे की बनी हुई रोटी भी खाते थे? उन्हें आटा कैसे और कहाँ से प्राप्त होता था? क्या वे खेती-बारी भी करने लग गए थे? वे गाय का दूध पीते थे या भैंस का? यदि भैंस का तो उनकी भैंस किस रंग की थी और यदि गौ का तो क्या उनकी गौ कपिला गाय थी? वे मिट्टी के पात्रों में दूध पीते थे या सोने-चाँदी की कटोरियों में? इन सब प्रश्नों के उत्तर पाने के लिये हम बेचैन हो उठते हैं। हम बार बार रामायण का पाठ करते हैं किंतु राम को भली भाँति देख नहीं पाते। कवि उनकी मोटी मोटी बातें (Outlines) बतलाकर ही हमें अपने साथ दौड़ाकर ले जाना चाहता है। हम धीरे धीरे चलना चाहते हैं और राम का पूरा पूरा दर्शन करना चाहते हैं।

उड़ीसा प्रांत के ग्राम-साहित्य में राम-चरित्र की वे सब छोटी छोटी बातें, जिन्हें सुनने के लिये हम इतने व्याकुल हैं, कल्पना की कूची द्वारा खींची गई हैं। यहाँ के राम कृषक हैं। कृषि-प्रधान देश के राम का यह कृषक-रूप देखकर हमारा हृदय तरंगित हो उठता है। हल चलाते हुए कृषक लोग जो गीत गाते हैं, उन्हें उड़ीसा में 'हलिया-गीत' कहते हैं। इन गीतों में प्राय राम-चरित्र गाया जाता है। झूला झूलती हुई कन्याएँ 'दोली-गीत' गाती हैं। उनमें भी राम-चरित्र की थोड़ा-बहुत झलक मिलती है। यहाँ के राम अमीर भी हैं और गरीब भी। अमीर इतने कि उनके घर में सोने के दीपक हैं

जिनमें घी या चंदन के तेल का उपयोग किया जाता है, और गरीब इतने कि वे सीताजी को नए वस्त्र तक नहीं पहना सकते।

इन गीतों को गाते हुए ग्रामवासी अपना दु:ख-दर्द भूल जाते हैं। राम के महान् दु:ख के सामने उन्हें अपना दु:ख बहुत कम प्रतीत होता है। जब राम भी इतने गरीब हो सकते हैं कि सीताजी को नया कपड़ा न दे सकें तब साधारण व्यक्ति की तो बात ही क्या रही।

उड़िया ग्राम-साहित्य का राम-चरित्र उतना ही मौलिक है जितना गन्ने का रस, न कम न अधिक। वह उतना ही प्राकृतिक है जितना जंगल का फूल। उसका सौंदर्य अनोखा तथा निराला है। यदि सब के सब भौंरे वाटिकाओं के पुष्पों पर मोहित हो गए हैं तो एक दिन वे इस फूल का पता पाकर इधर भी आ जायँगे।

हमारे कई एक मित्रों के विचार में उड़िया ग्राम-साहित्य का राम-चरित्र ग्राम-वासियों का अपना चरित्र है जिसे उन्होंने राम का नाम देकर गाया है।

उड़िया ग्राम-साहित्य के राम अपने घर का काम-काज अपने हाथों से करते हैं। राम हल चलाते हैं, लक्ष्मणजी जुताई करते हैं और सीताजी बीज बोती हैं। वे कपिला गाय का दूध पीते हैं जो चंदन की अग्नि पर गरम किया जाता है। उनके घर में सोने की कटोरियाँ हैं। कभी कभी उन्हें हल चलाते चलाते घर पहुँचने में देर हो जाती है। सीताजी व्याकुल हो उठती हैं और लक्ष्मण से कहती हैं—'जाओ, राम को बुला लाओ।' लक्ष्मणजी कच्चे आम लाते हैं। सीताजी चटनी पोसती हैं। सब चटनी राम ही खा जाते हैं। लक्ष्मण को थोड़ी सी चटनी भी नहीं मिलती। उनका जी छोटा न हो तो क्या हो? राम और लक्ष्मण दो कपिला गौएँ खरीदते हैं। राम की गाय का दूध सूख जाता है। लक्ष्मण की गाय बराबर दूध देती रहती है। उड़ीसा

में पान बहुत होता है। यहाँ के राम पान भी खाते हैं। दुःख की भी कुछ न पूछिए। एक बार सीताजी टूटे हुए बरतन में दूध दुहने बैठती हैं। सारा दूध नीचे बह जाता है। राम को मालूम होता है तो वे बहुत क्रोधित होते हैं। लक्ष्मण पेट भर भात भी नहीं खा पाते। राम नारियल तलाश करते करते थक जाते हैं। इस प्रकार राम-चरित्र, सरिता की भाँति, बहता चलता है। इसका बहाव जरा भी अप्राकृतिक नहीं है। यहाँ के राम किसी एक व्यक्ति के राम नहीं हैं, वे तो सारी जनता के राम हैं।

कई एक महानुभावों को राम का यह अनोखा चरित्र कदाचित् थोड़ा बहुत अखरेगा। वे कहेंगे—"इसमें इतिहास की साची नहीं। आज तक किसी भी कवि ने इसका समर्थन नहीं किया। न तो रामायण में और न किसी अन्य काव्य में ही राम का यह रूप देखने में आया।' ऐसे व्यक्तियों से हमारी प्रार्थना है कि वे केवल इतिहास की बात लेकर ही तर्क-वितर्क न करें। यदि वे ध्यानपूर्वक इसे काव्य-रस की कसौटी पर परखेंगे तो ग्राम-वासियों की प्रतिभा की प्रशंसा किए बिना न रहेंगे।

ग्रामीण कवियों ने अपने हाथों से रंग तैयार किया है और अपनी ही कूची से राम का चित्र खींचा है। उन्होंने न तो रंग उधार लिया है और न कूची ही। संभव है, उसमें कुछ भद्दापन रह गया हो। पर उसका अवलोकन किया जा सकता है।

नीचे कुछ उड़िया ग्राम-गीत दिए जाते हैं जिनसे राम-चरित्र पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।

आइए, राम के शैशव का हाल सुनिए—

> पिला टी दिनू राम धाईले नेंगल
> नव खंड पृथि होईछी टलमल्
> आकास कु घटिअछि जल्...हलिया हे...॥

—'बचपन में एक बार राम ने हल को हाथ लगा दिया। पृथिवी के नव खंड हिलने लग गए।

'हे कृषक ! उस समय आकाश में बादल घिर आए थे।'

देखिए, राम हल चला रहे हैं—

चालो चालो बलद, न कोर मालोनी
आऊरी घड़िए हेले पाईबो मेलानी
खाईबो कंचा घास जे...पीईबो ठंडा पानी हो...॥
बूढ़ा बलद कु जे हलिया मंगु नांई
राम बांधे हल लईखन देवे माई
आऊरी कि करिबे जे...सीताया देबे रोहं जे...॥

'—'चलो चलो, हे बैल ! देर न करो।

'जरा ठहरकर तुम्हें छुट्टी मिल जायगी। खाने को ताजा घास मिलेगा और पीने को ठंडा पानी।

'किसान बूढ़े बैलों को पसंद नहीं करता।

'राम हल चला रहे हैं। लच्मणजी जुताई करेंगे। सीताजी के लिये और क्या काम है ? वे बीज बो देंगी।'

धान कूटनेवाली मशीन का नाम उड़िया भाषा में ढेंकी है। ढेंकी पर काम करते हुए जो गीत गाए जाते हैं उन्हें 'ढेंकी-गीत' कहते हैं। नीचे एक ढेंकी-गीत दिया जाता है—

हीरा माणक्र धान ढेंकी-रे अच्छी पर्या
राम लईखन दुई हेले भीका टर्या।
किए गो पेलीबो से धान, कहो मोते कि न जे......॥
राम बोलंति हे...सुन-रे लइखन
पेलीबो धान तुम्मे कुटिवा मोर मन
एते कहि ढेंकी उपरे बसली भांगे पान
दि खेडि पानद खदिए लाईले राम तो से...

धान-कूटा-पेला चालीला केते रंगे रसे।
मदकी ऊठूछी वासना कि मीठा लागीवा से ॥

—'ढेंकी के पास हीरों और मणियों के सदृश धान का ढेर लगा हुआ है।

'राम और लक्ष्मण में वाद-विवाद हो रहा है कि कौन धान डाले और कौन कूटे।

'राम ने कहा—हे लक्ष्मण! तुम धान डालो, मैं कूटूँगा।

'यह कहकर राम ढेंकी पर बैठ गए और पान खाने लगे। दो में से एक पान राम ने खा लिया। धान कूटने का काम आनंद से चलता गया। चारों ओर खुशबू फैल गई।'

सीता के प्रति राम का क्रोध देखिए—

दौदरा माटिया हाते धरि करि
खीर दुहिवाकु सीताया गला। मो राम रे!
सबु खीर जाको तले बहि गला
सीताया ए कथा जाणी न पारीला। मो राम रे!
चौहढ़ीला राम हल् काम सरि
खीर मंदे-वेगे सीता कु मागीला। मो राम रे!
धाई धाई सीताया पाखकु थईला
घोईतांकु सबु कथा टी कहिला। मो राम रे!
रामंक श्राखीटी रंग होई गला
मन कि तोर लो बाइया हेला। मो राम रे!

—'टूटे हुए पात्र में सीता दूध दुहने गई।

'सारा का सारा दूध नीचे बह गया। पात्र टूटा हुआ है, यह बात उसे मालूम ही नहीं हुई।

'हल चलाकर राम घर आए और उन्होंने सीता से दूध माँगा।

'सीता दौड़कर आई और पति को सब बात सुना दी।

'राम की आँखें लाल हो गईं। वे कहने लगे—क्या तुम पागल हो गई हो ?'

घर में पत्नी से कोई न कोई छोटा-मोटा कसूर हो ही जाता है। पति की आँखें क्रोध से लाल हो जाती हैं। इस क्रोध में भी प्रेम का ही राज्य रहता है। ऐसे ही किसी अवसर की कल्पना राम के जीवन में की गई है।

राम का खेत से जरा देर करके आना सीताजी को बेचैन कर देता है। देखिए—

मेघुया आकासे बिजली खेलूछी
भंगा कुडिया-रे सीताया मालूछी। महाप्रभु से !
पास सरि राम बाहुड़ी गहन्ति
एतो बेलो जाए किसो करिछन्ति। महाप्रभु से !
आयो हे लछमन बेगे बिल कु
आणी वाकु रामं कु निज घर कु। महाप्रभु से !
पवन बहुछी मेघ गरजूछी
अन्दार कुडिया-रे सीताया बसूछी। महाप्रभु से !
आग-रे बलद पछ-रे लछमन
बेगे राम घर कु फेरी आसूछी। महाप्रभु से !

—'आकाश पर बादल छाए हैं और बिजली चमक रही है।

'टूटी-फूटी झोंपड़ी में सीता का मन उदास है। हल चला-कर राम अभी तक वापिस नहीं आए। इतनी देर तक क्या करते होंगे ?

'सीता कहती है—हे लछमण ! दौड़कर खेत को जाओ और राम को घर बुला लाओ।

'हवा चल रही है। बादल गरज रहे हैं।

'अँधेरी कोठरी में बैठी हुई सीता का मन उदास है।

'आगे बैल है, पीछे लक्ष्मणजी हैं। राम जल्दी जल्दी घर आ रहे हैं।'

'सीता का मन उदास है', इस वाक्य में कितनी करुणा भरी है। सीता ने अपनी कोठरी में दिया तक नहीं जलाया। वे अँधेरी कोठरी में बैठी हुई हैं। राम को घर लौटते देखकर उन्हें कितना आनंद हुआ होगा।

अब राम और सीता के प्रेम की व्याख्या सुनिए—

सीताया जेंयूथीरे गुयागुंडी राम सेईंथीरे पान-े।
सीताया जेयूँथीरे टोकई कुंढई राम सेईंथीरे धान-े॥

—'जहाँ सीता सुपारी है, वहाँ राम पान हैं। जहाँ सीता टोकरी है वहाँ राम धान हैं।'

राम हेला जल् सीता हेला लहुडी राम हेला मेघ सीता हेला घड़घड़ी।
राम हेला दही सीता हेला लहुणी राम हेला घर सीता हेला घरणी॥

—'राम जल हो गए और सीता जल-तरंग। राम बादल बन गए और सीता बिजली की गरज। राम दही बन गए और सीता मक्खन। राम घर बन गए और सीता घरवाली।' कितनी मीठी भावना है!

सीताजी कह रही हैं—

मुकता मुकता बोलंति मुकता केंऊठी मुकता के जाने?
जगत् समुका रघुमणि मुकुता ए परि मुकता के जाने।
जीवण बिकि मूं कीणीली मुकता ए परि विका किणां के जाने?

—'मोती मोती तो सब कोई कहता है परंतु मोती है कहाँ, इसे कौन जानता है?

'जगत् सीप है और रघुमणि (राम) मोती हैं। ऐसे मोती की किसे खबर है?

'मैंने अपना जीवन बेचकर यह मोती खरीदा है। ऐसी खरीद-फरोख्त और कौन कर सकता है?'

पत्नी को पति से जो प्रेम हो सकता है, उसकी यह पराकाष्ठा नहीं तो क्या है? ' सीताजी के मुख से राम के प्रति प्रेम का चित्रण करने में ग्रामीण कवि बहुत सफल हुआ है।

राम की गरीबी देखिए—

छिंडा लूगा पिंधी सीताया ठाकुराणी;
टोंदरा गिन्ना-रे भात खाई छंति रघुमणि। महाप्रभु से!

—'सीता ठाकुराणी फटे-पुराने वस्त्र पहने हुए हैं और राम टूटे हुए बर्तन में भात खा रहे हैं।'

सीताया भुरूछंति नुया लूगा पांई;
लछ्छन भुरूछंति पखाल भात पांई। महाप्रभु से!

—'सीता नए कपड़ों के लिये तरस रही हैं और लक्ष्मण पखाल भात के लिये तरस रहे हैं।'

सीताया भुरूछंति नाक-गुणा पांई;
राम बूलूछंति नड़िया थाखिवा पांई। महाप्रभु से!

—'सीताजी नाक-गुणा (नाक का आभूषण जिसे उड़िया स्त्रियाँ बड़े चाव से पहनती हैं) के लिये तरस रही हैं और राम नारियल लाने के लिये भटक रहे हैं।'

कांदी कांदी सीता खीर दुहुछंति;
मा घर कथा मते पकाऊछंति। महाप्रभु से!

—'सीताजी आँखों में आँसू भरकर दूध दुह रही हैं और अपनी माता के घर की याद कर रही हैं।'

देखिए, राम खजूर का रस पीने जा रहे हैं—

छिंडा लूगा पिंधी राम जाऊछंति,
खजूरी गच्छ र रस खाईबाकु। मो बाईधन!

—'फटे-पुराने वस्त्र पहने राम खजूर की ओर जा रहे हैं।'

दूरु देखी सीता धाईंला धाईं।
धरि पकाईंबा राम र हस्तकु ॥ मो धाईंधन ॥

—'दूर से देखकर सीताजी दौड़ती हुई आई और राम का हाथ पकड़ लिया।'

कि पाईं धाईंछो खजूरी गच्छ कु।
लइखन ईंहा देखी कि कहिबे तुम्भंकु ॥

—'सीताजी कहती हैं—खजूर के वृक्ष की तरफ क्यों जा रहे हो? लक्ष्मण देखेगा तो क्या कहेगा?'

उड़ीसा में खजूर के वृक्ष बहुत होते हैं। खजूर का रस शराब के रूप में पिया जाता है। प्राय: पुरुष ही इसका सेवन करते हैं, स्त्रियाँ नहीं। किसी पत्नी ने राम के नाम से अपने पति से नशा छोड़ने की प्रेरणा की है।

देखिए लक्ष्मणजी चटनी के कितने शौकीन हैं—

अंब कसी तोली लईखन आणीले
सीताया ठाकुराणी चटनी बाटीले
रघुमणि राम खाईछंति हलिया हे...
टिकिए चटनी मोते देयो भाणी हो...सीताया ठाकुराणी
चटणी गला सरी लईखन कांदूछंति जे...॥

—'लक्ष्मण कच्चे आम लाया और सीताजी ने चटनी पीसी।
'हे किसान! सारी की सारी चटनी राम खा गए।
'लक्ष्मण ने कहा—थोड़ी सी चटनी मुझे भी दे दो।
'चटनी खतम हो गई है। लक्ष्मणजी रो रहे हैं।'

लक्ष्मणजी मृत्यु-शय्या पर पड़े हैं। राम की अवस्था देखिए—

मरणसेज रे लईखन पड़िछंति।
रघुमणि राम दुःख-रे कांदूछंति
मने कि तोर लो दुःख नाहीं कि हलिया हे...॥

—'लक्ष्मणजी मृत्यु शय्या पर पड़े हैं। राम रो रहे हैं।

'हे कृषक! तुम्हारे मन में क्या जरा भी दुःख नहीं है?'

राम के दुःख में किसान भी दुखी हो उठा है।

कुछ गीतों में राम के घर में गाएँ दिखाई गई हैं। सचमुच उन दिनों घर घर गाएँ होती थीं तो राम के घर भी अवश्य रही होंगी। यदि केवल इतना ही कह दिया जाता कि राम के घर में गाएँ थीं तो कदाचित् अधिक रस न आता। यहाँ लक्ष्मण की गाय अधिक दूध देती है। राम की गाय का दूध सूख जाता है। लक्ष्मण सीताजी के लिये कपिला गाय लाते हैं। सीताजी राम के लिये तो चंदन की लकड़ी पर दूध गरम करती हैं परंतु लक्ष्मण को नारियल देकर ही उनका मुँह मीठा करने का यत्न करती हैं। इस प्रकार के उतार-चढ़ाव की कल्पना हमें राम के घर में ले जाती है और हम राम की छोटी से छोटी बात से परिचित हो जाते हैं।

> राम लईखन दुई गोटी भाई
> दुई भाई कीणीले जे...कपिला गाई
> लईखनंक गाई येरी खीर देला
> रामंक गाई-र खीर सूखी गला
> कांदूछंति सीता ठाकुराणी हे...हलिया...
> कि बुद्धि करिबे से.... ॥

—'राम और लक्ष्मण दो भाई थे।

'दोनों भाइयों ने दो कपिला गाएँ खरीदीं।

'लक्ष्मण की गाय अधिक दूध देती रही और राम की गाय का दूध सूख गया।

'हे किसान! सीता ठाकुराणी रो रही हैं। बेचारी क्या करें?'

> आणीले लईखन अयुध्या पुरी कु,
> गोटिये कपिला गाई। मो राम रे!

—'लक्ष्मणजी अयोध्या में एक कपिला गाय लाए।'

साहा देखी सीता रामंकु कहिले;
आणीवाकु से परि गाई। मो राम रे!

—'इसे देखकर सीता ने राम से कहा—मेरे लिये भी ऐसी ही एक गाय ला दो।'

से परि गाई कुयाड़े न पहिले;
खोजी खोजी राम होईलेन थाई। मो राम रे!

—'वैसी गाय कहीं भी न मिली। राम खोज खोजकर थक गए।'

एहा जाणी सीता कांदीबाकु लागीले;
क्रुरु थस्सी थाई भात पकाई। मो राम रे!

—'यह जानकर सीताजी रोने लगीं। उन्होंने अपना भोजन दूर फेंक दिया। वे उदास होकर बैठ गईं।'

एहा जाणी लईखन सीतांकु कहिले;
कांही कि कांदीछो छारकथापांई। मो राम रे!

—'यह जानकर लक्ष्मण ने सीता से कहा—जरा सी बात के लिये क्यों रोती हो?'

रामंक पांई ए देह धरिली
तुम्भरी पांई आणीछी ए गाई। मो राम रे!

लक्ष्मण ने सीता से कहा—'मैंने यह शरीर राम की सेवा के लिये ही धारण किया है और तुम्हारे लिये ही मैं यह गाय लाया हूँ।'

लक्ष्मण के ये वचन कितने सुंदर हैं! इस काल्पनिक कथा द्वारा ग्राम-वासियों ने लक्ष्मण को कितने मधुर रूप में चित्रित किया है।'

मळिया चन्दन आणी सीता तोंया कले
वेगे कपिला गाई-र खीर तताईले। महाप्रभु से!

—'मलय चंदन की लकड़ी लाकर सीताजी ने आग जलाई और जल्दी जल्दी कपिला गाय का दूध गरम किया।'

भरि करि सीर सुनार गिन्ना-रे

रघुमणि रामंक हस्त-रे देले। महाप्रभु से !

—'सोने की कटोरी में (दूध) भरकर उसने रघुमणि राम के हाथ में दिया।'

भूक-रे कटा ऊथीछे लईहरान कुटिया

सीताया देखी थासो लाकु देले नड़िया। महाप्रभु से !

—'भूखा लक्ष्मण कुटिया में झाड़ू दे रहा था। सीता ने उसे देखा तो उसे एक नारियल दे दिया।'

अभागा लईहरान थाकुले कांदीले;

एहा छाड़ी थाक किछी करि न पारीले। महाप्रभु से !

—'अभागा लक्ष्मण व्याकुल होकर रोने लगा। और कर ही क्या सकता था ?'

सुख के दिनों में भी सीता को अपनी माँ की याद आया करती थी, यह बात नीचे के गीत से प्रतीत होती है—

सरि गला दीप-र तेल्

कि परि दीप जाल्‌बी। महाप्रभु से !

तेल् आणी थाकु जावो हे राम !

से तेल दीप-रे ढाल्‌बी। महाप्रभु से !

सुनार दीप-रे चन्दन तेल्

सीताया दीप जाल्‌छी। महाप्रभु से !

दीप जाल्‌ी जाल्‌ी सीताया

मां-घर कथा। माल्‌छी। महाप्रभु से !

—'तेल खतम हो गया ! मैं दीपक कैसे जलाऊँ ?

'हे राम ! जाओ, तेल लाओ। मैं उस तेल से दीपक जलाऊँगी।

'सोने का दीपक है और चंदन का तेल। सीताजी दीपक जला रही हैं।

दीपक जलाते जलाते सीताजी को अपने माता-पिता का घर याद आ रहा है।'

---

(११) चिह्नांकित मुद्राएँ (Punch-marked coins)

[लेखक—रायबहादुर पंड्या बैजनाथ, काशी]

बहुत ही प्राचीन काल में आदिम मनुष्यों को अपने परिवार के निर्वाहार्थ प्रत्येक वस्तु का स्वयं ही उत्पादन करना पड़ता था। इससे आगे बढ़कर मनुष्य अपनी अपनी पैदा की हुई वस्तुओं का दूसरी आवश्यक वस्तुओं से बदला करने लगा। इसमें भी असुविधा होने के कारण किसी प्रकार के सिक्के का चलन प्रारंभ हुआ। शुरू में कौड़ियों सरीखी वस्तुओं से काम लिया गया। पीछे से धातुओं का उपयोग होने लगा, और इस प्रकार मुद्रित धन का व्यवहार हुआ।

भारतवर्ष में मुद्रित धन का व्यवहार बहुत पुराना है। ऋग्वेद में लिखा है कि ऋषि कक्षीवन् ने किसी राजा से सौ निष्क लिए। निष्कों के बने कंठहार का भी वर्णन है। बौद्धकाल में श्रावस्ती के सेठ अनाथपिंडिक ने बौद्ध संघ के लिये जेतवन की एक जमीन का मूल्य उस पर मुद्रा बिछाकर दिया था। नगौद राज्य में बरहुत स्तूप पर इस कथा का चित्र है। वहाँ जमीन पर मनुष्य चौकोन सिक्के बिछा रहे हैं। बुद्धगया की वेष्टनी पर भी यही चित्र है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि भारत के सबसे प्राचीन सिक्कों का आकार प्रायः चौकोर होता था। समस्त भारत में चाँदी और ताँबे के जो सब अंक-चिह्न-युक्त (Punch-marked) पुराने सिक्के मिले हैं उनमें से अधिकांश चौकोर ही हैं। ईसा की द्वितीय शताब्दी से, शुंग-काल से, सिक्कों में राजाओं के नाम अंकित होने लगे थे और उस काल के पूर्व के बहुत पुराने चाँदी के केवल अंक-चिह्न-

युक्त सिक्के उस समय 'पुराण' अर्थात् पुराने कहलाने लगे थे। उन्हें धरण भी कहते थे। सोने के सिक्कों को सुवर्ण या निष्क कहते थे और ताँबे के सिक्कों को कार्षापण।

उत्तर और दक्षिण भारत में इस प्रकार के हजारों चाँदी के प्राचीन सिक्के मिले हैं जिनमें ऐसे अंक ही चिह्नित हैं। उन्हें मुद्रा-तत्त्व-विद् लोग अंक-चिह्न-युक्त (Punch-marked) सिक्के कहते हैं। तक्षशिला के राजा आंभी ने इसी प्रकार के चाँदी के सिक्के सिकंदर को भेंट में दिए थे। पाणिनि के समय में भी सिक्कों का चलन था, क्योंकि रूप्य शब्द को उसने "रूपादाहत" के अर्थ में बताया है। अंक-चिह्न-युक्त (Punch-marked) सिक्कों में प्रत्येक चिह्न अलग अलग अंकित किया जाता था। पीछे से सब चिह्न एक ही ठप्पे से एक साथ ही अंकित किए जाने लगे और इससे आगे बढ़कर सब चिह्न सहित मुद्राएँ ढाली जाने लगीं। इन आदिम अंक-चिह्न-युक्त मुद्राओं की तौल हिंदू ग्रंथों (जैसे कौटिल्य) में लिखी तौल से मिलती थी। ये सिक्के सैस्तान, अफगानिस्तान, सीमांत प्रदेश, पंजाब, मध्यभारत, उत्तर और दक्षिण भारत, बिहार, बंगाल, गुजरात, कोयम्बटूर और सीलोन सब जगह मिलते हैं। इन सिक्कों के चिह्नों का मतलब अभी तक किसी को समझ नहीं पड़ा था। यह नहीं जान पड़ता था कि इनमें से कोई आगे पीछे समय के हैं या भिन्न भिन्न देशों के हैं इत्यादि। बनारस के विज्ञान-कला-विशारद बाबू दुर्गाप्रसादजी, बी० ए०, (मेंबर न्यू मिस्मैटिक सोसाइटी और हिंदू-विश्वविद्यालय की कोर्ट सभा के सदस्य) प्राचीन मुद्राओं के बड़े उत्साही शोधक हैं। आपके पास प्राचीन और अर्वाचीन मुद्राओं का संग्रह भी भारत में प्रायः अद्वितीय सा ही है। बहुत परिश्रम करके आपने इन मुद्राओं में अंकित चिह्नों का अध्ययन करके अलग अलग प्रकार के चिह्नों का

वर्गीकरण किया है। उस परिश्रम से अब यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कौन से अंक-चिह्न-युक्त (Punch-marked) सिक्के मौर्य काल के हैं, कौन से उस काल के पूर्व के हैं और कहाँ के हैं। आपने एक छोटी सी पुस्तिका भी प्रकाशित की है जिसमें इस वर्गीकरण को चित्रों में बताया है। उन्हीं की कृपा और उदारता से इन चित्रों को पत्रिका के पाठकों के ज्ञानार्थ प्रकाशित किया जाता है और उनके लेख का सार भी दिया जाता है। आगे जो कुछ लिखा है, उन्हीं की पुस्तिका से लिया गया है।

इन प्राचीन चिह्नांकित (Punch-marked) मुद्राओं में प्रत्येक चिह्न अलग ठप्पे से अंकित किया जाता था। इस कारण कोई चिह्न तो अधूरा ही छप पाता था और कोई दूसरे चिह्न पर अथवा उसके भाग पर अंकित हो जाता था। इस प्रकार कभी कभी विचित्र आकृतियाँ बन जाती थीं। इस कारण अनेक शोधक इन आकृतियों को ठीक ठीक न समझ उलटे ही विचार बाँध बैठे हैं। उक्त बाबू साहब ने बड़े धैर्य से और सारे भारतवर्ष से प्राप्त लगभग ४,००० सिक्कों का निरीक्षण कर यह ढूँढ़ निकाला है कि प्रत्येक चिह्न का शुद्ध रूप क्या है। फिर उसके अर्द्ध रूप के देखने से भी उस पूर्ण चिह्न का ज्ञान हो जायगा। प्रायः विशेष भाग अंकित (Punch-marked) मुद्राओं पर चार या पाँच चिह्न एक ओर अंकित रहते हैं और दूसरी ओर छोटे छोटे एक से छः-सात तक। इन चार-पाँच चिह्नों में से कुछ मुद्राओं में सभी एक से, कुछ में चार एक से, कुछ में तीन एक से चिह्न अंकित रहते हैं। इनका क्या अर्थ है अभी तक यह बात पूरी तरह से जान नहीं पड़ी है। आपने ६३ चिह्नांकित रौप्य मुद्राओं का अध्ययन किया है। ये आपको तक्षशिला के निकट से मिली थीं। परिमाण में वे तीन प्रकार की हैं—कोई चौड़ी और पतली, कोई लंबी और

युक्त सिक्के उस समय 'पुराण' अर्थात् पुराने कहलाने लगे थे। उन्हें धरण भी कहते थे। सोने के सिक्कों को सुवर्ण या निष्क कहते थे और ताँबे के सिक्कों को कार्षापण।

उत्तर और दक्षिण भारत में इस प्रकार के हजारों चाँदी के प्राचीन सिक्के मिले हैं जिनमें ऐसे अंक ही चिह्नित हैं। उन्हें मुद्रा-तत्त्व-विद् लोग, अंक-चिह्न-युक्त (Punch-marked) सिक्के कहते हैं। तक्षशिला के राजा आंभी ने इसी प्रकार के चाँदी के सिक्के सिकंदर को भेंट में दिए थे। पाणिनि के समय में भी सिक्कों का चलन था, क्योंकि रूप्य शब्द को उसने "रूपादाहत" के अर्थ में बताया है। अंक-चिह्न-युक्त (Punch-marked) सिक्कों में प्रत्येक चिह्न अलग अलग अंकित किया जाता था। पीछे से सब चिह्न एक ही ठप्पे से एक साथ ही अंकित किए जाने लगे और इससे आगे बढ़कर सब चिह्न सहित मुद्राएँ ढाली जाने लगीं। इन आदिम अंक-चिह्न-युक्त मुद्राओं की तौल हिंदू ग्रंथों (जैसे कौटिल्य) में लिखी तौल से मिलती थी। ये सिक्के सीस्तान, अफ़गानिस्तान, सीमांत प्रदेश, पंजाब, मध्यभारत, उत्तर और दक्षिण भारत, बिहार, बंगाल, गुजरात, कोयम्बटूर और सीलोन सब जगह मिलते हैं। इन सिक्कों के चिह्नों का मतलब अभी तक किसी को समझ नहीं पड़ा था। यह नहीं जान पड़ता था कि इनमें से कोई आगे पीछे समय के हैं या भिन्न भिन्न देशों के हैं इत्यादि। बनारस के विज्ञान-कला-विशारद बाबू दुर्गाप्रसादजी, बी० ए०, (मेंबर न्यू मिस्मैटिक सोसाइटी और हिंदू-विश्वविद्यालय की कोर्ट सभा के सदस्य) प्राचीन मुद्राओं के बड़े उत्साही शोधक हैं। आपके पास प्राचीन और अर्वाचीन मुद्राओं का संग्रह भी भारत में प्रायः अद्वितीय सा ही है। बहुत परिश्रम करके आपने इन मुद्राओं में अंकित चिह्नों का अध्ययन करके अलग अलग प्रकार के चिह्नों का

५—नंदी दाहनी श्रोर मुख करके खड़ा है। उसके सामने सिर के नीचे वृषभराशि की सी श्राकृति बनी है। ५ सिक्कों पर यह श्राकृति पूरी पूरी बनी है। बाकी मुद्राश्रों पर श्रंशतः या दूसरी श्राकृतियों पर छपी हुई है (देखिए, चित्र १ बी का पाँचवाँ चिह्न श्रौर चित्र ५)।

इन १४ मुद्राश्रों के पिछले भाग पर एक ऐसा चिह्न)⁝(श्रंकित है जिसे कनिंघम साहब ने तक्षशिला का चिह्न बताया है (देखिए, प्लेट ५, श्राकृति बी, पुश्त पर)। प्रायः सभी १४ मुद्राश्रों पर यह पूरा पूरा श्रंकित है पर कहीं कहीं घिस गया है। ऊपर लिखी १४ मुद्राश्रों (चित्र १ के बी वर्ग में) के श्रध्ययन से स्पष्ट है कि ये सब एक ही समय श्रौर एक ही स्थान पर श्रंकित हुई थीं। संभव है कि एक एक कारीगर एक एक चिह्न ही श्रंकित करता रहा हो। यदि कनिंघम साहब की कल्पना सत्य है तो ये सब तक्षशिला-टकसाल के, एक ही समय के छपे, सिक्के हैं।

दूसरे तीन सिक्के इसी वर्ग के हैं श्रौर उन्हें चित्र १ में, बी-१ वर्ग में, बताया गया है। इनकी पीठ पर भी तक्षशिला-चिह्न श्रंकित है श्रौर सामने ५ चिह्न हैं—सूर्य, चक्र, मेरु, पत्रहीन वृक्ष, किंतु पाँचवें चिह्न में नंदी के स्थान में चार खंभों पर स्थित फूसवाला घर बना है। इसे थियोबेल्ड साहब ने भी श्रपनी पैंतीसवीं श्राकृति में स्वीकार किया है। इन बी वर्ग के सिक्कों का विशेष महत्त्व यह है कि उनसे उनके तथा इस क्रम के दूसरे सिक्कों के काल का निर्णय होता है (देखिए, चित्र १ के बी, बी-१, बी-२, बी-३, बी-४, बी-५ श्रौर चित्र ५ भी)। इन सबके निरीक्षण से ज्ञात हो जायगा कि प्रत्येक प्रकार में क्या क्या परिवर्तन हुश्रा है। यह देख पड़ेगा कि कोई एक विशेष चिह्न कई बार बदलकर उसके स्थान पर दूसरे दूसरे

पतली, और कोई छोटी और मोटी पर गोल या चौकोर हैं। उनमें प्रायः पाँच चिह्न एक ओर अंकित हैं। दो में छः चिह्न हैं, पर ऐसा जान पड़ता है कि छठा चिह्न दूसरी ओर अंकित होना था और भूल से सामने आ गया है। कहीं कहीं एक ही चिह्न दो बार अंकित हो गया है। सब मुद्राओं का वर्गीकरण करने पर ये दस विभाग में विभाजित होती हैं। उनके और भी उपविभाग हैं। नं० १, २, ३, ४, ५ चित्रों के देखने से इस बात का ज्ञान हो जायगा। जो चिह्न अंकित हैं वे ये हैं—

१—सूर्यचिह्न (चित्र १, नंबर १)—इसमें एक वृत्त के आस-पास किरणें हैं और बीच में धुरी का चिह्न है। पर यह चिह्न मुद्राओं में बहुत कम, किंतु पूरा पूरा अंकित हुआ है।

२—गूढ़चक्र (चित्र १, नंबर २)—इसमें तीन छोटे वृषभराशि-चिह्न और तीन पत्तों के या बाण के लोहे के समान चिह्न, एक प्रकार के पश्चात् दूसरे प्रकार का एक चिह्न, इस तरह एक छोटे वृत्त के आसपास अंकित रहते हैं। यह चिह्न पूरा पूरा एक ही मुद्रा पर छपा है, बाकी पर अंशतः।

३—मेरु या पर्वत सा चिह्न[1] जो एक रेखा पर दो महराबें या कमान खींचकर, उस पर तीसरी महराब रखकर और उसके ऊपर अर्द्धचंद्र रखकर बनाया जाता है। यह चिह्न ६ मुद्राओं पर पूरा बना है, बाकी पर अंशतः।

४—बिना पत्तों का वृक्ष, जिसमें तीन तीन टहनियोंवाली तीन डालियाँ बनी हैं। यह पूरा चिह्न बहुत कम सिक्कों पर मिलता है। यह पाटला वृक्ष का चिह्न हो सकता है।

---

(1) इस आमान् जायसवालजी ने चंद्रगुप्त का राजांक निश्चित किया है; क्योंकि यह चंद्रगुप्त के स्तंभ पर और उस काल के सरकारी मिट्टी के बरतनों पर अंकित मिला है।

लिखे चिह्न कौटिल्य के समय में प्रचलित थे। कौटिल्य ने लिखा है कि लक्षणाध्यक्ष चार भाग ताम्र, $\frac{1}{4}$ भाग लोहा, राँगा, सीसा या अशुद्ध सीसा और ११ भाग चाँदी के मिश्रण से चाँदी का रुपया (रूप्यरूपं), पण, अर्द्धपण, पाद और अष्टभाग पण बनावे (२-१२-२८)। गोहगौरा ताम्रपत्र के चिह्न उस समय की मुद्राओं पर भी अंकित हैं, इसलिये यह सिद्ध होता है कि ये चिह्न कौटिल्य और मौर्य राजाओं के समय में प्रचलित थे। बी वर्ग के १४ सिक्कों के चिह्नों पर तथा बी-१ के अंतिम ३, और बी-२, बी-३, बी-४ और बी-५ के सिक्कों पर विचार करने से निश्चय होता है कि ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के अंत में और तीसरी शताब्दी में, मौर्यकाल में ये ही चिह्नांकित सिक्के चलते थे और पूर्वकाल में इन चाँदी के सिक्कों को कार्षापण कहते थे तथा कौटिल्य-काल में इन्हें पण कहते थे। कौटिल्य ने ताम्र के मापक का भी उल्लेख किया है। इन चाँदी के सिक्कों का विश्लेषण (Analysis) करने पर कौटिल्य के ६८·७५ प्रतिशत के बदले ६८·५० प्रतिशत चाँदी का भाग निकला था और दूसरी धातुओं के ३१·२५ प्रतिशत के बदले ३१·५० भाग। इस प्रकार इन रूप्यरूपों की बनावट भी कौटिल्य के लिखे अनुसार ही पाई गई है और इस बात का प्रमाण है कि ये सिक्के चंद्रगुप्त मौर्य के काल के हैं। ये सिक्के सारे भारतवर्ष में और सीमांत प्रदेशों में पाए जाते हैं; इसका यही कारण है कि यहाँ सब कहीं मौर्यों का राज्य था। डाक्टर स्पूनर ने इन चिह्नों को बौद्धधर्म के चिह्न माना था, पर यह बात और लोगों ने स्वीकार नहीं की। ये चिह्न खासकर बौद्धधर्म के हैं भी नहीं। जिस चिह्न [चिह्न] को मेरु अथवा स्तूप माना था वह चंद्रगुप्त के प्रासाद के एक पाषाण-स्तंभ पर

सात चिह्न अंकित हैं जो महत्त्व के हैं (देखिए चित्र ४)। आरंभ में एक वृक्ष तीन पत्तों का चौकोर वेष्टनी के भीतर, (२) चार खंभों पर एक भंडारघर दुहरे छप्परवाला, (३) एक भाला या तीर या राजचिह्न की आकृति का, (४) एक स्तूप जिसे पं० भगवानलाल इंद्रजी ने मेरु बताया था। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि पटना में डाक्टर स्पूनर द्वारा चंद्रगुप्त के महल की जो खुदाई हुई थी उसमें यह स्तूप का चिह्न महल के एक पाषाण-स्तंभ और मिट्टी के बर्त्तनों पर भी खुदा मिला था। (५) मुद्रा-तत्त्व-विदों का वृषभवाला चिह्न, (६) पत्रहीन तीन डालियोंवाला वृक्ष (७ नं० २) सरीखा दूसरा भंडार-गृह। इन सबका जो कुछ अर्थ हो, पर यह तो स्पष्ट ही है कि प्रायः ये ही या कुछ थोड़े बदले से चिह्न बहुधा सब चिह्नांकित मुद्राओं पर भी दो दो तीन तीन चार चार पाए जाते हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उक्त ताम्र-लेख में किसी राजा या अधिकारी के हस्ताक्षर या नाम नहीं हैं, जिससे अनुमान होता है कि ये सात चिह्न ही किसी राज्याधिकारी या राजसंस्था की परिचित मुद्रा या हस्ताक्षर का काम देते थे।

कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र (२-१२-२७) में "लक्षणाध्यक्ष" शब्द का व्यवहार करता है। भट्ट स्वामी टीकाकार लक्षण का अर्थ 'मुद्रा के चिह्न' करता है। लक्षणाध्यक्ष से टकसाल के अधिकारी का अर्थ होता है। उसका काम "रूप्यरूपं" अथवा चाँदी का रुपया बनाने का था। दूसरे स्थान (२-१४-७) में लिखा है—"**आवेशनिभिः सुवर्ण-पुद्गललक्षणप्रयोगेषु तत्तज्जानीयात्**"। इसका अर्थ यह है कि टकसाल के कारीगरों द्वारा सरकारी सुनार सुवर्ण, पुद्गल अर्थात् मिलावट की धातु और लक्षणों के प्रयोगों का हाल जाने। इससे सिद्ध होता है कि लक्षण या चिह्न खास अर्थ से अंकित किए जाते थे। इसलिये यह समझना अनुचित न होगा कि शोहगौरा प्लेट या ताम्रपत्र पर

चिह्न अंकित होते हैं। कभी कभी उसी प्रकार दो चिह्न एक साथ ही बदलते हैं। यह सब परिवर्तन क्रमानुसार नियमानुकूल होता दीख पड़ता है।

तक्षशिला से मिले ६३ और भारत के अन्यान्य भागों से प्राप्त ३० सिक्कों के अध्ययन से जान पड़ता है कि ये सब तीन प्रधान विभागों के हैं, एक विभाग पर सामने ५ चिह्न हैं जो विशेष करके इन सब सिक्कों में मिलते हैं, चाहे वे तक्षशिला, लाहौर, दिल्ली, मथुरा, नागपुर, इंदौर कहीं से भी क्यों न प्राप्त हों। ये चिह्न किसी नियमानुसार अंकित हुए हैं जिनका अर्थ अभी तक पूरा पूरा समझ में नहीं आया है। नियमानुसार ही इनमें परिवर्तन भी हुआ है। कदाचित् हर बार बनाते समय कुछ परिवर्तन किया गया हो। अन्यान्य प्रकारों को ए (A) और एस (S) प्रकार (चित्र ३ और ५) बताया गया है।

अब यह देखना चाहिए कि इस विषय पर और कहीं से भी कोई प्रकाश पड़ता है या नहीं और ये चिह्न और कहीं भी पाए जाते हैं या नहीं।

कोई ६० वर्ष हुए, गोरखपुर जिले के सोहगौरा ग्राम में एक मनुष्य को ब्राह्मी अक्षरों का एक ढला हुआ ताम्रलेख (चित्र ४ देखिए) अपने घर की नींव खोदते समय मिला था जिसका वर्णन इस पत्रिका के दूसरे स्थान में किया गया है। इसका अध्ययन कई विद्वानों ने किया है। इसका परिमाण २$\frac{५}{८}$ ई० × १$\frac{५}{८}$ ई० × $\frac{१}{८}$ ई० है। इसमें आदि मौर्य-काल के ब्राह्मी अक्षरों में चार रेखाएँ लिखी हैं। इसका समय ई० पू० ३२० के लगभग का है। इसके चार कोनों में चार छिद्र हैं। एक प्रकार का यह इश्तहार है। उसमें लिखा है कि इन भंडार-गृहों में आश्रय और सहायता जरूरत के अनुसार दी जायगी न कि सदैव के लिये। इस पत्र के आदि में

सात चिह्न अंकित हैं जो महत्त्व के हैं (देखिए चित्र ४)। आरंभ में एक वृक्ष तीन पत्तों का चौकोर वेष्टनी के भीतर, (२) चार स्तंभों पर एक भंडारघर दुहरे छप्परवाला, (३) एक भाला या तीर या राजचिह्न की आकृति का, (४) एक स्तूप जिसे पं० भगवानलाल इंद्रजी ने मेरु बताया था। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि पटना में डाक्टर स्पूनर द्वारा चंद्रगुप्त के महल की जो खुदाई हुई थी उसमें यह स्तूप का चिह्न महल के एक पाषाण-स्तंभ और मिट्टी के बर्त्तनों पर भी खुदा मिला था। (५) मुद्रा-तत्त्व-विदों का वृषभवाला चिह्न, (६) पत्रहीन तीन डालियोंवाला वृक्ष (७ नं० २) सरीखा दूसरा भंडार-गृह। इन सबका जो कुछ अर्थ हो, पर यह तो स्पष्ट ही है कि प्रायः ये ही या कुछ थोड़े बदले से चिह्न बहुधा सब चिह्नांकित मुद्राओं पर भी दो दो तीन तीन चार चार पाए जाते हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उक्त ताम्र-लेख में किसी राजा या अधिकारी के हस्ताक्षर या नाम नहीं हैं, जिससे अनुमान होता है कि ये सात चिह्न ही किसी राज्याधिकारी या राजसंस्था की परिचित मुद्रा या हस्ताक्षर का काम देते थे।

कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र (२-१२-२७) में "लक्षणाध्यक्ष" शब्द का व्यवहार करता है। भट्ट स्वामी टीकाकार लक्षण का अर्थ 'मुद्रा के चिह्न' करता है। लक्षणाध्यक्ष से टकसाल के अधिकारी का अर्थ होता है। उसका काम "रूप्यरूपं" अथवा चाँदी का रुपया बनाने का था। दूसरे स्थान (२-१४-७) में लिखा है—"**आवेशनिभिः सुवर्ण-पुद्गललक्षणप्रयोगेषु तत्तज्जानीयात्**"। इसका अर्थ यह है कि टकसाल के कारीगरों द्वारा सरकारी सुनार सुवर्ण, पुद्गल अर्थात् मिलावट की धातु और लक्षणों के प्रयोगों का हाल जाने। इससे सिद्ध होता है कि लक्षण या चिह्न खास अर्थ से अंकित किए जाते थे। इसलिये यह समझना अनुचित न होगा कि शोहगोरा प्लेट या ताम्रपत्र पर

चित्र १ के सब चित्रों का अध्ययन करने से उनका पारस्परिक भेद जान पड़ेगा। बी-६ और सी चित्रों का मिलान करने से जान पड़ेगा कि बी वर्ग से सी वर्ग में परिणत होने के लिये बी-६ मध्यस्थ मुद्रा है। सूर्य और चक्र दोनों में एक से हैं। मेरु की आकृति में कुछ परिवर्तन हुआ है, पर सी में तीन के स्थान पर पाँच महराबें हैं और अर्द्धचंद्र कुछ चिपटा सा है। चौथी आकृति नंदी की है पर अब बैल का सिर (वृषभराशि चिह्न) नहीं रहा। पाँचवीं आकृति हाथी की बार बार बदला करती है। इनकी पीठ के चिह्नों का अर्थ अभी तक समझा नहीं गया है।

अब इससे आगे चित्र १ में सी वर्ग के सिक्कों का निरीक्षण किया जाय। इस प्रकार के १९ सिक्के इस संग्रह में हैं। सूर्य पूर्ववत् है। चक्र में अब वृषभचिह्न परिधि के भीतर है। एक कुत्ता दुम उठाए हुए पाँच महराब के किसी पहाड़ पर कूदता सा दीख पड़ता है। चौथा नंदी है पर उसके सामने वृषभराशि की आकृति अब नहीं है। छठा हाथी है। इन सब चिह्नों से युक्त केवल १० सिक्के हैं और उनकी पीठ पर २ से ६ तक चिह्न अंकित हैं। इन सी वर्ग की मुद्राओं के निरीक्षण से ज्ञात होगा कि हाथी के स्थान पर पाँच चार जुदी जुदी आकृतियाँ आ गई हैं और बाकी की ४ आकृतियाँ इस वर्ग में वैसी ही बनी हुई हैं।

सी वर्ग के सिक्कों का विश्लेषण करने से ज्ञात हुआ कि इन सिक्कों में चाँदी, ताँबे और दूसरी निकृष्ट धातु के भाग कौटिल्य-अर्थशास्त्र के अनुसार न होकर भिन्न हैं। चाँदी ७९.६ भाग, ताँबा और थोड़ा सीसा मिलाकर २०.४ भाग हैं। इससे जान पड़ता है कि ये सिक्के किसी और राजा के हैं और मौर्यवंश के पूर्व के हैं।

डी और डी-१ वर्ग के सिक्के पाँच हैं। इनमें चिह्नों का और विशेष भेद हो गया है (देखिए, चित्र १ और ५)। सूर्य और

चक्र यहाँ भी सी सिक्कों के समान हैं पर अब कुत्ता पहाड़ पर नहीं है और उसके आसपास ४ वृषभचिह्न हैं। चौथी आकृति एक सुंदर बोतल के आकार के वाड़ वृक्ष की है जिसमें फूल या फल लगे हुए हैं। पाँचवीं आकृति हाथी की है। इस मुद्रा की पीठ पर कई छोटी छोटी आकृतियाँ हैं।

डी-१ चक्र में वृषभचिह्न वृत्त के भीतर है।

इसकी पाँचवीं आकृति सी-१ की पाँचवीं आकृति के समान है। इन मुद्राओं में चाँदी का भाग ८०.५ और ताँबे का १९.५ है तथा कुछ सीसे और लोहे की अशुद्धता भी है। इस• मिश्रण की धातु भंगुर या सहज हो टूटनेवाली है।

ई, ई-१, ई-२ वर्ग के ५ सिक्के दूसरे ही प्रकार के हैं (देखिए, चित्र १ और ५)। सूर्य और चक्र पूर्ववत् ही हैं। तीसरी आकृति अब पृथ्वी की सतह पर खड़े कुत्ते की है। तीन महराबों से किसी फाटक का बोध होता है। पाँचवीं आकृति वेष्टन या चौरा सहित वृक्ष की है। ई-१ में वह कोई जलीय पौधा बन जाती है और आगे जाकर दो लिपटे सर्पों की आकृति में परिणत हो जाती है। इन सब के पीछे दो छोटी छोटी आकृतियाँ हैं।

इस वर्ग में धातुओं का मिश्रण सी वर्ग के समान है। चाँदी ७९.६ भाग और ताँबा २०.४ भाग (कुछ अशुद्ध मिश्रण सहित)।

एफ, जी, एच, आई, जे वर्ग के सिक्के (चित्र २-४ देखिए) भी रावलपिंडी में मिले थे। पर इनका विश्लेषण अभी तक नहीं हो सका है, क्योंकि ये अभी अकेले ही हैं। एफ के चक्र की आकृति में वृषभचिह्न की जगह कोई दूसरा पशु है। आई और जे मुद्राओं में सूर्य भी नहीं है। दूसरे भेद चित्र से ज्ञात पड़ेंगे। आई वर्ग की मुद्राओं की पीठ पर पूर्व-वर्णित वज्रशिला-चिह्न अंकित है।

चित्र नं० २

Series	Symbols on Obverse side 1	2	3	4	5	Small symbols on Reverse side	
F							OBTAINED FROM RAWALPINDI 1 COIN
G							Do 1 COIN
H							Do 1 COIN
I	1 2 3	4	5				Do 2 COINS
J	1	2	3	4			Do 1 COIN
K							FROM DEHLI 1 COIN
L						?	OBTAINED FROM LUCKNOW 2 COINS
M							Do 1 COIN
M_1						?	Do 1 COIN
M_2							Do 1 COIN
M_3					?		Do 1 COIN
M_4						?	Do 1 COIN
M_5					?		FROM BENARES 1 COIN
M_6						?	FROM MATHURA 1 COIN
M_7							Do 1 COIN
M_8						?	Do 1 COIN

Durga Prasad

जे में पहाड़ ६ महराबों का हो गया। इस प्रकार रावलपिंडी के ६३ सिक्कों का वर्णन पूरा हुआ।

इन सब मुद्राओं की पीठ के चिह्नों का वर्णन न कर पूर्व-वर्णित तक्षशिला चिह्न [चिह्न] के विषय में कुछ विचार करेंगे। यह चिह्न केवल बी और आई वर्ग के सिक्कों पर ही मिला है (देखिए, चित्र १-२-५)। यह चिह्न आरंभ में कनिंघम साहब को तक्षशिला में मिले एक सोने के सिक्के पर मिला था जिसके एक ओर नंदी और दूसरी ओर यह आकृति थी। यही चिह्न बहुत से चाँदी के अंक-चिह्न-युक्त (Punch-marked) मुद्राओं पर भी मिला है जो भिन्न भिन्न दूर दूर के देशों में पाए गए थे, जैसे स्पूनर साहब को पेशावर में, वाल्श साहब को भागलपुर के गोरहोघाट में। उक्त बाबू साहब को भी ऐसे ही १८ सिक्के रावलपिंडी में मिले। ये सिक्के मद्रास, लखनऊ और कलकत्ता अजायबघरों में भी हैं।

क्या इसका यह अर्थ हो सकता है कि तक्षशिला के बने ये सब सिक्के भारतवर्ष में सब जगह फैले थे अथवा वे चंद्रगुप्त के राजांक से अंकित हैं। उसमें दो अर्द्धचंद्र हैं। ये अंक उक्त बाबू साहब के पास उन्हीं सिक्कों पर हैं जिनकी बनावट में चाँदी और ताँबे का मिश्रण कौटिल्य के अनुसार है।

बाबू साहब यह मानते हैं कि इसे चंद्रगुप्त का राजांक मानने के लिये अभी काफी प्रमाण नहीं हैं। दिल्ली, लखनऊ, बनारस, मथुरावाले सिक्के भिन्न वर्ग के हैं। सूर्य सब में है, पर चक्र सब में भिन्न भिन्न रूप से है (देखिए, चित्र २ और ५ तथा दूसरा चिह्न एम-१, एम-२, एम-३ और एम-४ का)। चित्रों के अध्ययन से बाकी का और सब भेद जान पड़ेगा।

इलाहाबाद, पटना, इंदौर, लाहोर और नागपुर से मिले सिक्के एन, ओ, पी, क्यू, आर अक्षरों के खानों में बताए गए हैं। इनमें

से प्रत्येक भिन्न प्रकार का है पर सूर्य और चक्र सबमें हैं, यद्यपि चक्र की आकृति प्रत्येक में बदली हुई है (देखिए, चित्र ३ और ५, मुद्रा एन, ओ, क्यू)। बाकी का भेद चित्रों के अध्ययन से जान पड़ेगा।

लखनऊ से प्राप्त एम-२ मुद्रा में चाँदी ८१·३ भाग और ताँबा तथा अन्य अशुद्ध धातुएँ १८·७ भाग हैं। यह मिश्रण कुछ कुछ रावलपिंडी के डी वर्ग के सिक्कों के समान है, केवल ·८ भाग चाँदी अधिक है। एम-५ बनारसवाले सिक्के में चाँदी ७२·८ भाग और ताँबा आदि २७·२ भाग है। यह औरों से निराला है और बहुत खोटा सिक्का है। इलाहाबाद, दिल्ली, मथुरा, इंदौर, लाहौर और नागपुर के सिक्के एक एक ही हैं और इस कारण उनकी धातुओं की जाँच नहीं हुई।

वी वर्ग का एक आधा कटा हुआ सिक्का अर्द्धपण का है। इसके सिवा अर्द्धपण नाम का भी एक सिक्का २५ ग्रेन (करीब १२ रत्ती) का है जो चित्र ३ या ४ में एस अक्षर द्वारा बताया गया है। मालवा से भी एक पण मिला है जो ताँबे का है; किंतु उस पर चाँदी का पत्र चढ़ा है। दोनों में सूर्य और चक्र हैं। महावंश में कहा गया है कि कौटिल्य ने राजा का धन बढ़ाने के लिये चाँदी के पण के वजन के ताँबे के सिक्के बनाकर उनको गली हुई चाँदी में डुबोकर और उन पर चाँदी के सिक्कों के चिह्न अंकित करके उनको चाँदी के सिक्कों की जगह चलाया था। उक्त बाबू साहब के पास का यह सिक्का घिस गया है किंतु उस पर अभी भी दोनों ओर और किनारों पर कई स्थानों में चाँदी लगी हुई है।

ए वर्ग और एस वर्ग के सिक्कों को छोड़कर बाकी सिक्कों का अध्ययन करने से सिद्ध होता है कि ये सब मिश्रित धातुओं के सिक्के एक ही वंश के चलाए हैं। उन सब में कम से कम दो चिह्न तो एक से ही हैं और बाकी के तीन चिह्न सबमें एक असल

चित्र नं० ३

Series	Symbols on Obverse side 1	2	3	4	5	Small Symbols on Reverse Side
N						OBTAINED FROM ALLAHABAD 1 COIN
O						FROM PATNA 1 COIN
P						FROM INDORE 1 COIN
Q						FROM LAHORE 1 COIN
R						FROM NAGPUR C.P. 2 COINS
S		1	2	3	4	? FROM LUCKNOW 1 COIN
A				?		6 COINS, FROM LUCKNOW
A_1						1 COIN
A_2						Do 4 COINS
A_3						Do 1 COIN
	1	2	3	4		DP.

चित्र नं० ४

THE SOHGAURA COPPE-PLATE INSCRIPTION
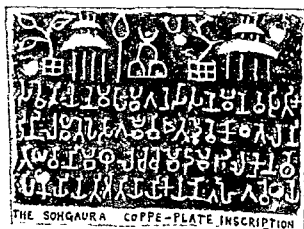
रूप के परिवर्तन हैं। वे कभी गोल और कभी चौखूटे हैं। ऐसा निश्चय हो सकता है कि ये सब मौर्य कुल और उनके निकट के उत्तराधिकारियों के बनाए और चलाए हुए हैं।

मौर्यों के पूर्व के कुछ सिक्के

बाबू साहब के संग्रह में कुछ और चिह्नांकित (Punch-marked) चाँदी के सिक्के हैं जिनकी आकृति टेढ़ी-मेढ़ी है, जो बनावट में पतले हैं और जिनमें पाँच के बदले चार ही चिह्न हैं; किंतु वे इतने अच्छे और साफ नहीं हैं। वे एक ऐसे प्रकार के हैं जिसके विषय में अभी तक कहीं कुछ लिखा नहीं गया है। इनका वर्णन आगे चलकर होगा। पटना अजायबघर वाली गोलखपुर की मुद्राओं का वर्णन वेल्श साहब ने किया है। वे निस्संदेह मौर्यकाल के पूर्व की हैं (देखिए, बिहार ओरीसा रि० सो० का पत्र, जिल्द ५, १९१९)। लखनऊ म्यूजियम में भी विशेष प्रकार के चौड़े-पतले अनियमित आकृति के चाँदी के चिह्नांकित सिक्के हैं जिनका अध्ययन अभी तक नहीं हुआ है। ये सब मौर्यकाल के पूर्व के जान पड़ते हैं।

ए वर्ग के सिक्के

तीन-चार वर्ष हुए, चाँदी के २४ चिह्नांकित सिक्के चौकोर टेढ़ी-मेढ़ी आकृति के, कोई कोई गोल, लखनऊ से प्राप्त किए गए थे। उनमें से १२ अभी तक उक्त संग्रह में हैं, और शेष परिवर्तन में दे दिए गए। इनकी प्राप्ति के स्थान का पता नहीं लग सका। ये सिक्के देखने में बहुत पुराने, घिसे और मिश्रित चाँदी के थे जिसमें ७५ भाग चाँदी और २५ भाग ताँबा तथा सीसे का नाम मात्र निशान मिला हुआ था। इन पर ३-४ भद्दे चिह्न गहरे अंकित किए हुए थे। इनका वजन ३७ से ४२ ग्रेन तक था। औसत वजन ४०·३ ग्रेन या २१·४ रत्ती था। उनमें से एक गोल और बाकी चौकोर

हैं। उनकी नाप '८६ इंच × '४२ इंच से '६ इंच × '०६ इंच थी। इन सिक्कों की मिश्रित धातु इतनी कड़ी नहीं है। पिछले काल के चिह्नांकित सिक्कों द्वारा उन पर सरलता से खरोंच हो सकती है। किसी सिक्के पर ४ से अधिक चिह्न अंकित नहीं हैं। वे चिह्न ये हैं—(१) मध्यस्थ चिह्न के आसपास तीन टाँगों की सी आकृति, (२) ढाल सरीखी आकृति के भीतर वृषभराशि की आकृति। पटना म्यूजियम के गोलखपुर सिक्कों पर भी यही चिह्न है। (३) हाथी, दाहने तरफ मुँहवाला या बाएँ तरफवाला, (४) एक पंचकोण सितारा जिसके कोनों में और केंद्र में बिंदु हैं या पूर्ववर्णित चक्र का भाग (देखिए, चित्र ३ और ५, ए वर्ग के सिक्के)।

प्रथम दो चिह्न सबमें एक से पाए जाते हैं, बाकी का हाल चित्रों के निरीक्षण से जान पड़ेगा। चौकोर सिक्के एक-दो कोनों पर कटे हुए हैं। दो सिक्कों की पुश्त पर कोई चिह्न अंकित नहीं है। बाकी आठ की पुश्त पर एक से चार चिह्न अंकित हैं। इसमें संदेह नहीं कि ये सिक्के पिछले सुडौल और सुंदर चिह्नोंवाले (Punch-marked) सिक्कों की अपेक्षा पुराने हैं। ये गोलखपुर के सिक्कों के समान हैं पर उनसे कुछ छोटे हैं। ऊपर लिखे कारणों से यह अनुमान होता है कि ये मौर्यकाल के पूर्व के हैं। इन्हें ई० पू० पाँचवीं या छठी शताब्दी का अनुमान करना अनुचित न होगा। चित्र ३ और ५ में इन्हें ए वर्ग में रखा गया है।

उपसंहार

चिह्नांकित मुद्राओं को तीन कालों में रख सकते हैं—(१) आरंभ के सिक्के—जब जुदे जुदे स्वतंत्र राज्य थे और सब अपने अपने अलग सिक्के चलाते थे, (२) मौर्य के पूर्वकालीन—जब नंद आदि के सिक्के चलते थे, (३) मौर्यकाल। कनिंघम साहब ने चिह्नांकित (Punch-marked) मुद्राओं का काल ई० पू० १००० तक

चित्र नं० ५

A
REVERSE A
A2
A3
B
REVERSE B
B1
B2
B3
B4
B4
B6
C
C1
C2
C3
C4
C5
D
D1
E
E1
E2
F
G
H
I
J
K
L
M
M1
M2
M3
M4
M5
M6
M7
M8
N
O
P
Q
R
S
T
U
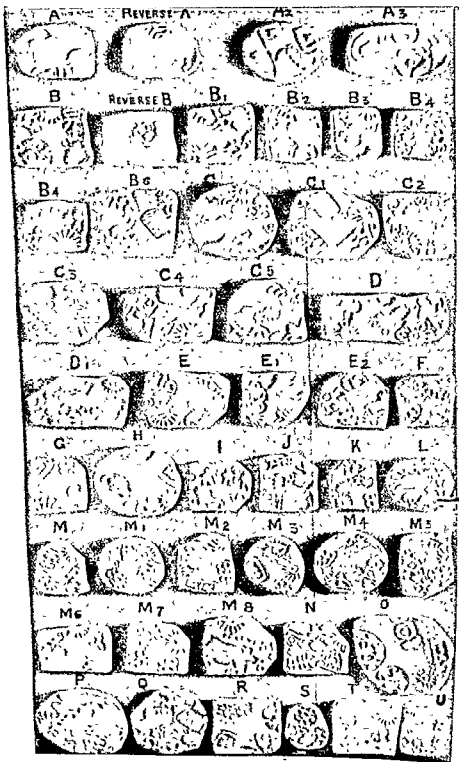
बताया है। बी वर्ग के सिक्कों का चंद्रगुप्त के समय का निश्चित होना इतिहास में एक महत्त्व की बात है। इसके आगे मौर्यकाल के पूर्व के सिक्कों का निश्चय होना सरल हो जायगा। बौद्धकाल में कौशांबी, श्रावस्ती, मथुरा और अवंति आदि स्वतंत्र राज्य थे और इनके सिक्के भी वैसे ही चिह्नांकित (Punch-marked) रहे होंगे। संभव है कि ए वर्ग के सिक्कों में से कुछ उन देशों के बौद्धकाल के निकल आवें। हस्तिनापुर के नष्ट हो जाने पर पांडव-कुल कौशांबी उठ आया था। यदि कौशांबी की खुदाई हो तो वहाँ पांडव-कुल के सिक्के अवश्य मिलेंगे। इस प्रकार इन चिह्नांकित मुद्राओं का अध्ययन हमको धीरे धीरे महाभारत-काल तक ले जायगा। उससे आगे भी जा सकेंगे या नहीं, यह विशेष अध्ययन और खोज से निश्चत होगा। पर कोई आश्चर्य नहीं कि महेंजोदरो की सभ्यता से लेकर क्रमानुसार पीछे की सब भारतीय सभ्यताओं का सिलसिला मिल जाय।

पर खेद इस बात का है कि हमारे शिक्षित भारतीय पुरातत्त्व में अभी बहुत कम ध्यान देते हैं। इसमें सभी की सहायता की आवश्यकता है। सारे संस्कृत और प्राकृत साहित्य का पुरातत्त्व की दृष्टि से अध्ययन करना आवश्यक है और यह सबकी सहायता से ही हो सकता है। पुरानी मुद्राओं की खोज और रक्षा में भी सबकी सहायता अपेक्षित है।

---

(१२) विविध विषय

(१) पुरातत्त्व

[१]

इस पत्रिका के भाग १३, अंक २, पृष्ठ २३७ में "चंद्रगुप्त द्वितीय और उसके पूर्वाधिकारी"-शीर्षक एक लेख लिखा गया था। उसमें यह बताया गया था कि शक लोगों ने रामगुप्त को हिमालय प्रदेश के किसी किले में घेर लिया। रामगुप्त उन्हें हरा न सका और संधि चाहने लगा। शत्रु ने रामगुप्त से उसकी रानी ध्रुवस्वामिनी देवी को माँगा। राजा बड़े संकट में पड़ा पर मंत्री की सलाह से रानी देने को राजी हो गया। चंद्रगुप्त उस समय युवावस्था में था। उसने प्रार्थना की कि रानी के बदले में मैं भेजा जाऊँ और वह भेजा गया। शकाधिपति जब उससे रात्रि को एकांत में मिलने गया तब चंद्रगुप्त ने उसे मार डाला और इस प्रकार रामगुप्त की जीत हुई। संस्कृत लेखकों ने चंद्रगुप्त पर अपने भाई के मार डालने का और उसकी स्त्री के ले लेने का दोषारोपण किया पर विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में उसे बंधुभृत्य लिखा है इसलिये इस दोषारोपण में शंका मालूम होती है। यह सब कथा सन् ३७५-८० ई० के लगभग की है और (१) बाण (लगभग सन् ६२० ई०), (२) अमोघवर्ष (सन् ८७३ ई०), (३) राजशेखर (लगभग सन् ९०० ई०), (४) भोज (सन् १०१८-६० ई०), (५) अबुलहसनअली, (६) टीकाकार शंकर (सन् १७१३ ई०) के आधार पर पत्रिका में लिखी गई थी।

मार्च १९३४ के इंडियन हिस्टारिकल कार्टरली में मिस्टर मीराशी (नागपुर) ने "चंद्रगुप्त विक्रमादित्य और गोविंद" शीर्षक एक लेख

लिखा है। गोविंद चतुर्थ, सन् ६४० ई० के लगभग, राष्ट्रकूट (महाराष्ट्र) का राजा था। उसके विषय में सांगली और खंभात के ताम्रपत्रों में यह श्लोक लिखा है—

सामर्थ्ये सति निन्दिता प्रविहिता नैवाग्रजे क्रूरता
वंधुस्त्रीगमनादिभिः कुचरितैरावर्जितं नायशः।
शौचाशौचपराङ्मुखं न च भिया पैशाच्यमङ्गीकृतम्
त्यागेनासमसाहसैश्च भुवने यः साहसाङ्कोऽभवत्॥

यह गोविंद की प्रशंसा में है। इसका अर्थ यह है कि सामर्थ्य रहते भी गोविंद ने अपने बड़े भाई के प्रति निंदित क्रूरता नहीं की। न तो उसने भ्रातृस्त्री-गमन के कुचरित्र द्वारा अपयश कमाया है और न डरकर, शौचाशौच का विचार न कर, पैशाच्य का ही अंगीकार किया। प्रत्युत वह (गोविंद) त्याग और असीम साहस द्वारा जगत् में 'साहसांक' बन गया।

पुरातत्त्वज्ञ पहले इसका अर्थ नहीं समझ सकते थे। साहसांक से विक्रमादित्य का अर्थ है और यह उपाधि चंद्रगुप्त द्वितीय की है। श्लोक के प्रथम तीन पदों में जो बातें कही गई हैं वे चंद्रगुप्त ने की थीं अर्थात् उसने अपने भाई रामगुप्त को मारकर उसकी स्त्री ध्रुवस्वामिनी से विवाह किया और शौचाशौच का विचार न कर पैशाच्य का अंगीकार किया।

तीसरी पंक्ति का अर्थ रामकृष्ण कवि के 'देवी चंद्रगुप्त' नाम के नाटक से खुलता है। उसमें लिखा है कि सब प्रकार से निरुपाय होकर चंद्रगुप्त की इच्छा रात्रि को श्मशान में जाकर वेताल को अपने वश में करने की थी; पर घेरा पड़े रहने के कारण शत्रु के मध्य में से निकल जाना संभव न था। जब चंद्रगुप्त इस विचार में डूबा हुआ था तब एक चेटी ध्रुवस्वामिनी के कुछ कपड़े लेकर, अपनी मालकिन माधवसेना को ढूँढ़ती हुई, वहाँ आई और उसे न पाकर चंद्रगुप्त के विदू-

यक्ष के पास वे कपड़े छोड़कर अपनी मालकिन को ढूँढ़ने गई। उन कपड़ों को देख चंद्रगुप्त को स्त्री-वेश धारण कर शत्रु के पड़ाव में से निकल जाने की युक्ति सूझी। वह श्मशान को गया या नहीं, यह उस नाटक में नहीं लिखा। पर ऊपर की तृतीय पंक्ति से जान पड़ता है कि चद्रगुप्त ने वेताल को अपने वश में किया और उस कार्य में उसे अश्लीघयुक्त कार्य करने पड़े होंगे, जैसे मनुष्य-मांस का देना। 'वैताल-पचीसी' में विक्रम और वेताल का संबंध दिखाया गया है।

गोविंद के विषय में भी यह कथा है कि उसने अपने भाई अमोघ-वर्ष द्वितीय को एक वर्ष के भीतर ही मारकर गद्दी ले ली थी। पूर्वोक्त अन्यान्य दोषारोप भी उस पर किए गए हैं; किंतु उसके कवि ने उन शंकाओं को सुंदरता के साथ मिटाने का प्रयत्न किया है।

[२]

कोई ६० वर्ष पूर्व गोरखपुर जिले के सोहगौरा ग्राम में प्रायः २॥" × १॥" का एक छोटा सा ताम्रपत्र ब्राह्मी अक्षरों में लिखा मिला था। लेख में केवल ४ पंक्तियाँ, आदि-मौर्यकाल की लिपि में, हैं। चार कोनों में ४ छिद्र उस लेख को टाँगने के लिये हैं। लेख ढला हुआ है। उसमें एक राजाज्ञा लिखी है पर आरंभ में कुछ राजचिह्न लिखे गए हैं। इन्हीं राजचिह्नों के कारण उसका महत्त्व है क्योंकि वैसे ही चिह्न ठप्पेवाले सिक्कों (Punch-marked coins) पर भी मिलते हैं, जिनसे ये सिक्के भी आदि-मौर्यकालीन सिद्ध होते हैं। ऐसी ही एक और पुरानी राजाज्ञा बंगाल के महा-स्थान में, वैसी ही पुरानी ब्राह्मी लिपि में, लिखी हुई पाई गई है।

सोहगौरा ताम्रलेख का अर्थ यह है—"इन दो कोठों का सामान—अर्थात् घास, गेहूँ और कड़छुला, छत्र, जुए के सैले तथा रस्सियाँ—अत्यंत आवश्यकता के समय ही उपयोग में लाया जाय, पर उसे कोई ले न जाय।"

[३]

गत वर्ष के दिसंबर मास में इंडियन ओरिएंटल कान्फ़रेंस का सातवाँ अधिवेशन बड़ोदा नगर में, श्री काशीप्रसाद जायसवाल जी के अधिपतित्व में, हुआ। इस अवसर पर उनका भाषण बड़े महत्त्व का था; क्योंकि उसमें पुरातत्त्व के सब विभागों की उन्नति का दिग्दर्शन कराया गया था और यह भी दिखाया गया था कि भविष्य में उन्नति किस दशा में होगी। उनके भाषण की प्रधान बातों का संक्षिप्त सार पाठकों के लिये यहाँ दिया जाता है।

प्रथम तो इस ओर ध्यान दिलाया गया कि डाक्टर प्राणनाथ के परिश्रम से प्राय: यह सिद्ध होता है कि महेंजोदरो और हरप्पा की मुहरों की लिपि इलाम, साइप्रस और क्रीट की तथा और अधिक दूर की कुछ पुरानी लिपियों से मिलती-जुलती है। ऐसा जान पड़ता है कि एक ही प्रकार की धारा सिंधु नदी से एटलांटिक महासागर तक प्रवाहित थी। मिस्टर पिक्रोली 'इंडियन एंटीक्वेरी' नवंबर १९३३ में लिखते हैं कि सिंधुलिपि इट्रूरिया के पुराने बर्तनों और कबरों की वस्तुओं पर लिखे अपठित संकेतों से मिलती है। एक दूसरे महाशय गिलाम डि हेवेसी ने अपने एक लेख में बताया है कि सिंधु अक्षरों में के ५२ अक्षर पैसिफ़िक अथवा प्रशांत महासागर के ईस्टर द्वीप में मिली ईंटों पर ठीक उसी रूप में पाए जाते हैं। स्वयं भारतवर्ष में, संबलपुर जिले के विक्रमखोल ग्राम में, एक चट्टान-लेख मिला है जो सिंधुलिपि और ब्राह्मी की मध्यस्थिति का है। बक्सर और पाटलिपुत्र में भी कुछ ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं जिनसे प्रकट होता है कि सिंधु नदी की सभ्यता पटना तक अवश्य थी। वह पश्चिम में भारतवर्ष से भूमध्यसागर तक निस्संदेह फैली हुई थी। महाभारत के एक लेख से जान पड़ता है कि उसके बनने के समय काठियावाड़ के पश्चिम तट पर विचित्र प्रकार की मुहरें (Seals)

मिलती थीं। संभव है कि राजपूताना की मरुभूमि और मध्य प्रदेश के कुछ स्थानों में भी इसी प्रकार की वस्तुओं का प्रमाण मिले। जायसवाल महाशय का निश्चय है कि इस सभ्यता का और उसके मनुष्यों की जाति का निर्णय पुराणों से हो सकेगा। पुराणों का इतिहास जल-प्रलय (The Flood) तक और उसके पूर्व तक जाता है। शतपथ ब्राह्मण में जिस जल-प्रलय का वर्णन है वह भारतीय राजवंशों के पूर्व के इतिहास का प्रधान चिह्न है। डाक्टर वूली (Dr. Woolly) की खुदाई से जल-प्रलय की घटना की सत्यता सिद्ध हो चुकी है। यह प्रलय मेसोपोटेमिया से राजपूताना तक आया था और इस सीमा के दोनों अंतों में उसका प्रमाण मिलता है। पुराणों के राजवंश प्रायः जल-प्रलय से आरंभ होते हैं और मुहेंजोदरो की सभ्यता इस प्रलय के पीछे की है। मिस्टर करंदीकर ने पुराणों में स्पष्ट लेख पाया है कि नर्मदा नदी की तलहटी में इस जल-प्रलय का प्रभाव नहीं पड़ा था। पुराणों को ठीक ठीक समझने के लिये सारे एशिया का पुराना इतिहास अच्छी तरह से ज्ञात होना चाहिए।

सोहगौरा (गोरखपुर) और महास्थान (बंगाल) में मिले पुराने ब्राह्मी के ताम्रपत्रों का उल्लेख इस पत्रिका में अन्यत्र हो चुका है। इन महाशय की राय में ये दोनों चंद्रगुप्त मौर्य के समय के हैं और उसके राज्य में जो बार बार अकाल पड़ता था उस संबंध की घोषणा और व्यवस्था इनमें है। सोहगौरा-पत्र श्रावस्ती के मंत्रियों द्वारा घोषित हुआ था और महास्थान-पत्र को पुंड्र के मंत्रियों ने घोषित किया था। उत्तर बंगाल में उस समय कई अनार्य जातियाँ इकट्ठी मिलकर रहती थीं। ये दोनों लेख, जिनमें राजकीय आज्ञाओं की घोषणा है, अशोक से कोई ७५ वर्ष पूर्व के और मौर्यकाल के पुराने लेख हैं। सोहगौरा लेख में चंद्रगुप्त मौर्य

के नाम का एक राजचिह्न (राजांक) भी बना हुआ है। दो लगी हुई महरावों या गोलाइयों के ऊपर तीसरी महराव और उसके ऊपर चंद्रमा । पहले ऐसी आकृति को कोई मेरु पर्वत और कोई स्तूप बताता था। ब्राह्मी अक्षर ग और द्र व मिलने पर ये तीन महरावें बनती हैं और ऊपर के चंद्र को मिलाकर पूरा नाम चंद्रगुप्त होता है। डेढ़ शताब्दी पीछे ऐसा ही चिह्न अग्निमित्र की मुद्राओं पर मिलता है और उसके निकट 'मो' अक्षर लिखा रहता है जिसका अर्थ मौर्य होता है। यही चंद्रगुप्तवाला राजांक पुराने पाटलिपुत्र के मौर्यप्रासाद की खुदाई में, कुम्हरार में मिले स्तंभ पर भी पाया जाता है और उस अंक के निकट मौर्य शब्द पूरे अक्षरों में भी लिखा है। पुराने पाटलिपुत्र की खुदाई में मौर्यकाल की गहराई पर मिले दस ढले सिक्कों पर भी वही अंक मिला है। सारनाथ में अशोक-स्तंभ की नींव में एक मुद्रा मिली थी। उस पर भी वही अंक है। पुराने पाटलिपुत्र के किले के रक्षक सैनिकों को जो मिट्टी के बर्तन दिए जाते थे उन पर भी यही अंक मुद्रित है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित राजांक यही जान पड़ता है। इस निश्चय से भारतवर्ष की अति प्राचीन मुद्राओं (Punch-marked coins) के पढ़ने में बहुत सुविधा होगी। मनुस्मृति में इन्हें पुराण, पण, कार्षापण आदि नाम दिए गए हैं।

भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग के कार्य की ओर दृष्टिपात करते हुए जायसवाल महाशय भारतवासियों की उदासीनता पर बड़ा दुःख प्रकट करते हैं। उनकी उदासीनता के कारण इस विभाग को बहुत कम द्रव्य मिलता है। अभी तक कोई महत्त्व की खुदाई बुद्ध-काल के पूर्व के स्थानों पर नहीं हुई। मोहेंजोदड़ो की परख तो आर० डी० बनर्जी की विशाल बुद्धि के कारण हुई। बुद्ध के पूर्व का कोई साक्षी ढेर अभी तक नहीं मिला है। इसका कारण

यह है कि कोई सच्चा प्राचीन हिंदू स्थान खोदा ही नहीं गया है। यदि योग्य स्थानों की खुदाई की जाय तो शतानीक और सहस्रानीक के कुटुम्बों के चिह्न अवश्य मिलें।

जायसवाल महाशय काशी के बाबू दुर्गाप्रसादजी के परिश्रम की बड़ी प्रशंसा करते हैं। इन बाबू साहब के पास मुद्राओं का संग्रह बहुत अच्छा है। आपने पुराने ठप्पेवाले (punch-marked) सिक्कों के अध्ययन में बड़ा परिश्रम किया है। इन मुद्राओं में चिह्न ठप्पों से बनाए जाते थे जिनका अर्थ अभी तक कोई नहीं समझता था। आपने इन मुद्राओं के चिह्नों का अर्थ समझने का बहुत कुछ सफल प्रयत्न किया है। इनमें से एक प्रकार के चिह्नांकित मुद्राओं का विश्लेषण (analysis) भी किया गया है और उनमें वे ही धातुएँ, उतने ही परिमाण में, मिली हैं जो कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चाँदी के राज-कार्षापण के लिये बताई गई हैं। बाबू साहब के बी (B) विभाग की मुद्राओं पर ऊपर लिखा चंद्रगुप्त का राजांक भी मिलता है। सारनाथ अशोक-स्तंभ के नीचे मिली ढली मुद्राओं में और पाटलिपुत्र की मुद्राओं में भी यही राजांक है और उनके निकट एक राज-पताका और एक हाथी भी बना है। हाथी और पताका से जान पड़ता है कि पताका के ऊपर हाथी का चिह्न बना रहता था। ग्रीक लेखकों ने लिखा है कि चंद्रगुप्त को हाथी ने अपनी पीठ पर बिठा लिया था और सिंह ने उसे चाटा भी था। इस लेख को लोग अभी तक एक कल्पना ही समझते थे पर अब जान पड़ता है कि यह कथा तक्षशिला में इसलिये प्रचलित हुई कि चंद्रगुप्त के तक्षशिला-कार्षापणों में राजांक हाथी की पीठ पर और खुले मुँह जीभ निकाले सिंह के सामने स्थित है। ऐसे ही एक कारण से मुसलमान लेखकों ने सिकंदर को एक सींगवाला बताया है। अब अशोक की मुद्राओं को भी पहचान सकना

संभव है। बाबू दुर्गाप्रसादजी के बी (B) वर्ग की मुद्राओं में एक वृक्ष बना है जो पाटलिपुत्र की और सारनाथ की खुदाई में मिले पूर्ववर्णित सिक्कों पर भी मौजूद है। यह पाटलिपुत्र को सूचित करनेवाला पाटली का वृक्ष जान पड़ता है।

रायबहादुर राधाकृष्ण जालन को पुराने पाटलिपुत्र में सोने के शिव-पार्वती मिले हैं। उनकी बनावट शैशुनाग और दीदारगंज मूर्त्ति (पटना म्यूजियम) के समान है। इसलिये ये मूर्तियाँ अति पुरानी हैं। जायसवालजी का मत है कि दीदारगंज की मूर्त्ति और ये सोने के शिव-गौरी सुगांगेय नाम के नंदप्रासाद के बचे पुराने अंश हैं।

रा० ब० डाक्टर हीरालाल द्वारा कारंजा (बरार) में सन् ९०० ई० के जैन ग्रंथ मिले हैं जिनसे हिंदी का उस समय का रूप प्रकट होता है। अब ये ग्रंथ छप चले हैं। उनसे हिंदी के विकास का बहुत कुछ पता चलता है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने पुराने मगध के सिद्ध लोगों का इतिहास ढूँढ़ निकाला है। उनके लेख सन् ७५० से ९०० ई० तक के हैं और वे संस्कृत में और उस समय की देशभाषा में हैं। ये लेख नालंदा में लिखे गए थे। उनसे ७५० तक की पूर्वीय हिंदी का पता लगता है।

जायसवाल महाशयजी का प्रस्ताव था कि रामायण भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न रूपों में पाई जाती है—जैसे काश्मीरी, पूर्वीय दक्षिण की और बंगाली। जैसे महाभारत के जुदे जुदे रूपों का अध्ययन कर एक निश्चित संस्करण तैयार हो रहा है वैसे ही रामायण की सब सामग्री का विवेचनयुक्त अध्ययन होकर उसका भी एक निश्चित परीक्षात्मक संस्करण तैयार होना चाहिए। आपकी बड़ी और प्रशंसनीय इच्छा है कि प्राचीन भारतवर्ष का एक उत्तम इतिहास भारतवासियों द्वारा ही लिखा जाय। सामग्री सब तैयार

है। पुराने इतिहासज्ञ भी मौजूद हैं जिनकी सहायता कुछ वर्षों बाद न मिल सकेगी। उनकी उपस्थिति का लाभ अभी ही उठा लेना चाहिए। पुराने इतिहास से अभी तक केवल सन् ई० से ६०० वर्ष पूर्व का इतिहास समझा जाता है; पर भारतवर्षीय पुराण, इतिहास-लेखकों के अनुसार, अति पुरातन इतिहास सन् ई० के १४०० वर्ष पूर्व तक ही है। उसके पश्चात् तो नंद तक (४०० ई० पू०) वह प्राचीन और महानंद से इस पार आधुनिक काल का इतिहास कहा जाता है।

भीष्मपर्व में संजय—युधिष्ठिर से भारतवर्ष का वर्णन करते समय—मनु वैवस्वत, पृथु, इक्ष्वाकु, मांधाता, नहुष, मुचकुंद, शिवि औशीनर, ऋषभ, ऐल, नृग, कुशिक, गाधि, सोमक, दिलीप आदि के भारत को पुरातन भारत कहते हैं।

पंड्या बैजनाथ

---

(२) भ्रम-निवारण

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हिंदी-शब्द-सागर (कोश) हिंदी भाषा-भाषियों के लिये गौरव की वस्तु है। इस कोश की भूमिका भी साहित्यिक जगत् में अपना स्थान रखती है; परंतु शब्दसागर के सुयोग्य संपादकों ने जितना परिश्रम पुस्तक के मूल भाग को सर्वथा संपन्न बनाने में किया है उतना परिश्रम, मालूम होता है, भूमिका के लिखने में नहीं किया। भूमिका लिखने में जो ढंग अख्तियार किया गया है उसे सफल बनाने के लिये साहित्यिक खोज की आवश्यकता थी। किंतु वह न करके उन्होंने किन्हीं स्थलों पर केवल निराधार किंवदंतियों

अथवा किन्हीं स्वार्थ-साधकों की बातों से ही अपने को संतुष्ट कर लिया है।

जिस स्थल पर हमको शंका हुई है वह श्री हितहरिवंशजी का सूक्ष्म जीवनचरित है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि जिन वैष्णव संप्रदायों का जन्म मध्यकालीन हिंदुओं के धार्मिक दृष्टिकोण को विशाल करने के लिये हुआ था, उन्हीं संप्रदायों के अनुयायी भारतवर्ष के भाग्य-विपर्यय से पिछली शताब्दी में कितने संकुचित हृदयवाले हो गए और परस्पर लड़कर किस प्रकार अपनी संचित शक्ति को उन्होंने नष्ट कर दिया। विभिन्न संप्रदायोंवालों के इस काल्पनिक विरोध पर महाकवि बिहारीलाल भी एक बार दुःखी हुए थे। उन्होंने लिखा है—

अपनैं अपनैं मत लगे, वादि मचावत सोर।
ज्यौं त्यौं सबकौं सेइबौ, एकै नंदकिसोर॥

अस्तु; हमको संतोष इतने ही से होता, यदि यह रोग पिछली शताब्दी तक ही सीमित रहता। परंतु दुःख तो इस बात का है कि नवीन चेतनता तथा सहिष्णुता के इस युग में कुछ लोगों को अब भी कभी कभी इस व्याधि का दौरा हो जाता है। इसका बुरा परिणाम यह होता है कि जो लोग शुद्ध हृदय से हिंदी-साहित्य की सेवा करना चाहते हैं या कर रहे हैं वे भी इन लोगों के द्वारा अपने मार्ग से बहका दिए जाते हैं और लाख प्रयास करने पर भी उनको इस विचित्र उलझन को सुलझाने का मार्ग नहीं मिलता। अब हम शब्दसागर के लेख की भ्रम-पूर्ण बातों का निराकरण करते हैं।

पहली बात तो श्री हरिवंशजी के जन्म-संवत् के विषय में है। शब्दसागर के सुयोग्य भूमिकालेखकों ने जन्म-संवत् १५५९ माना

है। इसके प्रमाण में केवल इतना ही लिखा है कि "राधावल्लभीय संप्रदाय के पंडित गोपालप्रसाद शर्मा ने संवत् १५३० माना है जो सब घटनाओं पर विचार करने पर ठीक नहीं जान पड़ता है।" परंतु उन्होंने उल्लेख एक ही घटना का किया है। अस्तु, हम सुयोग्य संपादकों की "सब घटनाओं" को अपने सामने न रखते हुए स्वतंत्र रीति पर ही विचार करते हैं; और जिस एक घटना का उन्होंने उल्लेख किया है उसकी वास्तविकता पर पीछे प्रकाश डालेंगे।

विचार यह करना है कि सं० १५५९ वाली बात प्रारंभ हुई कहाँ से। हमारे संप्रदाय में श्री महाप्रभुजो के समकालीन महानुभावों से लेकर आज पर्यंत यह सुदृढ़ और पुष्ट प्रमाणों से युक्त मत है कि श्री महाप्रभु का जन्म-संवत् १५३० है। परंतु श्री गौड़ीय संप्रदाय के महात्मा भगवत् मुदितजी ने अपने ग्रंथ 'रसिक अनन्यमाल' में "जन्म-संवत् १५५९ माना है"; परंतु उन्होंने तत्कालीन समय का जो वर्णन अपने ग्रंथ में किया है उससे संवत् १५५९ पुष्ट नहीं होता। इस बात को हम इस प्रकार पुष्ट करते हैं कि संवत् १५३० में दिल्ली पर बहलोल लोदी का आधिपत्य था और संवत् १५५९ में सिकंदर लोदी का। इतिहास कहता है कि बहलोल और सिकंदर दोनों अच्छे शासक थे। दोनों में भेद इतना ही था कि बहलोल की दृष्टि में हिंदू और मुसलमान दोनों सम थे और सिकंदर कट्टर मुसलमान था, उसने कई मंदिर तुड़वाए और उनके स्थान में मस्जिदें बनवाईं। अब देखना यह है कि महात्मा भगवत् मुदितजी ने महाप्रभुजी के जन्म-समय पर तत्कालीन राजद्वारी अवस्था का कैसा वर्णन किया है। वे श्रीमन्महाप्रभुजो के पिता श्री व्यासजी के लिये लिखते हैं—

> देस देस मधि सुजस प्रभास्यौ। पृथ्वीपति लौं जाय प्रकास्यौ॥
> बहु आदर सौं बोलि पठाए। नृप को मिलन मिश्रजी आए॥

सब सन गुनन परीक्षा लीनी। चारहजारी की निधि दीनी॥
बड़ी समृद्ध भई इक ठौरी। पातसाह संग रहै निसि भोरी॥

यह वार्तालाप बादशाह का व्यास मिश्र के साथ था। उनके बाद बादशाह ने श्रीमन्महाप्रभु को भी निमंत्रित किया था—

ब्यास मिश्र निज धाम पधारे। पृथ्वीपति तब बचन उचारे॥
बहु गुनवंत पुरुष है ऐसौ। सुत हू ताकौ ह्वै है तैसौ॥
खेद सहित नृप चिंता घेरे। मंत्री समाधान कौं प्रेरे॥
कुँवर तुम्हैं नृप देख्यौ चाहै। ब्यास मिश्र के गुन अवगाहै॥
पट भूषण धन दैहैं भलौ। मन सब लेहु नृपति पै चलौ॥
कुँवर कही तब मधुरी बानी। काल-ग्रसित सब विश्व बखानी॥
ब्रह्मलोक लौं नश्वर जानी। नृप संपति की कौन कहानी॥
निस्पृहता निर्वेद सुनि कहयौ नृपति सौं जाइ।
अचिरज ताहू कौं भयौ महापुरुष के भाइ॥

तत्कालीन राजकीय अवस्था के इस वर्णन से यह पुष्ट होता है कि वह समय सांप्रदायिक सहिष्णुता का था। बादशाह की नीति समाधान-पूर्ण थी और वह हिंदू विद्वानों का भी समुचित आदर करता था। इस नीति का पालन बहलोल लोदी जैसे बादशाह द्वारा ही हो सकता था, सिकंदर लोदी द्वारा संभव न था। व्यास मिश्र के बाद बादशाह के द्वारा हितहरिवंशजी को निमंत्रण देने का वर्णन भी ध्यान देने योग्य है। क्या सिकंदर लोदी यह कर सकता था? क्या उसकी धार्मिक कट्टरता उसको एक हिंदू *विद्वान् के पुत्र को, केवल पुत्र होने के नाते ही, अपने यहाँ बुलाने के लिये इस प्रकार उत्कंठित कर सकती थी?* इस बात का उत्तर विद्वान् पाठक स्वयं दे लें। फिर एक स्थल पर महात्मा भगवत् मुदितजी यह लिखते हैं कि जब निकुंजेश्वरी श्री राधिकाजी से

श्रीमन्महाप्रभुजी को मंत्र की प्राप्ति हो गई तब उन्होंने, श्री राधिकाजी के आज्ञानुसार, कूप में से द्विभुजस्वरूप निकालकर—

मंदिर देवन मौंझ बनायो । तहाँ सु प्रभु कौ लै पधरायो ॥
राग भोग नित नूतन करहीं । अपने तन मन करि विस्तरहीं ॥

अब विचार कीजिए कि एक कट्टर मुसलमान बादशाह के ही राजत्व-काल में, जैसा कि सिकंदर लोदी था और जिसने मंदिर तुड़-वाकर मस्जिदें बनवाई थीं, क्या देवबन में—बिलकुल उसकी नाक के ही नीचे—कोई हिंदू नया मंदिर बनवा सकता था। यह घटना भी इस बात को पुष्ट करती है कि उस समय बहलोल लोदी का शासन-काल था, अर्थात् सं० १५३० में ही महाप्रभु का जन्म हुआ था। हमारे सांप्रदायिक ग्रंथों में, जो श्रीमन्महाप्रभु के समकालीन महानुभावों के रचे हुए हैं, सबसे प्रामाणिक ग्रंथ 'श्री हितसेवक-वाणी' है। यह श्रीमन्महाप्रभुजी के परम प्रिय शिष्य सेवकजी का लिखा हुआ है। उन्होंने श्रीमन्महाप्रभुजी के जन्म-समय की अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है—

म्लेच्छ सकल हरिजस विस्तरहिं । परम ललित वाणी उच्चरहिं ।
करहिं प्रजा-पालन सबहिं ।
अपनी अपनी रुचि बसवास ॥
जस बरणौ हरिवंश विलास ।
श्री हरिवंशहिं गायहैं ॥

इससे भी यही बात पुष्ट होती है कि वह समय सहिष्णुता का था और इसका कारण तत्कालीन बादशाह की नीति ही था। हम बराबर देखते हैं कि मध्यकालीन भारत में धार्मिकता या कट्टरता का संबंध तत्कालीन शासक से ही होता था। 'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत खूब चरितार्थ होती थी और थोड़े-बहुत रूप में विश्व के विभिन्न देशों में यह कहावत अब भी चरितार्थ है।

अँगरेज जाति की धार्मिक सहिष्णुता के कारण उसके द्वारा शासित देशों में हम आज धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार देखते हैं और रूस की सोविएट सरकार द्वारा ईश्वर का बहिष्कार किए जाने पर हम सारी रूसी प्रजा को ईश्वर का बहिष्कार करते हुए पाते हैं। अस्तु, हम इस संबंध में अन्य ग्रंथों को उद्धृत नहीं करना चाहते; क्योंकि इससे लेख का कलेवर बहुत बढ़ जायगा। हम इस बात को सिद्ध कर चुके हैं कि श्रीमन्महाप्रभु के जन्म के समय उत्तर भारत सहिष्णु मुसलमान बादशाह द्वारा शासित था, और वह बादशाह बहलोल लोदी के सिवा और कोई नहीं था। बहलोल का राजत्व-काल सं० १५५९ के बदले १५३० में ही था। यहाँ तक तो हमने श्री महात्मा भगवत् मुदितजी की वाणी में वर्णित 'हित'-चरित्र पर ही विचार किया है। अब हम श्रीमन्महाप्रभु के जन्म-संवत् के विषय में दो-एक अन्य प्रमाण भी देते हैं।

पहला प्रमाण तो श्री मन्महाप्रभु के द्वितीय पुत्र श्री कृष्णचंद्रजी के ग्रंथ 'कर्णानंद' की श्री प्रबोधानंद-कृत टीका का है। प्रबोधानंदजी लिखते हैं—

वियद्गुणेषु शुभ्रांशु संख्ये संवत्सरे शुभे।
माधवे मासि शुक्लैकादश्यां सोमवासरे ॥
गोस्वामी हरिवंशाख्यो श्रीमन्माथुरमंडले।
बादग्रामे शुभस्थाने प्रादुर्भूतो महान् गुरुः ॥

इसके अनुसार संवत् १५३० निकलता है। दूसरा प्राचीन प्रमाण श्री 'हितमालिका' ग्रंथ में है। यह संवत् १५५७ में समाप्त हुआ है। इसमें भी जन्म-सं० १५३० ही माना गया है। महात्मा भगवत् मुदितजी का ग्रंथ इन दोनों ग्रंथों के लगभग १५० वर्ष बाद लिखा गया है। तीसरी बात यह है कि प्रायः सब ग्रंथों में श्रीमन्महाप्रभु के बड़े पुत्र श्री वनचंद्रजी का जन्म-संवत् १५४७ है। इससे भी सं० १५३० पुष्ट होता है।

अब हम उस घटना पर विचार करते हैं जिसका उल्लेख विद्वान् भूमिका-लेखकों ने अपने लेख में किया है और जिसको उन्होंने संवत् १५५६ का पोषक माना है। उन्होंने लिखा है—"ओरछा-नरेश महाराज मधुकरशाह के राजगुरु श्री हरीराम व्यासजी सं० १६२२ के लगभग आपके शिष्य हुए थे।" परंतु भगवत् मुदितजी की वाणी इस विचार को पुष्ट नहीं करती। भगवत् मुदितजी की वाणी में हरीराम व्यासजी के जीवन-चरित्र का वर्णन है। उससे हमको केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वे ४२ वर्ष की अवस्था के बाद ही श्रीमन्महाप्रभु के दीक्षित हुए थे। किंतु विशेष खोज करने पर हमको भगवत् मुदितजी की वाणी में ही वर्णित परमानंददासजी के चरित्र से इस संबंध में बहुत पक्की बातों का पता चला है। परमानंददासजी क्षत्रिय थे और हुमायूँ बादशाह के मनसबदार थे। बादशाह ने इनको ठट्ठे की जागीर दी थी। ये वहीं रहते थे। एक बार पूरनदासजी, जो श्री हितहरिवंशजी के शिष्य थे, भ्रमण करते हुए ठट्ठे में पहुँचे। पूरणदासजी ने—

> करया करि संदेह नसायौ। श्री हरिवंश कौ धर्म सुनायौ॥
> यह जु एक मन कौ पद गायौ। व्यासहिं कह्यौ सु अर्थ बतायौ॥

परमानंददासजी को "यह जु एक मन बहुत ठौर करि कह कौनहिं सचुपायौ" आदि श्रीहित महाप्रभुजी-कृत श्री चौरासीजी का पद सुनाया। महात्मा भगवत् मुदितजी ने हरीराम व्यासजी के चरित्र में लिखा है कि इसी पद को सुनकर व्यासजी के हृदय पर श्रीमन्महाप्रभुजी के व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ा था और थोड़ा शास्त्रार्थ करने पर ही वे उनके शिष्य हो गए थे। परमानंददासजी के समय का कुछ पता हमको उनके वर्णित चरित्र से लगता है। परमानंददासजी हुमायूँ के मनसबदार थे। हुमायूँ का

राजत्व-काल सन् १५३० ई० तक है, अर्थात् संवत् १५८७ से १५६७ तक है। इस हिसाब से व्यासजी का दीक्षा-काल संवत् १५८७ से पहले या उसी के लगभग मानना पड़ेगा। अतएव हरीराम व्यासजी का सं० १६२२ में शिष्य होना किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होता।

हिंदी-शब्दसागर के लेख में यहाँ तक तो श्रीमन्महाप्रभु के जन्म-संवत् के विषय में चर्चा है; इसके आगे श्री राधावल्लभीय संप्रदाय के विषय में ऐसी ही जनश्रुतियों की भरमार है। सुयोग्य लेखक लिखते हैं—"कहते हैं हितहरिवंशजी पहले मध्वानुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे।" इस 'कहते हैं' ने बड़ा गड़बड़ मचाया है। कौन कहते हैं—यह स्पष्ट लिखना चाहिए। बिना आधार के किसी बात को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

कृष्णगोपाल शर्म्मा

---

(३) समालोचना

(१) नेह-निकुंज—लेखक, दीवान बहादुर, कैप्टेन चंद्रभानुसिंह, 'रज'। प्रकाशक, प्रेम-भवन, गरौली। प्रथमावृत्ति, संवत् १९९०, पृष्ठ २९+६८। मूल्य, 'कृपा'।

नेह-निकुंज के लेखक श्रीयुत दीवान बहादुर कैप्टेन चंद्रभानुसिंह, 'रज' बुंदेलखंड के अंतर्गत गरौली रियासत के स्वामी हैं। उन्होंने राज्य-कार्य का संचालन करते हुए शिखा-सूत्र त्यागकर (प्रबलानंद नाम ग्रहण करके) संन्यास ले लिया है; पर साथ ही वे श्री राधा-कृष्ण के अनन्य उपासक हैं। इस प्रकार इस भौतिक वाद के युग में वे राजर्षि जनक का सा विषम व्रत पालन कर रहे हैं। वे

साहित्य-संसार में "प्रेम-सतसई" के द्वारा पहले ही पदार्पण कर चुके हैं। इधर "नेह-निकुंज" में उनकी वे भाव-तरंगें दिखाई पड़ती हैं जो उनके उपास्य श्री राधा-माधव की मंजु मूर्ति की छवि देखने के अनंतर उनके मानस में उद्वेलित हुई थीं। इस निकुंज में वे अपने प्रियतम के साथ खुलकर खेलते हुए दीख पड़ते हैं। व्रज-पति के प्रेमी होने के कारण उनकी भाव-जाह्नवी रसवती व्रजवाणी में सहस्रधा होकर प्रवाहित हुई है। दोहा, सोरठा, पद्धरी, घनाचरी, सवैया, छप्पय आदि विविध छंदों के साथ ही व्रज-भाषा के रससिद्ध कवियों के से अनूठे पदों का आश्रय पाकर 'रज' की अनुभूति बहुत ही सरस रूप में व्यक्त हुई है। उन्होंने इस जमाने में भी पुराने समय के से भक्तों का दिल पाया है, इस कारण उनकी रचना में अनेक स्थलों पर तन्मय कर देने की शक्ति है। कवि ने श्रीकृष्ण के जीवन से संबद्ध विविध घटनाओं पर जो कुछ कहा है उसी का इसमें संग्रह हुआ है। इसमें रीति-कालीन कवियों की सी अभिव्यंजनापद्धति का अवलंबन हुआ है। निस्संदेह कवि की सहृदयता और भावुकता प्रशंसनीय है। ऐसी अनूठी पुस्तक का दाम दुनियावी सिक्कों में सीमित न करके "कृपा" रखकर इसे सचमुच अमूल्य रखा गया है। यह पुस्तिका स्नेही भक्तों के बड़े काम की वस्तु है।

(२) **हिंदी-मंदिर, प्रयाग की तीन पुस्तकें**—हिंदी में बालकोपयोगी साहित्य का अभाव सा है। इधर कुछ दिनों से कई लेखकों और प्रकाशकों ने इस अभाव की पूर्त्ति करने का प्रयत्न करना आरंभ किया है। प्रयाग के हिंदी-मंदिर ने उच्च कोटि के साहित्य के प्रकाशन के साथ ही बालकों के लिये भी कई उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित की हैं। उनमें से तीन पुस्तिकाएँ इस समय हमारे सामने हैं। इनके लेखक हैं 'वानर' के संपादक श्री आनंदकुमार।

पहली पुस्तक 'राक्षसों की कहानियाँ' है। इसमें ८६ पृष्ठों में भिन्न भिन्न छः कहानियाँ संगृहीत हैं। ये कहानियाँ बालकों के मनोरंजन के निमित्त लिखी गई हैं। इस कार्य में लेखक को अवश्य सफलता मिली है। 'पक्षी का प्रेम' शीर्षक कहानी तो बहुत सुंदर बन पड़ी है। परंतु शेष कहानियों में राक्षसों, डाइनों, भूतों आदि की हत्या करते हुए, भयंकर और बीभत्स व्यापारों में निरंतर संलग्न देखने से छोटी आयु के बालकों के कोमल हृदय पर उनका सुरुचिपूर्ण प्रभाव न पड़ेगा। उन्हें इन कहानियों में अपनी अद्भुत-व्यापार-प्रियता की तुष्टि भले ही मिले; परंतु इनसे उनके संस्कार परिष्कृत न होंगे। 'राक्षस और सेनापति' इस संग्रह की सबसे पहली कहानी है; फिर भी उसका कथानक इतना जटिल है कि शिशु पाठक उसे समझने में समर्थ न हो सकेंगे।

दूसरी पुस्तक 'इतिहासों की कहानियाँ' है। इसमें थोड़े में शिवाजी, प्रताप, पन्ना धाय, नेपोलियन और महमूद गजनवी के सोमनाथ पर धावे की एक विशिष्ट घटना के अतिरिक्त भक्त क्रिस्टफर के सेवा-भाव की एक गाथा लिखी गई है। इसके पढ़ने से बच्चों के हृदय में वीरता, देश-प्रेम, आत्मनिर्भरता, सेवा जैसी उदात्त भावनाएँ जागरित होंगी, इसमें संदेह नहीं। महापुरुषों के जीवन के दो-एक महात्त्वपूर्ण अंशों को लेकर उनका इस प्रकार का संक्षिप्त परिचय छोटे बालकों के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

तीसरी पुस्तक का नाम है 'बलभद्दर'। इसमें संभव और असंभव का विचित्र सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है। पुस्तक के आरंभ में लेखक ने वास्तविकता लाने का प्रयास अवश्य किया है, परंतु थोड़ी दूर चलकर वह उसका सम्यक् निर्वाह नहीं कर सका। वृद्ध कृष्णप्रसाद जो अपनी कन्या 'आशा' के आग्रह से बहुत दिनों के बाद बड़ी तकलीफ से घोड़े पर चढ़े थे (पृष्ठ १८) वही आगे चल-

कर 'जोरों (?) से भागे और बाहर आकर एक पेड़ के ऊपर कूदकर जा चढ़े' (पृष्ठ २२)। इतना ही नहीं, वे पेड़ के 'ऊपर से एक घोड़े की पीठ पर कूद पड़े और उसकी लगाम पकड़कर एक ओर को उसे पूरी तेजी से खदेड़ा' (पृष्ठ ३४)। लेखक, जान पड़ता है, कवि भी हैं। परंतु उन्होंने पुस्तक के अंतिम अनुच्छेद में 'आशा' के विषय में जो कल्पना की है वह है तो सुंदर, परंतु ऐसी क्लिष्ट है कि बालकों के मनोविज्ञान से परिचित लोगों को उनके वय के अनुरूप नहीं जँचेगी। 'बलभद्दर' को लेखक ने 'केवल पाँच घंटे में लिखा है'। हम उसकी इस द्रुत-लेखन-शक्ति की प्रशंसा भले ही करें, परंतु इस प्रकार की जल्दबाजी से जो गलतियाँ हुआ करती हैं उनसे होनेवाले अनर्थों से आँख नहीं हटा सकते। बालकों का हृदय कच्ची मिट्टी के समान समझा जाता है, जिस पर पड़ी हुई छाप तत्काल प्रभाव डालती और अमिट सी होती है। उनको बाल्यावस्था से ही अस्त-व्यस्त, पूर्वापर-संबंध से रहित, कथाएँ सुनाना जितना रोका जा सके उतना ही कल्याण-प्रद होगा। यदि श्री आनंद-कुमार 'बहुत सी गलतियाँ होना कोई आश्चर्य नहीं' मानते हुए भी इस कहानी को जल्दी छपाने का लोभ-संवरण कर सकते तो उनके 'सुकुमार और सुंदर साथियों' का 'मनोरंजन' तो आगे भी होता, साथ ही उन्हें एकतथ्यता और अन्विति का ज्ञान अभी से हो चलता। इससे आगे चलकर उनकी भाषा स्वत. शुद्ध और शैली गठित हो जाती।

भाषा की सरलता और सुबोधता की दृष्टि से उपर्युक्त तीनों पुस्तकें प्रशंसनीय हैं परंतु कुछ अशुद्ध शब्द, वाक्यांश और वाक्य अवांछनीय हैं; जैसे,—

घनिष्टता; रक्खा; साहब सलाम (सलामत ?); कई पलँगें बिछी हुई थीं (लिंग ?); जोरों से (?) भागे, शराब नहीं पिया (?); जब वह मरने लगा तो (तब ?) उसने कहा था.........।

लेखक ने कुछ ऐसे अँगरेजी शब्दों का प्रयोग किया है जिनके पर्याय हिंदी में पूर्णतया प्रचलित हैं; जैसे—ड्रेस, गवर्नर, सर्टीफिकेट। विदेशी भाषाओं के शब्दों को तत्सम रूप में प्रयुक्त करना छोटे बच्चों के लिये त्याज्य है। वे उनका अर्थ न समझ सकेंगे।

इन तीनों पुस्तकों में कथानक से संबंध रखनेवाले कई रेखा-चित्र भी दिए गए हैं। उनसे इनकी उपयोगिता बहुत बढ़ गई है। परंतु चित्रों के विषय में एक बड़ी भारी शिकायत है। आजकल स्कूली किताबों में बहुधा ऐसे चित्र देखे जाते हैं जिनका कथानक के प्रसंग से कोई संबंध नहीं होता। प्रकाशक चित्र बनवाने का व्यय बचाने के लिये कभी कभी कहीं से कोई चित्र लेकर उन्हें जोड़ दिया करते हैं। इन चित्रों से लाभ के बदले जो हानि होती है उसकी ओर कदाचित् पैसा कमाने के लोभ के कारण वे ध्यान नहीं देते। खेद है 'बलभद्र' और 'राक्षसों की कहानियाँ' में तीन चित्र बिलकुल एक ही दिए गए हैं। इनमें से 'बलभद्र' के पृष्ठ ९ पर जो चित्र दिया गया है उसका संबंध भी उस स्थल के प्रसंग से नहीं मिलता। उसमें पुरुष के चेहरे पर भय और आशंका का जो भाव है वह 'आशा' और 'बलभद्र' के जीवन के वहाँ पर वर्णित वृत्तांत से नितांत असंबद्ध है। हाँ, यह चित्र वास्तव में 'राक्षस और सेनापति' (पृष्ठ ५) के आख्यान के लिये सर्वथा उपयुक्त है। इसी तरह 'राक्षसों की कहानियाँ' के पृष्ठ ५४ और ६७ पर के ही चित्र 'बलभद्र' में क्रमशः १७ वें और १२ वे पृष्ठ पर छपे हैं। अच्छा होता, यदि ये चित्र इस तरह से विभिन्न वृत्तांतों में जबरदस्ती न घुसेड़े जाते।

विद्याभूषण मिश्र

---

(१३) खड़ी बोली के संख्यावाचक शब्दों की उत्पत्ति

[लेखक—श्री शिवसहाय त्रिवेदी, एम० ए, काशी]

आदिम काल में मनुष्य की आवश्यकताएँ ज्यों ज्यों बढ़ने लगी होंगी त्यों त्यों उसकी भाषा में नए नए शब्दों का समावेश होता गया होगा। नाम, धातु, सर्वनाम तथा विशेषणों आदि के समान भाषा में धीरे धीरे संख्यावाचक शब्द भी बन गए होंगे। उस समय आजकल के प्रच-

संख्यावाचक शब्दों की प्राचीनता

नोट—इस लेख के स्पष्टीकरण के लिये निम्न-लिखित सांकेतिक चिह्नों का ज्ञान लेना आवश्यक है।

> इस चिह्न का अर्थ है 'leading to' अर्थात् 'व्युत्पन्न करता है'। जिस शब्द के पश्चात् यह चिह्न हो उस शब्द को उसके बादवाले शब्द की उत्पत्ति का कारण समझना चाहिए।

< इस चिह्न का अर्थ है 'derived from' अर्थात् 'व्युत्पन्न हुआ है'। जिस शब्द के पश्चात् यह चिह्न लगाया जाता है उस शब्द को उसके आगे के शब्द से व्युत्पन्न समझना चाहिए।

+ जिन दो शब्दों या अक्षरों के मध्य में यह चिह्न होता है उन्हें यह मिलाता है अर्थात् उन दोनों के योग से एक दूसरा शब्द या अक्षर बन जाता है।

= इस चिह्न का प्रयोग दो अर्थों में होता है—(१) समानार्थ सूचित करने के लिये; जैसे अश्व = घोड़ा। (२) अनेक शब्दों या वर्णों के योग से एक नवीन शब्द या अक्षर के बन जाने के अर्थ में; जैसे, दश + अश्वमेध = दशाश्वमेध। श् + ई = शी।

० जिस शब्द के पूर्व यह चिह्न हो वहाँ समझना चाहिए कि उस शब्द के पहले किसी अन्य शब्द या वर्ण का योग होता है तथा जिस शब्द के पश्चात् यह चिह्न हो वहाँ समझना चाहिए कि उस शब्द के पश्चात् किसी वर्ण या शब्द का योग किया जाता है।

लित संख्यावाचक शब्दों के समान सुव्यवस्थित तथा नियमित संख्यावाचक शब्द न रहे होंगे। उनका क्रमिक विधान और उनकी सुव्यवस्था ज्योतिष और गणित शास्त्रों के प्रारंभिक काल में हुई होगी। पर ये दोनों शास्त्र भी कम पुराने नहीं हैं। संसार के सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में भी अनेक संख्यावाचक शब्द पाए जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि संख्यावाचक शब्द बहुत प्राचीन काल से आर्यों की भाषा में विद्यमान थे। भारतवर्ष में गणित तथा ज्योतिष शास्त्रों और संस्कृत भाषा की उन्नति के साथ साथ संख्यावाचक शब्दों का भी विकास होता गया था और जिस समय संस्कृत भाषा खूब परिपुष्ट हो गई थी उस समय संख्यावाचक शब्द भी उसमें पूर्णतया विकसित और सुव्यवस्थित रूप में वर्तमान थे।

खड़ी बोली के संख्यावाचक शब्दों की उत्पत्ति के विषय में विचार करने से पहले अच्छा होगा कि संक्षेप में हम खड़ी बोली की उत्पत्ति को समझ लें।

खड़ी बोली की उत्पत्ति, भारतवर्ष की प्राचीन भाषाएँ

वैदिक काल में उत्तरी भारत में जो भाषा बोली जाती थी उसके नाम का ठीक पता नहीं लगता। वेदों की भाषा का बोध कराने के लिये महर्षि पाणिनि ने अपने व्याकरण-ग्रंथ में 'छंदस्' शब्द का प्रयोग किया है। पर किसी अन्य प्रमाण से यह सिद्ध नहीं होता कि वेदों की भाषा का नाम 'छंदस्' था। विद्वानों का अनुमान है कि देश-भेद के कारण उस भाषा में बड़ा

---

० जिस शब्द के ऊपर यह चिह्न लगा हो उस शब्द को विद्वानों के द्वारा कल्पित समझना चाहिए।

§ इस चिह्न से 'आर्टिकिल' (Article) का संकेत होता है।

सं० = संस्कृत अप० = अपभ्रंश

प्रा० = प्राकृत ख० बो० = खड़ी बोली

परिवर्तन होने लगा, जिससे उसके अनेक भेद हो गए होंगे। वेदों के भिन्न भिन्न छंदों से भी यही प्रकट होता है कि वे सब एक ही बोली में नहीं हैं। अतः एक सार्वदेशिक भाषा की आवश्यकता समझी गई, और उस समय की बोलियों के शिष्ट, प्रसिद्ध तथा उपयोगी प्रयोगों को लेकर एक नियम-बद्ध भाषा बनाई गई, जिसका नाम पीछे से 'संस्कृत' भाषा हो गया। यही समस्त भारत-भूमि की साहित्यिक भाषा हुई। शिक्षित, सभ्य और पंडित लोग बोलचाल में भी इसी भाषा का व्यवहार करते थे, पर अपढ़ और गँवारों की भाषा दूसरी ही थी। संस्कृत भाषा के शब्दों का शुद्ध उच्चारण उनसे नहीं करते बनता था। वे जो भाषा बोलते थे उसमें संस्कृत के अशुद्धोच्चारित तथा संस्कृत के पहले की बोलियों के शब्द थे। वे लोग कुछ ऐसे शब्दों का भी व्यवहार करते थे जो उन असभ्य जातियों की बोलियों से आ गए थे, जो आर्यों के भारतवर्ष में आने से पहले यहाँ रहती थीं। इस दूसरी भाषा का नाम 'प्राकृत' हुआ। काल के अनुसार विद्वानों ने प्राकृत को दो नामों में विभक्त किया है—पुरानी या पहली प्राकृत और दूसरी। पहली प्राकृत 'पाली' भाषा के नाम से प्रसिद्ध है और दूसरी 'प्राकृत' के नाम से। देश-भेद के कारण प्राकृत के भी अनेक भेद हो गए थे, जिनमें से प्रसिद्ध ये हैं—पैशाची, शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी और महाराष्ट्री। पैशाची प्राकृत काश्मीर और अफगानिस्तान में, शौरसेनी प्राकृत गंगा और यमुना के दोआब के पश्चिमी भाग के आसपास, मागधी प्राकृत मगध देश में, अर्द्धमागधी प्राकृत गंगा और यमुना के दोआब के पूर्व में और महाराष्ट्री प्राकृत महाराष्ट्र देश में तथा उसके आसपास बोली जाती थी। कुछ काल के बाद, बौद्धों और जैनों के समय में, प्राकृत भाषाएँ साहित्यारूढ़ हो गईं और यहाँ तक नियमों के बंधनों से जकड़ गईं कि वे सर्व-साधारण की बोलचाल

लित संख्यावाचक शब्दों के समान सुव्यवस्थित तथा नियमित संख्यावाचक शब्द न रहे होंगे। उनका क्रमिक विधान और उनकी सुव्यवस्था ज्योतिष और गणित शास्त्रों के प्रारंभिक काल में हुई होगी। पर ये दोनों शास्त्र भी कम पुराने नहीं हैं। संसार के सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में भी अनेक संख्यावाचक शब्द पाए जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि संख्यावाचक शब्द बहुत प्राचीन काल से आर्यों की भाषा में विद्यमान थे। भारतवर्ष में गणित तथा ज्योतिष शास्त्रों और संस्कृत भाषा की उन्नति के साथ साथ संख्यावाचक शब्दों का भी विकास होता गया था और जिस समय संस्कृत भाषा खूब परिपुष्ट हो गई थी उस समय संख्यावाचक शब्द भी उसमें पूर्णतया विकसित और सुव्यवस्थित रूप में वर्तमान थे।

खड़ी बोली के संख्यावाचक शब्दों की उत्पत्ति के विषय में विचार करने से पहले अच्छा होगा कि संक्षेप में हम खड़ी बोली की उत्पत्ति को समझ लें। वैदिक काल में उत्तरी भारत में जो भाषा बोली जाती थी उसके नाम का ठीक पता नहीं लगता। वेदों की भाषा का बोध कराने के लिये महर्षि पाणिनि ने अपने व्याकरण-ग्रंथ में 'छंदस्' शब्द का प्रयोग किया है। पर किसी अन्य प्रमाण से यह सिद्ध नहीं होता कि वेदों की भाषा का नाम 'छंदस्' था। विद्वानों का अनुमान है कि देश-भेद के कारण उस भाषा में बड़ा

खड़ी बोली की उत्पत्ति, भारतवर्ष की प्राचीन भाषाएँ

---

० जिस शब्द के ऊपर यह चिह्न लगा हो उस शब्द को विद्वानों के द्वारा कल्पित समझना चाहिए।

§ इस चिह्न से 'आर्टिकिल' (Article) का संकेत होता है।

सं० = संस्कृत अप० = अपभ्रंश
प्रा० = प्राकृत ख० बो० = खड़ी बोली

परिवर्तन होने लगा, जिससे उसके अनेक भेद हो गए होंगे। वेदों के भिन्न भिन्न छंदों से भी यही प्रकट होता है कि वे सब एक ही बोली में नहीं हैं। अतः एक सार्वदेशिक भाषा की आवश्यकता समझी गई, और उस समय की बोलियों के शिष्ट, प्रसिद्ध तथा उपयोगी प्रयोगों को लेकर एक नियम-बद्ध भाषा बनाई गई, जिसका नाम पीछे से 'संस्कृत' भाषा हो गया। यही समस्त भारत-भूमि की साहित्यिक भाषा हुई। शिक्षित, सभ्य और पंडित लोग बोल-चाल में भी इसी भाषा का व्यवहार करते थे, पर अपढ़ और गँवारों की भाषा दूसरी ही थी। संस्कृत भाषा के शब्दों का शुद्ध उच्चारण उनसे नहीं करते बनता था। वे जो भाषा बोलते थे उसमें संस्कृत के अशुद्धोच्चारित तथा संस्कृत के पहले की बोलियों के शब्द थे। वे लोग कुछ ऐसे शब्दों का भी व्यवहार करते थे जो उन असभ्य जातियों की बोलियों से आ गए थे, जो आर्यों के भारत-वर्ष में आने से पहले यहाँ रहती थीं। इस दूसरी भाषा का नाम 'प्राकृत' हुआ। काल के अनुसार विद्वानों ने प्राकृत को दो नामों में विभक्त किया है—पुरानी या पहली प्राकृत और दूसरी। पहली प्राकृत 'पाली' भाषा के नाम से प्रसिद्ध है और दूसरी 'प्राकृत' के नाम से। देश-भेद के कारण प्राकृत के भी अनेक भेद हो गए थे, जिनमें से प्रसिद्ध ये हैं—पैशाची, शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी और महाराष्ट्री। पैशाची प्राकृत काश्मीर और अफगानिस्तान में, शौर-सेनी प्राकृत गंगा और यमुना के दोआब के पश्चिमी भाग के आस-पास, मागधी प्राकृत मगध देश में, अर्द्धमागधी प्राकृत गंगा और यमुना के दोआब के पूर्व में और महाराष्ट्री प्राकृत महाराष्ट्र देश में तथा उसके आसपास बोली जाती थी। कुछ काल के बाद, बौद्धों और जैनों के समय में, प्राकृत भाषाएँ साहित्यारूढ़ हो गईं और यहाँ तक नियमों के बंधनों से जकड़ गईं कि वे सर्व-साधारण की बोलचाल

से उठ गईं। उनके स्थान में उन्हीं के शब्दों के विकृत रूपों से बनी हुई बोलियों का व्यवहार होने लगा। ये बोलियाँ अपभ्रंश कहलाईं। प्राकृतों के समान ये भी पैशाची, शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी और महाराष्ट्री भेदों में विभक्त की जा सकती हैं। इन अपभ्रंशों के बोले जाने के स्थान वे ही प्रदेश थे जो इनकी मूल प्राकृतों के थे। कुछ समय के बाद इन अपभ्रंशों की भी वही दशा हुई जो संस्कृत और प्राकृत की हुई थी। साहित्यारूढ़ होकर ये भी नियमों से जकड़ गईं और साधारण बोलचाल में इनसे निकली हुई आधुनिक भारतीय भाषाओं—हिंदी, बँगला, मराठी और गुजराती इत्यादि—का व्यवहार होने लगा। जिस अपभ्रंश से जो भाषा निकली है उस भाषा का व्यवहार उसी प्रदेश में होता है जिसमें उसकी मूल-अपभ्रंश का होता था।

हिंदी भाषा का विस्तार

हिंदी भाषा इस समय जिस स्थान में बोली जाती है वह बहुत विस्तृत है। पूर्वी पंजाब और राजपूताना से लेकर बिहार तक तथा हिमालय की तराई से मध्य-प्रदेश तक जन-साधारण की बोलचाल की भाषा हिंदी ही है। देश-भेद से इसके अनेक भेद हैं जिनमें से प्रधान राजस्थानी, पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी हैं। अनेक विद्वान् बिहारी भाषा को भी हिंदी का ही एक उपभेद मानते हैं[1], और ऐसा मानना ठीक भी है। इसका स्पष्ट प्रमाण तो यही है कि मध्य-प्रदेश अथवा संयुक्तप्रांत का कोई भी हिंदी-भाषा-भाषी बिहारवालों की बोली का अधिकांश भाग समझ लेता है। पूर्वी हिंदी और बिहारी की शब्दावली प्रायः एक है। बँगला से कुछ प्रभावित होने के कारण बिहारी को हिंदी से अलग एक स्वतंत्र भाषा मान लेना भ्रम है। बिहारी के अंतर्गत मगही, मैथिली और भोजपुरी बोलियाँ हैं।

(1) 'हिंदी भाषा का विकास'—रायबहादुर श्यामसुंदरदास।

राजस्थानी के अंतर्गत जयपुरी, जोधपुरी, मेवाड़ी और मारवाड़ी आदि बोलियाँ, पश्चिमी हिंदी के अंतर्गत बुंदेली, कन्नौजी, ब्रजभाषा, बाँगड़ू और खड़ी बोली तथा पूर्वी हिंदी के अंतर्गत अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी हैं।

प्राकृतों और अपभ्रंशों आदि का वर्णन यहाँ अप्रासंगिक सा जान पड़ता है, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। हिंदी की भिन्न भिन्न शाखाओं में जो भेद देखे जाते हैं तथा हिंदी में शब्दों के जो रूप और प्रयोग पाए जाते हैं उनको समझने के लिये यह वर्णन नितांत आवश्यक है।

खड़ी बोली पर अन्य प्राकृतों का प्रभाव

खड़ी बोली मेरठ और दिल्ली के प्रांतों में तथा उनके आसपास बोली जानेवाली बोली का नाम है। ऊपर के वर्णन से प्रकट होता है कि पहले उस स्थान में शौरसेनी प्राकृत और फिर शौरसेनी अपभ्रंश का व्यवहार होता था। यही कारण है कि खड़ी बोली में शब्दों के रूप प्रायः शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के अनुसार मिलते हैं। इसी प्रकार बिहारी का मागधी प्राकृत और मागध अपभ्रंश से तथा पूर्वी हिंदी का अर्द्धमागधी प्राकृत और अर्द्धमागधी अपभ्रंश से विशेष संबंध है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि ये बोलियाँ अपने आसपास की बोलियों से बिलकुल भिन्न हैं। पड़ोस में रहनेवाले मनुष्यों का संपर्क बराबर होता ही रहता है और इस प्रकार पड़ोस में बोली जानेवाली बोलियाँ परस्पर एक दूसरी पर अपना प्रभाव डालती रहती हैं। इसके उदाहरण खड़ी बोली के संख्यावाचक शब्दों की उत्पत्ति के वर्णन में आगे मिलेंगे। हम देखेंगे कि खड़ी बोली के बहुत से संख्यावाचक शब्दों के रूप अर्द्धमागधी प्राकृत के शब्दों से कितना अधिक मिलते हैं, यद्यपि खड़ी बोली की उत्पत्ति शौरसेनी प्राकृत से हुई है।

ऊपर किए हुए वर्णन से यह भी प्रकट होता है कि हिंदी भाषा प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई संस्कृत से निकली है। अतः हिंदी के अधिकांश शब्द भिन्न भिन्न प्राकृतों और अपभ्रंशों से होकर आए हुए संस्कृत के ही शब्द हैं। इस समय हिंदी में जिन शब्दों का प्रयोग होता है वे उत्पत्ति की दृष्टि से अनेक भागों में विभाजित किए जा सकते हैं। "ऐसे शब्दों को, जो सीधे संस्कृत से हिंदी में आए हैं, 'तत्सम' शब्द कहते हैं। वे शब्द जो सीधे प्राकृत से आए हैं अथवा जो प्राकृत से होते हुए संस्कृत से निकले हैं 'तद्भव' शब्द कहलाते हैं। तीसरे प्रकार के शब्द वे हैं जिन्हें 'अर्धतत्सम' कहते हैं। इनके अंतर्गत वे सब संस्कृत के शब्द आते हैं जिनका रूपात्मक विकास प्राकृत-भाषियों द्वारा होते होते, भिन्न रूप हो गया है। इन तीनों प्रकार के शब्दों के अतिरिक्त हिंदी में कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जिनकी व्युत्पत्ति का कोई पता नहीं चलता। ऐसे शब्दों को 'देशज' कहते हैं। एक और प्रकार के शब्द जो किसी पदार्थ की वास्तविक या कल्पित ध्वनि पर बने हैं और जिन्हें 'अनुकरण' शब्द कहते हैं, हिंदी भाषा में पाए जाते हैं[1]।" इन सब शब्दों के अतिरिक्त हिंदी में कुछ ऐसे भी शब्द मिलते हैं जो विदेशी भाषाओं (अरबी, फारसी, तुर्की, अँगरेजी आदि) से हिंदी में ग्रहण किए गए हैं। खड़ी बोली के अधिकांश संख्यावाचक शब्द 'तद्भव' शब्दों के अंतर्गत आते हैं। कुछ अर्धतत्सम शब्द भी हैं। कुछ तत्सम शब्दों का भी प्रयोग होता है, पर वे सर्वसाधारण द्वारा प्रयुक्त नहीं हैं। दो-एक विदेशी शब्द भी मिलते हैं। देशज शब्दों का अभाव ही सा है। इन सब प्रकार के शब्दों के उदाहरण, संख्यावाचक शब्दों की उत्पत्ति के प्रसंग में, आगे मिलेंगे।

उत्पत्ति की दृष्टि से हिंदी शब्दों का वर्गीकरण

(१) हिंदी भाषा और साहित्य'—रायबहादुर श्यामसुंदरदास।

आधुनिककालीन आर्य-भाषाओं के संख्यावाचक शब्दों के रूपों में इतनी अधिक समानता देख पड़ती है कि उससे आश्चर्य सा उत्पन्न होता है। पहले कहा जा चुका है कि भिन्न भिन्न प्राकृतों और अपभ्रंशों के द्वारा प्रभावित होने के कारण विभिन्न आधुनिक आर्य-भाषाओं में तद्भव शब्दों के रूप बहुत अधिक बदल गए हैं। पर संख्यावाचक शब्दों में उतना अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। इसका क्या कारण है? डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी के मतानुसार मध्यकालीन (ईसा के ६०० वर्ष पूर्व से ईसा के १०० वर्ष बाद तक की) आर्य-भाषाओं की किसी एक प्रधान बोली के संख्यावाचक शब्दों को सभी प्रांतों की बोलियों ने ग्रहण किया है[1]।

(आधुनिककालीन भारतीय आर्यभाषाओं के संख्यावाचक शब्दों की समानता के कारण)

---

(१) "The numerals present one of the difficult phonetic problems of New Indo-Aryan. Their forms show a remarkable uniformity which is not in keeping with the several phonetic histories of the various New Indo-Aryan speeches. The names for the cardinals in the different New Indo-Aryan languages instead of going through their proper Middle Indo-Aryan forms back to old Indo-Aryan, appear rather to be based on some standardised Middle Indo-Aryan forms. These standardised forms originally belonged to some particular dialect of Middle Indo-Aryan, but they were early adopted in a standard dialect, a sort of Hindustani of ancient times, whence they were imposed upon the vernacular speeches in the different tracts of the country; × × × × × From the very close resemblance between the New Indo-Aryan cardinals and those of

संभवतः वह प्रधान बोली उत्तर भारत के मध्य भाग में बोली जानेवाली पाली भाषा थी जिसने सम्राट् अशोक के समय में समस्त भारतवर्ष में प्रधानता प्राप्त कर ली थी। पाली भाषा संस्कृत की समकालीन अथवा उससे भी कुछ पुरानी थी। संस्कृत का व्यवहार जिस समय साहित्य में बहुत अधिक होता था उस समय पाली केवल बोलचाल के ही काम में लाई जाती थी। दोनों की जननी एक ही भाषा थी जिसे महर्षि पाणिनि ने 'छंदस्' नाम दिया है। इसी भाषा की भिन्न भिन्न बोलियों में वेदों की ऋचाओं की रचना हुई है। इससे स्पष्टतः प्रकट होता है कि संस्कृत में जो संख्यावाचक शब्द पाए जाते हैं वे वैदिककालीन भाषाओं से ही उत्पन्न हुए हैं। वैदिककालीन बोलियों की उत्पत्ति आर्यों की उस भाषा से हुई है जो वे भारतवर्ष में आने से पहले मध्य-एशिया में बोलते थे। अर्थात् संस्कृत के संख्यावाचक शब्दों के भी मूल रूप मध्य-एशियावाली आर्य-भाषा के संख्यावाचक शब्द थे। आगे दिए हुए मूल आर्य-भाषा की भिन्न भिन्न योरोपीय, ईरानी तथा भारतीय शाखाओं के प्रधान संख्यावाचक शब्दों की तुलना करने से विदित हो जायगा कि ये सभी शब्द किसी एक ही मूल भाषा के शब्दों से निकले हैं—

Pali, the latter may be taken to represent the basis or source of the former.

—Origin and Development of the Bengali Language; § 511—S. K. Chatterjee.

संख्यावाचक शब्द स्वभाव से ही स्थायी और अपरिवर्तनशील होते हैं। इनमें ध्वनि तथा रूप का विकार कम होता है। इसी से तुलनात्मक अध्ययन के लिये संख्यावाचक शब्द ही चुने जाते हैं। अतएव चटर्जी महाशय की कल्पना के बिना भी काम चल सकता है।—संपादक।

संस्कृत	आवेस्ती	ग्रीक	लैटिन	गौथिक	स्लावेनिक
द्वौ	द्व	डुग्रो	डुग्रो	त्वइ	द्वा
त्रि	थ्रि्	ट्रेस	ट्रेस	थ्रे्, इस्	त्रिजे
चत्वार	चश्वर	टेट्टरेस	क्वटुग्रार	फिद्वौर	चेतैरे
पञ्च	पंच	पॅट	क्विक्वे	फिफ	पॅकि (लिथुएनियन)
षष	ख्वस	एक्स	सेक्स	सइहस्	स्येस्यि ,,
सप्त	हप्त	एप्टा	सेप्टेम्	सिबुन्	सेप्तैनि ,,
अष्ट	अश्ट	ओक्टे	ओक्टो	अहतउ	असूङ्तुनि ,,
नव	नव	एइने	नोवेम्	निउन्	नेविन्स ,,
दश	दस	डेक	डेकेम्	तेहुन्	....

अतः हम कह सकते हैं कि आधुनिककालीन आर्य-भाषाओं के संख्यावाचक शब्दों की मूल, मूल आर्यभाषा है जिसके शब्दों की परंपरा वैदिक भाषा पाली, संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंशों से होती हुई आधुनिक काल तक चली आई है। यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि प्राकृत भाषाओं ने संख्यावाचक शब्द संस्कृत से लिया है अथवा पाली से। इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नहीं है। यदि यह मान लिया जाय कि संस्कृत बोलचाल की भाषा न थी, केवल पाली भाषा ही बोलचाल में व्यवहृत होती थी, तो हम कह सकते हैं कि नित्यप्रति बोलचाल में व्यवहृत प्राकृत भाषा में संख्यावाचक शब्द पाली ही से आए होंगे। पर अनेक विद्वान् संस्कृत को भी एक समय की बोलचाल की भाषा मानते हैं[1]। इस मत के माननेवालों का कथन है कि प्राकृत भाषा संस्कृत के बिगड़े हुए शब्दों से बनी है[2], अतः प्राकृत ने संख्यावाचक शब्द

---

(१) "Even after having been reduced to a definite literary form by the labours of grammarians it (Sanskrit) continued to be used as a spoken language by the cultivated classes over a very considerable portion of Northern India."

—Principal A. B. Dhruva. Wilson Philological Lectures, Bombay University; Feb., 1929.

(२) "Therefore, instead of saying that Classical Sanskrit "lived and died childless" and tracing the modern vernaculars to *Primary Prakrits*, I would rather say that Classical Sanskrit reformed and standardised was first the parent of *Prakrits*, and afterwards their contemporary and educator, exercising direct influence on them from time to time, and the dialects which lived outside the *pale*

संस्कृत से ही लिया होगा। संस्कृत जन-साधारण की बोलचाल की भाषा रही हो या न रही हो, पर पढ़े-लिखे लोग तो उसे अवश्य बोलते थे।

अत. प्राकृत पर संस्कृत के संख्यावाचक शब्दों की छाप अच्छी तरह पड़ी है। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्राकृत भाषा के संख्यावाचक शब्द पाली और संस्कृत दोनों भाषाओं के शब्दों के आधार पर बने होंगे।

ऊपर कहा गया है कि आधुनिक आर्य-भाषाओं के संख्यावाचक शब्द आश्चर्यजनक समानता रखते हैं। इस कथन की सत्यता का प्रमाण नीचे दिए हुए उदाहरणों से कुछ मिल जायगा। अवेस्ता की भाषा, पुरानी फारसी तथा आधुनिक फारसी के भी शब्द दिए जाते हैं जिनकी भारतीय भाषाओं के शब्दों के साथ समानता प्रकट करती है कि आर्यों के भारतवर्ष में आने से पहले ही उनकी भाषा में संस्कृत के संख्यावाचक शब्दों से मिलते-जुलते शब्द विद्यमान थे।

---

of Sanskrit, just like the animists and other tribes that remained outside the Brahmanical civilization died away like waifs and strays. Thus, modern vernaculars as a whole are traceable to Prakrits and Prakrits to Classical Sanskrits and the last to the Vedic, the forms and the characteristic features, which are traceable in grand-parents instead of the parent being explicable as survivals from an earlier age instead of being taken as marks of direct immediate origin." Principal A. B. Dhuva. W. Philological Lectures, Bombay University; February, 1929.

ऊपर कहा जा चुका है कि हिंदी भाषा के अंतर्गत अनेक भाषाएँ (ब्रज, राजस्थानी आदि) और बोलियाँ (खड़ी, अवधी, कन्नौजी आदि) हैं तथा उनमें प्रयुक्त शब्दों के रूपों में बहुत भिन्नता पाई जाती है। संख्यावाचक शब्दों पर भी यह कथन चरितार्थ होता है। जैसा ऊपर कहा गया है, हिंदी की प्रायः सभी बोलियों और भाषाओं के संख्यावाचक शब्द संस्कृत के संख्यावाचक शब्दों से ही निकले हैं, पर भिन्न प्राकृतों और अपभ्रंशों से होकर आने के कारण भिन्न भिन्न बोलियों में संस्कृत के एक एक शब्द के अनेक रूपांतर हो गए हैं। उदाहरणार्थ संस्कृत के 'ऊनचत्वारिंशत्' को लीजिए। खड़ी बोली में इसका रूप 'उंतालीस', भोजपुरी में 'श्रोतालिस', मैथिली में 'श्रौंचालिस' तथा राजस्थानी में 'गुणतालीस' पाया जाता है। इस लेख में केवल खड़ी बोली के संख्यावाचक शब्दों की उत्पत्ति के संबंध में विचार करना है। हिंदी के अंतर्गत सब भाषाओं और बोलियों के संख्यावाचक शब्दों की उत्पत्ति पर यदि लिखा जाय तो एक मोटी पुस्तक तैयार हो जाय। इस निबंध के अंत में हिंदी के अंतर्गत कुछ बोलियों और भाषाओं के तथा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के संख्यावाचक शब्दों का एक चार्ट दिया जाता है जिसको देखने से स्पष्ट हो जायगा कि हिंदी की भिन्न भिन्न बोलियों के संख्यावाचक शब्द संस्कृत के ही शब्दों से निकले हैं। साथ ही साथ उससे यह जानने में भी सहायता मिलेगी कि खड़ी बोली के संख्यावाचक शब्द अवधी, ब्रजभाषा, कन्नौजी, राजस्थानी, भोजपुरी और मैथिली आदि के संख्यावाचक शब्दों से कितनी समता और कितनी भिन्नता रखते हैं।

हिंदी की विभाषाओं में रूप-भेद का कारण

संख्यावाचक शब्दों का विभाग

संख्यावाचक शब्द अमलिखित सात मुख्य भागों में विभाजित किए जा सकते हैं—

(१) पूर्णांकबोधक, (२) अपूर्णांकबोधक, (३) क्रमवाचक, (४) आवृत्तिवाचक, (५) गुणवाचक, (६) समुदायवाचक और (७) प्रत्येकबोधक।

इन विभागों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के और भी शब्द पाए जाते हैं जिनका उल्लेख यथास्थान आगे किया जायगा।

(१) पूर्णांकबोधक

खड़ी बोली में निम्न-लिखित पूर्णांकबोधक संख्यावाचक शब्द पाए जाते हैं—

एक	उन्नीस	सैंतीस, सैंतिस	पचपन
दो	बीस	अड़तीस	छप्पन
तीन	इक्कीस	उंतालिस, उंतालीस	सत्तावन, सतावन
चार	बाइस	चालीस	अट्ठावन, अठावन
पाँच	तेइस	इकतालीस	उनसठ
छः	चौबीस	बयालीस	साठ
सात	पच्चीस	तैंतालीस	इकसठ
आठ	छब्बीस	चौआलीस, चौंवालीस	बासठ
नौ	सत्ताइस, सताइस	पैंतालीस	तिरसठ
दस	अट्ठाइस, अठाइस	छियालीस	चौंसठ
ग्यारह	उंतीस	सैंतालीस	पैंसठ
बारह	तीस	अड़तालीस	छियासठ
तेरह	इकतीस	उनचास	सरसठ
चौदह	बत्तीस	पचास	अड़सठ
पंद्रह	तेंतीस	इक्यावन, इकावन	उनहत्तर
सोलह	चौंतीस, चौंतिस	बावन	सत्तर
सत्रह	पैंतीस, पैंतिस	तिरपन	इकहत्तर
अट्ठारह, अठारह	छत्तीस	चौवन	बहत्तर

तिहत्तर	पचासी	सत्तानवे, सत्तानवे
चौहत्तर	छियासी	अट्ठानवे, अट्ठानवे
पचहत्तर, पछत्तर	सत्तासी, सतासी	निन्नानवे, निनानवे
छिहत्तर	अट्ठासी, अठासी	सौ
सतहत्तर	नवासी	हज़ार, सहस्र
अठहत्तर	नब्बे, नव्वे	लाख
उनासी	इक्यानवे, इकानवे	कड़ोड़, करोड़
अस्सी	बानवे, बानवे	अर्ब, अरब
इक्यासी, इकासी	तिरानवे, तिरानवे	खर्व, खरब
बयासी	चौरानवे, चौरानवे	नील
तिरासी	पंचानवे, पंचानवे	पद्म
चौरासी	छियानवे छियानवे	शंख

हिंदी में सौ से ऊपर के शब्द, जितने सौ के ऊपर जिस संख्या का बोध कराना अभीष्ट रहता है उस संख्या को उतने सौ के साथ कहकर बना लिए जाते हैं। उदाहरणार्थ चार सौ से ऊपर चालीस का बोध कराने के लिये 'चार सौ चालीस' कहेंगे। ऊँची संख्या को पहले रखते हैं और नीची संख्या को उसके बाद। इसी ढंग से शंख तक शब्दों की रचना कर ली जाती है, जैसे 'चार शंख पाँच पद्म बारह नील चौहत्तर लाख नौ अरब छः करोड़ दो लाख तीन हज़ार एक सौ तेईस'। सौ से ऊपर की संख्याओं के वाचक शब्दों के बनाने का यह ढंग संस्कृत से कुछ भिन्न है। इस प्रकार के शब्दों की रचना करने के लिये संस्कृत में 'अधिक', 'उत्तर' अथवा 'च' की सहायता ली जाती है। उदाहरणार्थ 'एक सौ एक' के लिये संस्कृत में 'एकाधिकं शतम्', सात सौ चौवन के लिये 'चतुः-पञ्चाशदुत्तरं सप्तशतम्' तथा सात सौ बीस के लिये 'सप्त च शतानि

सौ से ऊपर के संख्यावाचक शब्दों की रचना

विंशतिश्च' कह सकते हैं। प्राकृतों में संस्कृत के अनुसार तथा उसके विपरीत, दोनों प्रकार के प्रयोग पाए जाते हैं। अर्ध-मागधी प्राकृत के निम्न-लिखित उदाहरणों में कोई भी सहायक शब्द नहीं है—

'अट्ठसय' (एक सौ आठ), 'अट्ठ सहस्स' (एक हजार आठ), 'सत्तरस इक्वीसे जोयणसए' (सत्रह सौ इक्कीस योजन)। पर उसी प्राकृत के 'तीसं च सहस्साइं, दोण्णि य अउणापण्णे जोयणसए' (तीस हजार दो सौ उनचास योजन) में 'च' की सहायता ली गई है। 'उत्तर' की सहायता से बने हुए सौ और दो सौ के बीच के अनेक संस्कृत-शब्दों के 'तद्भव' रूप खड़ी बोली में अब भी प्रयुक्त होते हैं; पर उन रूपों का प्रयोग केवल संख्याओं के पहाड़ों में ही रह गया है, जैसे—'दियोतरसो' या 'दिलोतरसो' (=१०२), 'चलोतरसो' (=१०४), 'पंजोतर' या 'पिचोतरसो' (=१०५), 'छिलोतरसो' (=१०६) इत्यादि। संस्कृत के 'द्व्युत्तरशतम्' से ही बिगड़ते बिगड़ते 'दियोतरसो' रूप बन गया है। सं० 'चतुरुत्तरशतम्' > प्रा० चुलोत्तरसअं > ख० बो० चलोतरसो; सं० 'पञ्चोत्तरशतम्' > प्रा० पंचुत्तलसयं > अप० पंचोत्तरसउ > ख० बो० पंजोतरसो या पिचोतरसो; सं० 'षडुत्तरशतम्' > प्रा० छलुत्तसयं > अप० छलोत्तरसउ > ख० बो० छलोत्तरसो या छिलोतरसो। हिंदी से 'अधिक', 'उत्तर' तथा 'च' के प्रयोग के उठ जाने का कारण प्राकृतों का ही प्रभाव है। हिंदी के काव्यों में संस्कृत की परंपरा के अनुसार किया हुआ इन शब्दों का प्रयोग अब भी कहीं कहीं देखने में आ जाता है।

सौ के ऊपर के शब्दों की रचना में कुछ लोग 'सौ' के लिये 'सै' का प्रयोग करते हैं;—जैसे 'दो सो चार' या 'दो सै चार'। 'सौ' या 'सै' दोनों ही संस्कृत के 'शत' से निकले हैं जिसके प्राकृत में

'सब', 'साग्र' और 'सय' रूप होते हैं। 'सय' का विकृत रूप 'सै' और 'साग्र' का 'सैा' हो गया है।

कभी कभी 'कम' शब्द के प्रयोग के द्वारा भी संख्याएँ सूचित की जाती हैं, जैसे—'पाँच कम पचास' (=पैंतालीस)। पर इस प्रकार के प्रयोग प्राय: अशिक्षित लोग करते हैं। 'कम' शब्द हिंदी में फारसी भाषा से आया है। संस्कृत में भी 'कम' के समानार्थी 'ऊन' शब्द का प्रयोग होता है जो 'एकोनविंशति' (अर्थात् एक कम बीस=उन्नीस) तथा 'ऊनपञ्चाशत्' (अर्थात् पचास से कम=उनचास) आदि शब्दों में वर्तमान है।

यहाँ पर उन नियमों का उल्लेख करने के लिये स्थान नहीं है जिनके अनुसार प्राकृत तथा अपभ्रंश के शब्द खड़ी बोली के शब्दों के रूप में परिवर्तित हो गए हैं। इन नियमों ने अध्ययन करने के लिये एक स्वतंत्र विषय का रूप धारण किया है। ऊपर कहा जा चुका है कि खड़ी बोली के संख्यावाचक शब्द प्राय: तद्भव हैं। नीचे दिए हुए संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा खड़ी बोली से मिलती-जुलती अन्य भाषाओं के संख्यावाचक शब्दों के रूपों से स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार खड़ी बोली के संख्यावाचक शब्दों की उत्पत्ति हुई है।

रूप-परिवर्त्तन के नियम

खड़ी बोली का 'शून्य' संस्कृत के शून्य का तत्सम है। बोल-चाल में इसके तद्भव रूपों 'सुन्न' और 'सुन्ना' का भी प्रयोग होता है जो अपभ्रंश के 'सुन्न' < प्राकृत 'सुन्नओ' से बना है। शून्य के लिये खड़ी बोली में 'सिफर' या 'सिफड़' का भी प्रयोग होता है जो फारसी के 'सिफर' से हिंदी में आ गया है।

पूर्णांकबोधकों की उत्पत्ति

शून्य—बीस

संस्कृत के 'एक' से प्राकृत में 'एक', 'एको', 'एगो' और 'एक्को' रूप बनते हैं। अपभ्रंश में भी 'एक्क' रूप होता है और इसी से

खड़ी बोली का 'एक' बना है। प्राकृत के 'एगो' का प्रयोग अब भी भोजपुरी में होता है और इसी 'एगो' के अनुसरण पर उसमें 'दुइगो', 'तिनिगो', 'चारिगो', 'पाँचगो' आदि शब्द बन गए हैं।

संस्कृत के 'द्व' और 'द्वि' से प्राकृत में 'दुए','दुवे','दो', 'दोन्नि' तथा 'बे' बनते हैं। प्राकृत के 'दो' और 'बे' के समान ही अपभ्रंश में 'बे' और 'दो' का प्रयोग होता है। अपभ्रंश में एक रूप 'विण्णि' भी पाया जाता है जो संस्कृत के 'द्वेणि' से निकला हुआ जान पड़ता है। खड़ी बोली का 'दो' अपभ्रंश के 'दो' से आया है। प्राकृत के 'दुए' और 'दुवे' से पूर्वी हिंदी, बँगला और उड़िया का 'दुई', 'दोन्नि' से मराठी का 'दोन्' और सिंधी का 'डूँ', 'बे' से गुजराती का 'बे' तथा सिंधी का 'ब' निकले हैं। खड़ी बोली के 'दोनों' शब्द का मूल प्राकृत का 'दोन्' ही जान पड़ता है।

संस्कृत 'त्रि' के नपुंसक लिंग 'त्रीणि' से प्राकृत में 'तिण्ण'[1] तथा अपभ्रंश में 'तिण्णि' बने हैं।

इसी 'तिण्णि' या 'तिण्ण' से खड़ी बोली के 'तीन' तथा पूर्वी हिंदी के 'तिनि' की उत्पत्ति हुई है। संस्कृत के पुंल्लिंग रूप 'त्रयः' से मागधी प्राकृत 'तओ' रूप बना है, पर हिंदी में 'तओ' से निकला हुआ कोई रूप देखने में नहीं आता है।

सं० नपुंसकलिंग 'चत्वारि' से प्राकृत में 'चआरि' और 'चत्तारि' बने हैं। अपभ्रंश में 'चारि' पाया जाता है जिससे खड़ी बोली का 'चार' तथा पूर्वी हिंदी का 'चारि' बने हैं। पाली के 'चत्तारो'

---

(१) प्राकृतकालीन भाषाओं में 'तिण्ण' के अनेक रूप पाए जाते हैं। इसका प्रमाण अशोक के शिलालेखों से मिलता है। धौली तथा जौगाड़ के शिलालेखों में "तिन्निपानानि", कालसी के शिलालेख में "तीनिपानानि", गिरनार के शिलालेख में "त्रिप्राण" और शहबाजगढ़ी के शिलालेख में "त्र (यो) प्रण" और "त्रय-त्रयो" रूप पाए जाते हैं।

और प्राकृत के 'चत्तारि' के 'त्त' का हिंदी में लोप हो जाने का कारण बताना कठिन है। जैसा हमने अभी देखा है कि यह लोप अपभ्रंशों के ही समय में हो चुका था। संभवतः चौदह, चौबीस, चौंतीस आदि यौगिक शब्दों में 'चौ' (< सं० चतुः) को देखकर 'चत्तारि' से भी बोलचाल में 'त्त' का लोप हो गया होगा और इस प्रकार अपभ्रंशकालीन 'चारि' बन गया होगा[१]। सं० पुंल्लिंग 'चत्वारः' से निकला हुआ प्राकृत में एक रूप 'चत्तारो' भी पाया जाता है, पर इससे मिलता-जुलता शब्द हिंदी में नहीं दिखाई देता। हाँ, प्राकृत के 'चउरो' (< सं० पुल्लिंग कर्मकारक 'चतुरः') से निकला हुआ 'चौ' शब्द कन्नौजी में पाया जाता है।

संस्कृत के 'पञ्च' से प्राकृत तथा अपभ्रंश का 'पंच' बना है और उसी से खड़ी बोली का 'पाँच' बना है।

खड़ी बोली के 'छः' के लिये संस्कृत में 'षट्' का प्रयोग होता है। प्राकृत में 'छ' रूप पाया जाता है। प्राचीनकालीन 'षट्' के 'ष' के स्थान में मध्यकाल में 'छ' हो जाना तत्कालीन उच्चारण की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है। संस्कृत के 'ष' या 'श' का प्राकृत में 'स' ही होना देखा जाता है[२], जैसे सं० षोडश > प्रा० सोलह, सं० षष्टि > प्रा० सट्ठि। इस संबंध में डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का अनुमान है कि मध्यकाल में भारतवर्ष के पश्चिम में बोली

---

(१) "The apparent loss of <— tt —> in these later forms is not easy to explain. The loss of the < tt > may have been due to the form taken by this numeral word in compounds—cau < catuh" S. K. Chatterji—Origin and Development of the Bengali Language. § 515

(२) cf. ibid (S. K. Chatterji) § 517.

जानेवाली किसी फारसी बोली के प्रभाव से (जिसमें 'दस्वश' के समान कोई शब्द रहा होगा, क्योंकि प्राचीन फारसी में यही शब्द मिलता है) भारतवर्ष में 'चश' शब्द का प्रचार हुआ होगा और फिर 'चश' के 'च' का 'छ' हो गया होगा¹।

अशोक के शिलालेखों में छः के लिये 'छ' (रूपनाथ—"छ वचरे"), 'सा' (सहसराम—"स—वचने, स—पंन्ना"), 'श' (उत्तर-पश्चिम और कालसी) तथा 'सडु' (देहली, सिवलिक और मेरठ—"सडुवीसति") रूप पाए जाते हैं। अपभ्रंश में भी प्राकृत से आया हुआ 'छ' ही रूप पाया जाता है। इसी रूप से खड़ी बोली का 'छः' बना है। पूर्वी हिंदी, सिंधी तथा गुजराती में 'छ' ही मिलता है। खड़ी बोली का 'छः' उच्चारण में सिंधी के 'छह' तथा मराठी के 'सहा' के समान है। इस शब्द की उत्पत्ति प्राकृत के '*छस' या '*छह' से हुई जान पड़ती है।

सं० सप्त > प्रा० सत्त > अप० सत्त > ख० बो० सात।

सं० अष्ट > प्रा० अट्ठ > अप० अट्ठ > ख० बो० आठ।

सं० नव > प्रा० नअ, णअ, नव > अप० णव, नव > ख० बो० नौ।

---

(१) "Could the typically Iranian <— xšvaš —> have been borrowed or blended with the Indian—ṣaṣ—in an old Indo-Aryan frontier dialect in the form—kṣaṣ—*kṣak—? × × × × And kṣak could, very well, be the source of—cha, chaa—, with the North-western or Western Mid. Indo-Aryan alteration of <— kṣ —> to <— ch —>."

S. K. Chatterji—Origin & Development of the Bengali Language. § 517.

सं० दश > प्रा० दह, दस > अप० दस > ख० बो० दस।

संसार की अधिकांश भाषाओं में संख्याओं को व्यक्त करनेवाले अंक शून्य से लेकर नौ तक ही पाए जाते हैं, शेष और सब संख्याएँ इन्हीं अंकों की सहायता से लिखी जाती हैं, जैसे १६, ८७५ इत्यादि। पर संख्याओं का बोध कराने के लिये जो शब्द बोले जाते हैं उनके मूल रूप शून्य से लेकर नौ तक के शब्दों के अतिरिक्त कुछ और भी पाए जाते हैं। खड़ी बोली के संख्यावाचक शब्द, खड़ी बोली के कुछ मूल-संख्यावाचक शब्दों के योग से नहीं बने हैं; वरन्, जैसा कि कुछ कुछ हम देख चुके हैं, संस्कृत के संख्यावाचक शब्दों के प्राकृत और अपभ्रंश से होकर आए हुए रूप हैं। इसलिये हमें संस्कृत के ही संख्यावाचक शब्दों में देखना चाहिए कि वे मूल शब्द कौन से हैं, जिनके आधार पर और सब शब्द बने हैं। संस्कृत के पूर्णांक संख्यावाचक शब्दों की सूची पर दृष्टि डालने से विदित हो जायगा कि संस्कृत के मूल पूर्णांकबोधक संख्यावाचक शब्द केवल निम्नलिखित ही हैं—

एक	त्रिंशत्
द्वि, द्व	चत्वारिंशत्
त्रि	पञ्चाशत्
चतुर्	षष्टि
पञ्चन्	सप्तति
षष्	अशीति
सप्तन्	नवति
अष्टन्	शत
नवन्	सहस्र
दशन्	अयुत
विंशति	लक्ष, लक्षा

प्रयुत	शंकु
कोटि	जलधि
अर्बुद	अंत्य
अब्ज	मध्य
खर्व	परार्ध
महापद्म	

शेष सब यौगिक शब्द हैं जो इन्हीं शब्दों की सहायता से बने हैं; जैसे—'एकादशन्' (=एक+दशन्), 'द्वादशन्' (=द्व+दशन्), 'एकविंशति' (=एक+विंशति), 'चतुःपञ्चाशदुत्तरं सप्तशतम्' (=चतुर्+पञ्चाशत्+सप्त+शत) इत्यादि। संस्कृत के शब्द प्राकृत और अपभ्रंश से होते हुए किस प्रकार खड़ी बोली के संख्यावाचक शब्दों के रूप में परिणत हो गए हैं यही आगे दिखाया जायगा।

सं० एकादश > प्रा० एगारह, एक्कारस, एआरह > अप० एग्गारह। खड़ी बोली में वर्ण-विपर्यय होकर अपभ्रंश के 'एग्गारह' से 'गएआरह' और फिर उससे 'ग्यारह' या 'ग्यारा' हो गया है अथवा 'एग्गारह' के आदि के 'ए' और 'ग्' का लोप होकर 'ग्' और 'अ' के बीच में 'य' का आगम हो जाने से 'ग्यारह' बन गया है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पूर्वी हिंदी में 'इगाँ-रह', 'एग्यारह' और 'इग्यारह' अब भी बराबर प्रयुक्त होते हैं जिनके आदि के स्वर का नाश नहीं हुआ है। इस संख्यावाचक शब्द में हम यह भी देखते हैं कि संस्कृत के 'श' के स्थान में हिंदी में 'ह' हो गया है। संख्यावाचक शब्दों के द्वितीय और अष्टम दशकों (अर्थात् दस से बीस तक और सत्तर से अस्सी तक) में संस्कृत के 'श' और 'स' के स्थान में गुजराती, खड़ी बोली, ब्रजभाषा, अवधी, बिहारी तथा बँगला भाषाओं में नियमतः 'ह' पाया जाता है; पर

अन्य दशकों में सर्वत्र नहीं पाया जाता। उदाहरणार्थ—संस्कृत के 'द्वादश', 'द्वासप्तति' और 'पञ्चाशत्' को लीजिए। खड़ी बोली में इन शब्दों के क्रमशः 'बारह', 'बहत्तर' और 'पचास' रूप पाए जाते हैं। यहाँ हम देखते हैं कि 'द्वादश' और 'द्वासप्तति' के 'श' और 'स' के स्थान में हिंदी में 'ह' हो गया है, पर 'पञ्चाशत्' के 'श' का 'स' ही रह गया है।

सं० द्वादश > प्रा० बारह > अप० बारह > खड़ी बोली बारह, बारा। पाली में 'बारस' रूप मिलता है जिसमें संस्कृत के 'द्वा' के स्थान में 'बा' पाया जाता है। तत्कालीन ध्वनि-परिवर्तन के नियमों के अनुसार वैदिक संस्कृत के 'द्व' के स्थान में पाली में 'ब' हो जाना अस्वाभाविक प्रतीत होता है[1]। संभवतः यह किसी बाहरी भाषा का प्रभाव होगा। 'बारस' का प्रयोग मागधी तथा अर्धमागधी प्राकृतों में भी होता था जो पाली से ही उनमें आ गया होगा। प्राचीनकालीन 'द्वादश' से निकले हुए 'द्वादस' और 'दुवालस' शब्द भी क्रमशः पाली और मागधी प्राकृत में प्रयुक्त होते थे।

सं० त्रयोदश > प्रा० तेरह > अप० तेरह > ख० बो० तेरह।

सं० चतुर्दश > प्रा० चउदह > अप० चउदह > ख० बो० चौदह।

सं० पञ्चदश > प्रा० पण्णरहो, पण्णरह > अप० पण्णरह > ख० बो० पंद्रह। पूर्वी हिंदी में 'ण'-युक्त (जो अब 'न' के रूप में परिणत हो गया है) रूप 'पनरह' वर्तमान है। खड़ी बोली से मिलते-जुलते गुजराती, सिंधी तथा पंजाबी के क्रमशः 'पंदर', 'पंदरहँ' (या पंध्रँ) तथा 'पदराँ' रूप पाए जाते हैं।

---

(१) "Pali form for twelve is 'bārasa', with—b—for Old Indo-Aryan—dv—which does not seem to be a proper Midland treatment of this group of consonants."
S. K. Chatterji—O. and D. of the Bengali Language. §. 511.

सं० षोडश > प्रा० सोलह, अर्धमागधी प्रा० सोलस; अप० सोलह > खड़ी बोली सोलह।

सं० सप्तदश > प्रा० सत्तरह > अप० सत्तरह > ख० बो० सत्रह। पूर्वी हिंदी में 'सतरह' रूप मिलता है।

सं० अष्टादश > प्रा० अट्ठारह > अप० अट्ठारह > ख०बो०अट्ठारह।

हम देखते हैं कि चौदह और सोलह के अतिरिक्त, ग्यारह से अट्ठारह तक के संख्यावाचक शब्दों के 'द' का प्राकृत तथा अपभ्रंश में 'र' हो गया है। खड़ी बोली में भी वही परंपरा वर्तमान है। सं० 'चतुर्दश' में 'द' के पूर्व 'र' पहले से ही वर्तमान है जिसके कारण प्राकृत में 'द' के स्थान पर 'र' नहीं हो सका। सं० 'षोडश' के 'ड' के स्थान पर प्राकृत और अपभ्रंश में 'ल' पाया जाता है। खड़ी बोली में भी यही 'ल' वर्त्तमान है। पूर्वी हिंदी, मागधी तथा मैथिली में 'सोरह' पाया जाता है जिसमें संस्कृत के 'ड' के स्थान पर 'र' है। संभवतः इन भाषाओं में 'ग्यारह', 'बारह', 'तेरह' आदि के अनुकरण पर 'सोरह' रूप भी बन गया होगा।

उन्नीस, उंतीस, उंतालीस, उनचास, उनसठ, उनहत्तर तथा उन्नासी अन्य संख्यावाचक शब्दों से भिन्न दूसरे ही ढंग से बनाए गए हैं। इनके बादवाले शब्दों के पहले 'ऊन' (=कम) लगाकर इन शब्दों की रचना की गई है; जैसे—एक + ऊन + विंशति (=एक कम बीस) से 'एकोनविंशति'। फिर आदि के 'एक' का लोप हो जाने से एक दूसरा रूप 'ऊनविंशति' बन गया। जैसा हम आगे देखेंगे, संस्कृत के इसी 'ऊनविंशति' से खड़ी बोली का 'उन्नीस' निकला है[1]। इस ढंग से बनाए हुए अन्य शब्दों का उल्लेख यथास्थान आगे किया जायगा।

---

(१) एगुणविंस संस्कृत के एकोनविंशति से सहज ही में बन जाता है।
—संपादक।

उन्नीस के लिये संस्कृत में 'ऊनविंशति', 'एकान्नविंशति,' 'एकोनविंशति' तथा 'नवदशन्' शब्दों का प्रयोग होता है। प्राकृत में 'ऊनविंशति' का 'ऊणवीसइ' और 'एकोनविंशति' का 'एकोनवीसइ' हो गया है। अर्धमागधी प्राकृत में 'अउणवीस' तथा 'एगूणवीस' (इ) रूप पाए जाते हैं। अपभ्रंश में 'णवरह', 'णवदह' तथा 'एगुणविस' पाए जाते हैं। खड़ी बोली का उन्नीस प्राकृत के 'ऊनवीसइ' से आया है। राजस्थानी में अपभ्रंश के 'एगुणविस' से निकला हुआ 'वगणीस' रूप पाया जाता है संभवतः जिसकी मूल-संस्कृत का 'अपगुण(-विंशति)' शब्द है[1]।

सं० विंशति > प्रा० वीसै, वीसइ > अप० वीस > ख० बो० बीस।

सं० 'एकविंशति' > प्रा० 'एकवीसा' > अप० 'एकवीस' > ख० बो० 'इक्कीस'। यहाँ हम देखते हैं कि संस्कृत के 'व' का हिंदी में लोप हो गया है। इस नियम का अधिकार चौबीस और छब्बीस को छोड़कर इक्कीस से अट्ठाइस तक के सब शब्दों पर पाया जाता है।

बीस से चालीस

सं० 'द्वाविंशति' > प्रा० 'बावीसा', अर्धमागधी प्रा० 'बविस', 'बावीसा', 'बावीसं'; अप० 'बावीस', 'ववीस' > ख० बो० 'बाइस'। यहाँ हम देखते हैं कि संस्कृत के 'द्वा' का हिंदी में 'बा' या 'बा' रह गया है। बारह, बत्तीस, बयालीस, बावन, बासठ, बहत्तर, बयासी, तथा बानवे में भी इसी प्रकार का परिवर्तन देखा जाता है।

सं० त्रयोविंशति > प्रा० तेवीसा, अर्धमागधी प्रा० तेवीस, तेवीस, तेवीसा; अप० त्रेवीस, तेवीस > ख० बो० तेइस।

---

(1) S K. Chatterji, O. and D. of the Bengali Language, Vol. II, § 512

सं० चतुर्विंशति > प्रा० चौवीसा, अर्धमागधी प्रा० चउवीस > अप० चौवीस > ख० बो० चौबीस। राजस्थानी में बाइस और तेइस के समान 'व'-रहित 'चौईस' शब्द मिलता है।

सं० पञ्चविंशति > प्रा० पंचवीसं, पंचवीसा, पणवीसा > अप० पाणवीस, पणवीस। खड़ी बोली में प्राकृत के 'पंचवीसं' से मिलता-जुलता 'पच्चीस' रूप होता है।

सं० षड्विंशति > प्रा० छब्बीसा, अर्ध-मागधी प्रा० छव्वीस > अप० छब्बीस > ख० बो० छब्बीस। राजस्थानी में 'व'-रहित 'छाइस' ही रूप मिलता है।

सं० सप्तविंशति > अर्धमा० प्राकृत सत्तावीसा, सत्तवीस > प्रा० सत्तावीसा > अप० सत्तावीस > ख० बो० सत्ताइस।

सं० अष्टाविंशति > अर्धमा० प्राकृतअ ट्ठावीस, प्रा० अट्ठावीसा > अप० अट्ठावीस, अट्ठवीस; ख० बो० अट्ठाइस।

सं० ऊनत्रिंशत्, एकोनत्रिंशत् > अर्धमा० प्रा० अउणत्तीस, प्रा० अउणत्तीसा > अप० उणत्तास > ख० बो० उंतीस। राजस्थानी में संस्कृत के 'एकोनत्रिंशत्' से बना हुआ 'गुणातीस' रूप वर्तमान है।

सं० त्रिंशत् > अर्धमा० प्रा० तीसा, प्रा० तीसा > अप० तीस > ख० बो० तीस।

सं० एकत्रिंशत् > अर्धमा० प्रा० इक्कतीस, प्रा० इक्कतीसा > अप० एकत्रिस > ख० बो० एकतीस। पूर्वी हिंदी तथा मैथिली में 'एकतिस' रूप मिलता है।

सं० द्वात्रिंशत् > अर्धमा० प्रा० बत्तीस, प्रा० बत्तीसा > अप० बात्रिस > ख० बो० बत्तीस।

सं० त्रयस्त्रिंशत् > अर्धमा० प्रा० तेत्तीस, प्रा० तेत्तीसा > अप० तेत्रिस > ख० बो० तेंतीस।

सं० चतुस्त्रिंशत् > अर्धमा० प्रा० चौत्तीस, प्रा० चोत्तीसा > अप० चौत्रिस, चौतीस > ख० बो० चौंतीस, चौंतिस।

सं० पञ्चत्रिंशत् > अर्धमा० प्रा० पणतीस, प्रा० पंचतीसा, पणतीसा > अप० पणत्रिस, पंत्रिस, पैंतिस, पैंतिस > ख० बो० पैंतीस, पैंतिस। पंजाबी और राजस्थानी में 'पैंती' तथा गुजराती में 'पॅंत्रिश' रूप होते हैं।

सं० षट्त्रिंशत् > अर्धमा० प्रा० छत्तीस, प्रा० छत्तीसा, अप० छत्रिस, षट्त्रीस > ख० बो० छत्तीस।

सं० सप्तत्रिंशत् > प्रा० सत्ततीसा > अप० सत्ततीस > ख० बो० सैंतीस। यहाँ खड़ी बोली में अनुस्वार का आगम हो जाना ध्यान देने के योग्य है। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश किसी में अनुस्वार नहीं है, फिर यह हिंदी में कहाँ से आ गया? तैंतीस, चौंतीस, सैंतीस, तैंतालीस, सैंतालीस, चौंसठ और छाँछठ में भी इसी प्रकार अनुस्वार का आगम हो गया है।

संभवतः यह पैंतीस, पैंतालीस तथा पैंसठ आदि (जिनमें संस्कृत के 'ञ्' के कारण हिंदी में अनुनासिक उच्चारण हो गया है) के अनुकरण का फल है[1]।

सं० अष्टात्रिंशत् > अर्धमा० प्राकृत अट्ठत्तीस, अट्ठतीस, प्रा० अट्ठतीस > अप० अठत्रीस > ख० बो० अड़तीस।

सं० ऊनचत्वारिंशत्, एकोनचत्वारिंशत् इत्यादि > अर्धमा० प्रा० उनचालिस, एगूणचत्तालीस, प्रा० अउणचत्तालीसा > अप० एगुणचालीस; ख० बो० उतालीस; राजस्थानी गुणतालीस, मेवाड़ी गुंणचालीस, गुणतालीस तथा गुण्यालीश।

---

(1) S. K. Chatterji, O. and D. of the Bengali Language. § 518.

सं० चत्वारिंशत् > अर्धमा० प्रा० चत्तालीस, प्रा० चत्तालीसा > अप० चालीस > ख० बो० चालीस।

खड़ी बोली के 'चालीस' में प्राकृत के 'त' का लोप हो गया है, पर जहाँ 'चालीस' के साथ दूसरे शब्दों की संधि हुई है वहाँ प्रायः सर्वत्र यह 'त' वर्तमान है और 'च' का लोप हो गया है। 'उनतालिस' में हम 'च' का लोप और 'त' की स्थिति देख चुके हैं और 'एकतालीस', 'तेंतालीस', 'पैंतालीस', 'सैंतालीस' तथा 'अड़तालीस' में फिर आगे देखेंगे। यहाँ एक बात ध्यान देने की और भी है कि इन शब्दों में विद्यमान 'ल' संस्कृत के शब्दों में नहीं पाया जाता। खड़ी बोली में यह अपभ्रंश तथा प्राकृत से आया है; और प्राकृत में यह संस्कृत के 'र' के स्थान में आ गया है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि यह 'ल' इन शब्दों में लुप्त हो जानेवाले 'च' के स्थान पर आ गया है। पर यह अनुमान ठीक नहीं जान पड़ता। जब हिंदी की मूल भाषाओं अर्थात् अपभ्रंश और प्राकृत के शब्दों में 'ल' वर्तमान है तब खींचतान करके हिंदी के शब्दों को सीधे संस्कृत के शब्दों से मिलाने की आवश्यकता नहीं है।

सं० एकचत्वारिंशत् :- प्रा० एकचत्तालीसा। प्राकृत के इस शब्द से 'च' का लोप करके 'एकअत्तालीस' की कल्पना भाषाविज्ञान-वेत्ताओं ने की है, और फिर उससे खड़ी बोली का 'एकतालीस' रूप निकाला है।

एकतालीस—साठ

सिंधी भाषा में 'एकेतालीह' शब्द अब भी वर्तमान है जो 'एकयतालीह' का संकुचित रूप जान पड़ता है। अतः 'एकअत्तालीस' की कल्पना कोरी कल्पना ही नहीं है। अपभ्रंश में भी 'एकतालीस' ही मिलता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि पहले 'त' का लोप हो गया है, जैसा कि 'चालीस' में पाया जाता है। बाद में 'च' के स्थान पर 'त' होकर 'एकतालीस' बना है।

इस मत के माननेवालों ने 'एकतालीस' की उत्पत्ति नीचे लिखे हुए ढंग से मानी है—

सं० एकचत्वारिंशत् > प्रा० एकचत्तालीसा > एकचआलीस > एकचालीस > अप० एकतालीस > ख० बो० एकतालीस।

पर इस प्रकार 'च' का 'त' के रूप में परिवर्तित हो जाना किसी प्रमाण अथवा किसी अन्य उदाहरण से सिद्ध नहीं होता। अत: हम पहले दी हुई व्युत्पत्ति को ही ठीक मानते हैं। तैंतालीस, पैंतालीस, सैंतालीस तथा अड़तालीस भी एकतालीस ही के समान बने हैं। बयालीस, चौवालीस तथा छियालीस में 'च' के साथ 'त' का भी लोप हो गया है। ये लोप और आगम हिंदी में नहीं हुए हैं वरन् जिन प्राकृत-शब्दों से हिंदी के शब्द आए हैं उन्हीं में हो चुके थे। आगे दी हुई इन उपर्युक्त शब्दों की व्युत्पत्ति को देखने से यह कथन स्पष्ट रूप से समझ में आ जायगा।

सं० द्विचत्वारिंशत्, द्वाचत्वारिंशत् > प्रा० बायालीस > अप० बिंतालीस, बैतालीस; ख० बो० बयालीस, बयालिस।

सं० त्रिचत्वारिंशत्, त्रय.चत्वारिंशत् > अर्धमा० प्रा० तेयालीस, प्रा० तेचत्तालीस; अप० त्रयालीस > ख० बो० तैंतालीस। राजस्थानी और मेवाड़ी में क्रमश: 'तयाँलीस' और 'तियालीस' पाए जाते हैं।

सं० चतुश्चत्वारिंशत् > प्रा० चउच्चत्तालीसा, अर्धमा० प्रा० चउयालीस, चोयालीस > अप० चोयालीस > ख० बो० चौवालीस।

सं० पञ्चचत्वारिंशत् > अर्धमा० प्रा० पणयालीस, प्रा० पञ्चचत्तालीसा > अप० पणतालिस, पाँतालीस > ख० बो० पैंतालीस।

सं० षट्चत्वारिंशत् > प्रा० छच्चत्तालीसा, अर्धमा० प्रा० छायालीस > अप० छैहैतालीस; ख० बो० छियालीस।

सं० सप्तचत्वारिंशत् > अर्धमा० प्रा० सायालीस, सत्तचत्तालीस, सत्ताचालीस, प्रा० सत्तचत्तालीसा > अप० सतवालीस > ख० बो० सैंतालीस।

सं० अष्टाचत्वारिंशत्, अष्टचत्वारिंशत् > अर्धमा० प्रा० अढ़-याल, अढ़यालीस, अट्ठचत्तालीस, प्रा० अट्ठचत्तालीसा > अप० अट्ठतालीस > ख० बो० अड़तालीस।

सं० एकोनपञ्चाशत्, ऊनपञ्चाशत् इत्यादि > अर्धमा० प्रा० एगूणपण्णास, अउणपण्ण > प्रा० ऊणपंचासा > अप० उगुणपचास। प्राकृत के 'ऊणपंचासा[1]' से 'प' के लुप्त हो जाने से खड़ी बोली तथा पूर्वी हिंदी के 'उनचास' और 'ओनचास' आदि शब्द बने हैं। यह 'प' का लोप वैसा ही है जैसा हम 'उंतालीस' में 'च' का देख चुके हैं। बँगला के 'उनपंचास्' में गुजराती के 'ओगणपचास', पंजाबी के 'उणवंजा' या 'उणांजा' में प्राकृत का 'पंचासा' रूप, पूर्ण या संक्षिप्त रूप में वर्तमान है। पंजाबी और सिंधी में तो 'पचास' के योग से बने हुए प्रायः सभी शब्दों में 'पंचासा' का आभास पाया जाता है; जैसे—पंजाबी 'तिवंजा तिरवंजा,' सिंधी 'ट्रेवंजाह' (=५३); पंजाबी 'चोवंजा, चुवंजा', सिंधी 'चोवंजाह' (=५४); पंजाबी 'पंजवंजा', सिंधी 'पंचवंजाह' (=५५); पंजाबी 'छिपंजा, छिवंजा', सिंधी 'छवंजाह' (=५६), इत्यादि।

सं० पञ्चाशत् > प्रा० पण्णासा, पंचास > अप० पँचास > ख० बो० पचास।

---

(१) प्राकृत में यों तो पचास के लिये प्रायः संस्कृत के 'पञ्चाशत्' से बने हुए 'पण्णासा' (देखिए—वररुचि-कृत प्राकृतप्रकाश, अध्याय ३, ४४वाँ सूत्र) का ही प्रयोग होता है, पर उसमें दूसरा रूप 'पंचास' भी पाया जाता है। इसी 'पंचास' में 'ऊन' के योग से 'ऊणपंचासा' और 'ऊणवंचासा' बन गए हैं।

सं० एकपञ्चाशत् > प्रा० एक्कावण्णं, एक्कावण्णा > अप० एकावन > ख० बो० इक्यावन। यहाँ हम देखते हैं कि पञ्चाशत् > प्रा० पण्णासा, पंचास के स्थान में खड़ी बोली में केवल 'वन' रह गया है (इक्यावन = इक्या > एक + वन)। 'पञ्चाशत्' का यह रूप-परिवर्तन प्राकृत-काल में ही हो गया था जो 'एक्कावण्णा', 'बावण्णा', 'पणपण्णा' तथा 'छप्पणं' आदि रूपों में पाया जाता है। यौगिक संख्यावाचक शब्दों में हिंदी में संस्कृत के 'पंचाशत्' के स्थान पर 'वन' (इक्यावन, बावन इत्यादि) तथा 'पन' (तिरपन, पचपन इत्यादि) दो रूप पाए जाते हैं। आगे दी हुई इन शब्दों की व्युत्पत्ति के प्रसंग में हम देखेंगे कि प्राकृत के जिन शब्दों में 'वण्णा' हुआ है, उनमें हिंदी में 'वन' हो गया है।

सं० द्विपञ्चाशत, द्वापञ्चाशत् > प्रा० बावण्णं, अर्धमागधी प्रा० बावण्णा > अप० बावन > ख० बो० बावन।

सं० त्रिपञ्चाशत, त्रयःपञ्चाशत् > प्रा० तेवण्णा, अर्धमा० प्रा० तेवण्णा > अप० त्रेपन। प्राकृत के इन्हीं शब्दों से राजस्थानी का 'तेपन' बना है। पर भारतवर्ष की प्रायः अन्य सभी आर्य-भाषाओं में 'तिरपन' के वाचक शब्दों में 'र' पाया जाता है। राजस्थानी में भी दूसरा रूप 'तरेपन' होता है जिसमें 'र' विद्यमान है। कुछ अन्य भाषाओं के शब्द ये हैं—पूर्वी हिंदी 'तिरपन'; गुजराती 'त्रेपन'; मराठी 'त्रेपन'। बीम्स महाशय का मत है कि यह 'र' केवल उच्चारण में धीरे धीरे आ गया है, मूल शब्द प्राकृत का 'तेवण्णा' ही है। पर मिस्टर हार्नले का मत इसके विपरीत है। उनका कहना है कि इन शब्दों के बनने से पहले अपभ्रंश में 'त्रिपण्णं' शब्द अवश्य रहा होगा[1]। हिंदी भाषा के व्याकरण पर एक

---

(१) देखिए—हार्नले की Grammar of the Gaudian Languages, पृ० २२१, §. 307.

विशाल ग्रंथ के लेखक मिस्टर केलाग का भी मत यही है कि यह 'र' संस्कृत के 'त्रिपञ्चाशत्' के 'र्' का अवशेष है¹। इसी प्रकार का 'र' 'तिरसठ', 'तिरासी', 'चौरासी' तथा 'तिरानवे' आदि में भी पाया जाता है, जो इन शब्दों में क्रमशः संस्कृत के 'त्रिषष्टि', 'त्र्यशीति', 'चतुरशीति' तथा 'त्रिनवति' से आया है। अतः 'त्रिप्पण्णं' की कल्पना निराधार नहीं जान पड़ती। इसी 'त्रिप्पण्णं' से ही खड़ी बोली का 'तिरपन' बना होगा जिसके लिये कुछ लोग 'त्रेपन' भी बोलते हैं।

सं० चतुःपञ्चाशत् > प्रा० चउप्पण्णा, अर्धमा० प्रा० चउवण्णा > अप० चोपन > ख० बो० चौवन। राजस्थानी और मेवाड़ी में अपभ्रंश के समान 'चोपन' रूप मिलता है।

सं० पञ्चपञ्चाशत् > प्रा० पंचावण्णा > अर्धमा० प्रा० पणपण्ण, पणवण्णा तथा पणवन्नं। अपभ्रंश में 'पचवन' रूप पाया जाता है जिससे मेवाड़ी का 'पचाँवन' तथा राजस्थानी का 'पचावन' बने हैं। खड़ी बोली का 'पचपन' प्राकृत के '*पञ्चपण्णा' के आधार पर बना होगा। अपभ्रंश के 'पचवन' से निकले हुए 'पंचावन' का प्रयोग अब भी पूर्वी हिंदी में होता है।

सं० षट्पञ्चाशत् > प्रा० छप्पण्णा > अप० छप्पन > ख० बो० छप्पन।

सं० सप्तपञ्चाशत् > प्रा० सत्तावण्णा, सत्तावण्णा > अप० सत्तावन > ख० बो० सत्तावन।

सं० अष्टपञ्चाशत्, अष्टापञ्चाशत् > प्रा० अट्ठवण्णं, अर्धमा० प्रा० अाट्ठवण्णा > अप० अट्ठावन > ख० बो० अट्ठावन।

---

(१) देखिए—केलाग की Grammar of the Hindi Language, § 248.

सं० एकोनषष्टि, ऊनषष्टि > प्रा० एगूणसट्ठ, अउणट्ठि > अप० उगुणसट्ठ > ख० बो० उनसठ।

साठ-चलनी सं० षष्टि > प्रा० सट्ठी > अप० सट्ठि > ख० बो० साठ।

सं० एकषष्टी > प्रा० एक्कसट्ठि > अप० एकसट्ठि > ख० बो० एकसठ।

सं० द्विषष्टि, द्वाषष्टि > प्रा० बासट्ठि > अप० बासट्ठि > ख० बो० बासठ।

सं० त्रयःषष्टि, त्रिषष्टि > प्रा० तेसट्ठि > अप० त्रेसट्ठि, त्रेसठि > ख० बो० तिरसठ।

सं० चतुष्षष्टि > प्रा० चोसट्ठि > अप० चासठि, चौसट्ठि, चौसठि > ख० बो० चौसठ।

सं० पञ्चषष्टि > प्रा० पंचसट्ठि, अर्धमा० प्रा० पण्णट्ठि, पण्णसट्ठि > अप० पणसट्ठि, पाँसठि > ख० बो० पैंसठ।

सं० षट्षष्टि > प्रा० छासट्ठि > अप० छासट्ठि > ख० बो० छियासठ। 'चौसठ', 'पैंसठ' आदि के अनुकरण पर ही खड़ी बोली में 'छियासठ' बन गया है। पूर्वी हिंदी में 'छाँछठि', मराठी में 'सासष्ट', सिंधी में 'छाहठि', पंजाबी में 'छियाहट्' तथा बँगला में 'छासठि' रूप होते हैं।

सं० सप्तषष्टि > प्रा० सत्तसट्ठी, सत्तसट्ठि > अप० सत्तसट्ठि > ख० बो० सड़सठ। पूर्वी हिंदी में 'सरसठि', 'सड़सठि' तथा 'सतसठि'; मराठी में 'सतसष्ट', 'सदसष्ट'; उड़िया में 'सतसठि'; बँगला में 'सातसठि'; राजस्थानी में 'सड़सट' तथा पंजाबी में 'सताहट्' रूप होते हैं।

सं० अष्टाषष्टि, अष्टषष्टि > प्रा० अट्ठसट्ठी, अट्ठसट्ठी, अट्ठसट्ठि > अप० अट्ठसट्ठि > ख० बो० अड़सठ।

सं० एकोनसप्तति, ऊनसप्तति इत्यादि > अर्धमा० प्रा० अउणा-त्तरि, एगुणसत्तरि, प्रा० एगूणसत्तरि > अप० उगुणसत्तरि > ख० बो० उनहत्तर। ऊपर कहा जा चुका है कि द्वितीय और अष्टम दशकों में अन्य शब्दों के योग से खड़ी बोली के 'सत्तर' का 'स', 'ह' के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसी नियम के अनुसार इकहत्तर, बहत्तर, तिहत्तर आदि बने हैं। राजस्थानी में प्राकृत के 'बावत्तरि', 'तेवत्तरि', 'चोवत्तरि' आदि से मिलते-जुलते 'इकत्तर', 'बवत्तर' या 'छियंतर', 'सतंतर' तथा 'इठंतर' मिलते हैं जिनमें 'ह' वर्तमान नहीं है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि खड़ी बोली में आ जानेवाला यह 'ह' आधुनिककालीन प्रवृत्ति का फल है। अर्धमागधी प्राकृत के कुछ रूपों (पंचहत्तरि, सत्तहत्तर तथा अट्ठ-हत्तर) में भी संस्कृत-शब्दों (पञ्चसप्तति, सप्तसप्तति तथा अष्टसप्तति) के 'स' का 'ह' के रूप में परिवर्तन पाया जाता है।

पंजाबी, सिंधी तथा मराठी में भी 'ह' ही पाया जाता है; जैसे— 'इकहत्तर' (पंजाबी); 'इकहत्तरि' (सिंधी); 'इकहत्तर' (मराठी)। यहाँ हम यह भी देखते हैं कि संस्कृत के 'सप्तति' के अंतिम 'त' के स्थान में खड़ी बोली में 'र' हो गया है। 'त' के स्थान में 'र' प्राचीन काल में ही होने लगा था। पाली भाषा में 'सत्तति' और 'सत्तरि' दोनों रूप पाए जाते हैं। भाषा-विज्ञान-वेत्ताओं का अनुमान है कि 'त' के स्थान में पहले 'ट' हुआ होगा, फिर 'ट' का 'ड' हुआ होगा और तत्पश्चात् 'ड' के स्थान में 'र' हुआ होगा। इस प्रकार 'सप्तति' > 'सत्तति' > 'सत्तटि' > 'सत्तडि' > 'सत्तरि', 'सत्तर'। संख्यावाचक शब्दों के द्वितीय दशक में भी 'ड' > 'द' का 'र' के रूप में परिवर्तित हो जाना हम पहले देख चुके हैं (एकादश > *एग्गाडस > ग्यारह; पञ्चदश > *पण्णडस > पंद्रह इत्यादि)।

सं० सप्तति > प्रा० सत्तरी, सत्तरि > अप० सत्तरि > ख० बो० सत्तर।

सं० एकसप्तति > प्रा० एकसत्तरि > अप० इकोतरि। यहाँ पाली में प्राकृत से मिलता-जुलता 'इकहत्तर' रूप पाया जाता है जिसका बोलचाल में प्रायः 'इखत्तर' के समान उच्चारण होता है। इसका कारण यही है कि जल्दी में 'क' के पश्चात् 'ह' का उच्चारण करने से दोनों मिलकर 'ख' के समान प्रतीत होते हैं।

सं० द्विसप्तति, द्वासप्तति > प्रा० बासत्तरि > अप० बुहुत्तरि, बेहत्तरि, बहुत्तरि, बहत्तरि, बहत्तरि > ख० बो० बहत्तर।

सं० त्रयःसप्तति, त्रिसप्तति > प्रा० तेसत्तरि > अप० तेवत्तरि > ख० बो० तिहत्तर।

सं० चतुस्सप्तति > प्रा० चोसत्तरि > अप० चौवत्तरि > ख० बो० चौहत्तर।

स० पञ्चसप्तति > प्रा० पंचसत्तरि > अप० पंचत्तरि > ख० बो० पचहत्तर, जो बोलचाल में प्रायः 'पछत्तर' हो जाता है। इसका कारण 'च' और 'ह' का मिलकर 'छ' हो जाना है।

सं० षट्सप्तति > प्रा० छासत्तरि > अप० छावत्तरि > ख० बो० छिहत्तर, छियत्तर।

सं० सप्तसप्तति > प्रा० सत्तसत्तरि > अप० सत्तत्तरि > ख० बो० सतत्तर, सतहत्तर।

सं० अष्टासप्तति, अष्टसप्तति > प्रा० अट्ठसत्तरि > अप० अठोतर, अट्ठोत्तरि > ख० बो० अठत्तर।

सं० एकोनाशीति, ऊनाशीति > प्रा० एगुणसीइ > अप० उगुणासी > ख० बो० उनासी। राजस्थानी में गुण्यासी तथा मेवाड़ी में गुणियाशी रूप होते हैं जो प्राकृत के एगुणसीइ से मिलते-जुलते हैं।

सं० अशीति > प्रा० आसीई, असीइ > अप० असी > ख० बो० अस्सी।

सं० एकाशीति > प्रा० एक्कासीई, एक्कासीइ > अप० इक्कयासी > ख० बो० इक्यासी।

सं० द्व्यशीति > प्रा० बासीइ > अप० बायासी > ख० बो० बयासी।

सं० त्र्यशीति > प्रा० त्रेयासी > अप० त्रेयासी > ख० बो० तिरासी। 'तिरपन' के संबंध में लिखते समय ऊपर बताया जा चुका है कि 'तिरासी' का 'र' संस्कृत से ही आया है अतः यहाँ पर उस व्युत्पत्ति को दुहराने की आवश्यकता नहीं।

सं० चतुरशीति > प्रा० चउरासी, चौरासी, चउरासीइ > अप० चौरासी > ख० बो० चौरासी।

सं० पञ्चाशीति > प्रा० पंचासीइ > अप० पँचासी > ख० बो० पचासी।

सं० षडशीति > प्रा० छासीइ > अप० छयासी > ख० बो० छियासी। संस्कृत के 'ड' के स्थान में 'अ' तथा बाद में 'अ' के स्थान में 'य' हो जाने से 'छियासी' रूप बन गया है।

सं० सप्ताशीति > प्रा० सत्तासीइ > अप० सत्तासी > ख० बो० सत्तासी।

सं० अष्टाशीति > प्रा० अट्ठासीइ > अप० अट्ठासी > ख० बो० अट्ठासी।

सं० नवाशीति, एकोननवति इत्यादि > प्रा० नवासीइ > अप० नवासी > ख० बो० नवासी।

संस्कृत में एकोननवति का प्रयोग बहुत कम होता है, पर अर्ध-मागधी प्राकृत में उससे निकला हुआ 'एगूणणवइ' ही प्रयुक्त होता है। यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है। संस्कृत शब्दों में विंशति

त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पञ्चाशत्, षष्टि, सप्तति तथा अशीति के ठीक पहलेवाले शब्द, इन शब्दों के पूर्व 'ऊन' का प्रयोग करके बनाए गए हैं; जैसे—'ऊनविंशति', 'ऊनत्रिंशत्' इत्यादि। पर 'नवाशीति' 'नव' और 'अशीति' के योग से बना है। 'ऊन' और 'नवति' के योग से बने हुए 'ऊननवति' का प्रयोग संस्कृत में बहुत कम पाया जाता है। आगे हम देखेंगे कि 'नवाशीति' के समान संस्कृत का 'नवनवति' (= ९९) भी बना है। इन्हीं दो शब्दों से उत्पन्न होने के कारण 'नवासी' और 'निन्नानबे', 'उन्नीस,' 'उंतीस', 'उंतालीस' आदि के समान 'उन'-युक्त नहीं पाए जाते हैं।

सं० नवति > प्रा० नउए > अप० णवइ। खड़ी बोली में 'नव्बे'; उड़िया में 'नबे', बँगला में 'नब्बइ', मराठी में 'नव्वद', सिंधी में 'नवे', पंजाबी में 'नव्वे, नब्बे' रूप मिलते हैं। विद्वानों का अनुमान है कि इन सब शब्दों के मूल में प्राकृत का *'नव्वए' शब्द रहा होगा।

सं० एकनवति > प्रा० एकाणव्वई > अप० एक्कानवे > ख० बो० इक्यानवे। यहाँ हम देखते हैं कि 'आ' हो गया है। 'अ' का इस प्रकार दीर्घ हो जाना 'नब्बे' के योग से बने हुए सभी शब्दों (इक्यानबे, बानबे, तिरानबे आदि) में देखा जाता है। डाक्टर सुनीतिकुमार चैटर्जी ने इसका कारण 'इक्यासी' < सं० 'एकाशीति', 'पचासी' < सं० 'पंचाशीति' तथा 'सत्तासी' < सं० 'सप्ताशीति' का अनुकरण बतलाया है[1]। पर वास्तव में यह अनुकरण नवें दशक के शब्दों का नहीं है, वरन् दसवें दशक में ही पाए जानेवाले 'बानवे' तथा 'अट्ठानवे' का है जिनमें संस्कृत के क्रमशः 'द्वानवति' तथा 'अष्टानवति' से ही 'आ' आ गया है। 'अ' का इस प्रकार दीर्घ हो जाना आधुनिककालीन प्रायः सभी भारतीय आर्य-भाषाओं के

(१) देखिए—S. K. Chatterji, § 530.

शब्दों में पाया जाता है; जैसे—बँगला 'इकान(ब्ब)इ', मराठी 'इक्याण्णव' (=९१), गुजराती 'नयाणूँ' (=९९)।

सं० द्वानवति > प्रा० वाणउइ > अप० बानवे > ख० बो० बानवे।

सं० त्र्योनवति, त्रिनवति > प्रा० तेणउइ > अप० त्राणु > ख० बो० तिरानवे। 'तिरानवे' में वर्तमान 'र', संस्कृत के 'त्र' से ही आया है। 'त्रि' का 'तिर' के समान उच्चारण करने की प्रवृत्ति अब भी जन-साधारण में हम देखते हैं; जैसे—'त्रिशूल' का 'तिरशूल'।

सं० चतुर्नवति > प्रा० चउणउइ > अप० चौरानवे > ख० बो० चौरानवे। इस शब्द का 'र' भी संस्कृत के ही 'र' से आया है।

सं० पंचनवति > प्रा० पंचाणउइ > अप० पंचानवे > ख० बो० पंचानवे। प्राचीन राजस्थानी में 'पंचाणु' रूप पाया जाता है।

सं० षण्णवति > प्रा० छण्णउइ > अप० छाँणवे > ख० बो० छानवे, छियानवे। प्राचीन राजस्थानी में 'छाँणु' रूप होता है।

सं० सप्तनवति > प्रा० सत्तणउइ > अप० सत्तानवे > ख० बो० सत्तानवे।

सं० अष्टनवति, अष्टानवति > प्रा० अट्ठाणउइ > अप० अट्ठानवे > ख० बो० अट्ठानवे। प्राचीन राजस्थानी में 'अट्ठाणुं' और 'अट्ठाणूं' रूप होते हैं।

सं० नवनवति > प्रा० नवाणव्वई, नवनवइ > अप० नवाणवे > ख० बो० निन्नानवे। प्राचीन राजस्थानी में 'नवाणुं', सिंधी में 'नवानवे', मराठी में 'नव्याण्णव' तथा बँगला में 'निरानव्वई' रूप पाए जाते हैं। प्राकृत शब्द के प्रथम 'व' के स्थान पर खड़ी बोली में 'न' हो गया है; अथवा यह 'न' पंजाबी 'नढिनव्वे' या 'नढिन्न' में के 'ढ' के स्थान पर आ गया होगा।

सं० शत > प्रा० सत, सय, साग्र > अप० सउ > ख० बो० सौ। ऊपर कहा गया है कि 'सौ' के लिये 'सै' का भी प्रयोग होता है जो प्राकृत के 'सय' रूप से निकला है। मिस्टर केलाग ने अपने Grammar of the Hindi Language में इस शब्द को प्राकृत के 'सयन' से निकला हुआ माना है। उनका कथन है कि संस्कृत के 'शतम्' से प्राकृत में 'सयन' बना होगा, और फिर 'सयन' से 'सै' बन गया है। पर 'सयन' की अपेक्षा 'सय' से 'सै' का उद्भव होना अधिक सभव जान पड़ता है।

सौ से ऊपर जिस प्रकार खड़ी बोली में संख्यावाचक शब्दों की रचना की जाती है उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। जिन सख्याओं के विशेष नाम हैं वे भी ऊपर बताए जा चुके हैं। आगे उनकी उत्पत्ति के सबंध में विचार किया जायगा।

खड़ी बोली में दस सौ के लिये प्राय: 'हजार' शब्द का प्रयोग होता है। यह फारसी भाषा का शब्द है जो अन्य बहुत से फारसी के शब्दों के समान हिंदी भाषा में आ गया है। 'हजार' के लिये सस्कृत के तत्सम शब्द 'सहस्र' का भी प्रयोग खड़ी बोली में होता है। खड़ी बोली ने प्राकृत के 'सहस्स' (< स० सहस्र) के आधार पर बना हुआ कोई शब्द ग्रहण नहीं किया है, पर पूर्वी हिंदी में 'सहस्स' से निकले हुए 'सहस' शब्द का प्रयोग होता है। ऐसा जान पड़ता है कि मुसलमानों के भारतवर्ष में आने के समय यहाँ की आर्य-भाषाओं की बोलचाल में 'दशशत' के समान किसी यौगिक शब्द का प्रयोग अधिकता से होने लगा था, और उस समय साहित्य में व्यवहृत 'सहस' तथा 'सहस्स' को लोग भूल से गए थे। उसी समय उन्हें फारसी का अयौगिक 'हजार' शब्द मिला, जिसे पहले उत्तर-पश्चिम की बोलियों ने ग्रहण किया होगा और तत्पश्चात् धीरे धीरे अन्य बोलियों में भी इसका प्रयोग होने लगा होगा।

खड़ी बोली का 'लाख' प्राकृत के 'लक्खं' < सं० लक्ष, लक्षा से आया है।

ख० बो० करोड, कड़ोड़ < प्रा० कोडि <सं० कोटि।

ख० बो० अर्ब, अरब < सं० अर्बुद।

ख० बो० खर्ब, खरब < सं० खर्व।

खड़ी बोली के 'नील' से मिलता-जुलता संस्कृत मे कोई शब्द नहीं है। निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह शब्द कहाँ से आया है। संभवतः यह शब्द किसी अन्य भाषा से आया होगा।

ख० बो० पद्म < सं० महापद्म।

ख० बो० शंख < सं० शंकु।

कुछ शब्दों की संस्कृत के शब्दों से अर्थ भिन्नता

अरब, खरब, पद्म और शंख के संबंध में एक विशेष बात ध्यान देने की है कि ये शब्द जिन संख्याओं का बोध कराने के लिये प्रयुक्त होते हैं उन संख्याओं के लिये इन शब्दों के मूल संस्कृत-शब्द नहीं प्रयुक्त होते। नीचे दिए हुए विवरण से इस कथन का स्पष्टीकरण हो जायगा।

संस्कृत के शब्द		खड़ी बोली के शब्द
शत	=	सौ
सहस्र	=	हजार (= १० सौ)
अयुत	=	दस हजार
लक्ष, लक्षा	=	लाख (= १०० हजार)
प्रयुत	=	दस लाख
कोटि	=	करोड़ (= १०० लाख)
अर्बुद	=	दस करोड़
अब्ज	=	अरब (= १०० करोड़)

खर्व	=	दस अरब
महापद्म	=	खरब (= १०० अरब)
शंकु	=	दस खरब
जलधि	=	नील (= १०० खरब)
अंत्य	=	दस नील
मध्य	=	पद्म, पदुम (= १०० नील)
परार्ध	=	दस पद्म
		शंख (= १०० पद्म)
		दस शंख
		महाशंख (= १०० शंख)

ऊपर लिखे हुए शब्द क्रमशः अपने से पहलेवाले शब्द की दस गुनी संख्या का बोध कराते हैं। संस्कृत और खड़ी बोली के शब्दों की तुलना करने से विदित होता है कि जिस संख्या को खड़ी बोली में 'दस करोड़' कहेंगे वह संस्कृत में 'अर्बुद' कही जाती है। संस्कृत के 'अर्बुद' से निकला हुआ खड़ी बोली का 'अर्ब' या 'अरब', अर्बुद से दस गुनी अधिक संख्या अर्थात् 'अब्ज' का बोध कराता है। इसी प्रकार संस्कृत के 'खर्व' से निकले हुए खड़ी बोली के 'खरब' से संस्कृत के 'महापद्म' का, तथा संस्कृत के महापद्म से निकले हुए खड़ी बोली के 'पद्म' से संस्कृत के 'मध्य' का बोध होता है। संस्कृत के 'शंकु' से निकला हुआ खड़ी बोली का 'शंख' तो संस्कृत के संख्यावाचक शब्दों की सीमा को ही लाँघ गया है। मिस्टर केलाग ने अपने Grammar of the Hindi Language में हिंदी के संख्यावाचकों की सूची देते हुए 'अरब' को 'दस करोड़' के बराबर माना है।

इस प्रकार मान लेने से खड़ी बोली का 'अरब' संस्कृत के 'अर्बुद' के बराबर हो जायगा। पर हिंदी में 'अरब' सौ करोड़ के बराबर माना जाता है। जान पड़ता है, केलाग महाशय लिखते समय भूल कर गए हैं।

यदि खड़ी बोली के 'अरब', 'खरब', 'पद्म' और 'शंख' को उनके मूल संस्कृत के रूपों (अर्थात् क्रमशः 'अर्बुद','खर्व','महापद्म' और 'शंकु') के ही बराबर मानें तो हिंदी में करोड़ के बाद संख्यावाचक शब्दों का क्रम निम्नलिखित ढंग पर रखना होगा—

करोड़ (= सं० कोटि)
अरब, अर्ब (= सं० अर्बुद) = १० करोड़
दस अरब (= सं० अब्ज)
खरब (= सं० खर्व) = १०० अरब
पद्म, पदुम (= महापद्म) = १० खरब
शंख (= शंकु) = १० पद्म

अर्थात् 'दस करोड़' के लिये 'अरब', 'दस अरब' के लिये 'खरब', 'खरब' के लिये 'पद्म' तथा 'दस पद्म' के लिये 'शंख' का प्रयोग करना पड़ेगा जो हिंदी में प्रचलित संख्यावाचकों के क्रम के अनुसार न होगा। हिंदी में तो—

अरब = १०० करोड़,
खरब = १०० अरब,
पद्म = १०० नील, तथा
शंख = १०० पद्म।

यदि संस्कृतवाला क्रम हिंदी में लाया जाय तो हिंदी के गणितशास्त्र तथा हिंदी-भाषा-भाषी जनता की संख्या-संबंधिनी धारणा में बड़ा उलट-फेर करने की आवश्यकता होगी। फिर, यह भी आवश्यक नहीं है कि संस्कृत से आए हुए शब्द हिंदी में भी

उसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। जिस अर्थ में वे संस्कृत में प्रयुक्त होते हैं। अतः यहाँ पर इतना समझ लेना ही पर्याप्त होगा कि खड़ी बोली के उपर्युक्त संख्यावाचक शब्द संस्कृत के जिन शब्दों से निकले हैं उनसे भिन्न अर्थ रखते हैं।

पहले दी हुई, संस्कृत के संख्यावाचक शब्दों की, तालिका से यह भी विदित होता है कि संस्कृत के 'अयुत' (=१० हजार), 'प्रयुत' (=१० लाख),'अर्बुद' (=१० करोड़), 'खर्व' (=१० अरब), 'शंकु' (=१० खरब), 'अंत्य' (=१० नील) तथा परार्ध (=१० पद्म) के लिये खड़ी बोली में विशेष शब्द नहीं हैं। इन शब्दों का बोध 'दस हजार', 'दस लाख', 'दस करोड़' आदि कहकर कराया जाता है। संस्कृत के 'अयुत', 'प्रयुत', 'अब्ज', 'जलधि', 'अंत्य', 'मध्य' तथा 'परार्ध' से निकले हुए खड़ी बोली में कोई शब्द नहीं हैं।

(२) अपूर्णांक-बोधक

खड़ी बोली में निम्नलिखित अपूर्णांक-बोधक संख्यावाचक शब्द पाए जाते हैं—

पाव, चौथाई	सवा
तिहाई	डेढ़
आधा	अढ़ाई, ढाई
पौन	साढे०

'ढाई' के आगे 'हूँठा' (=साढे तीन), 'ढ्यौंचा' (=साढे चार), 'पौंचा', 'प्योंचा' (=साढे पाँच), 'खौंचा' (= साढे छ.) तथा 'सवोंचा' (=साढे सात) भी होते हैं, पर इनका प्रयोग केवल संख्याओं के पहाड़ों में ही होता है। इनके अतिरिक्त अन्य सब अपूर्णांकबोधक संख्यावाचक शब्द 'पौन', 'सवा' तथा 'साढे' की सहायता से बना लिए जाते हैं; जैसे 'पौने तीन', 'सवा तीन', 'साढे तीन' इत्यादि। किसी संख्यावाचक शब्द के पहले प्रयुक्त

होने पर 'पौन' शब्द का 'पौने' रूप हो जाता है। और भी अधिक सूक्ष्म संख्याओं का बोध क्रमबोधक संख्यावाचक शब्दों के साथ 'भाग', 'अंश' या 'हिस्सा' शब्द के प्रयोग द्वारा कराया जाता है; जैसे 'आठवाँ भाग', 'शतांश' (=सं० शत+अंश), 'सहस्रांश', 'हजारवाँ हिस्सा' इत्यादि। गणितशास्त्र में इस प्रकार की संख्याओं को सूचित करने के लिये 'बटा' शब्द का प्रयोग होता है; जैसे 'एक बटा छः' ($\frac{1}{6}$)। 'एक बटा छः' का अर्थ है 'छः भागों में बटा हुआ एक' अर्थात् एक का छठा भाग। इसी प्रकार 'सात बटा बीस' ($\frac{7}{20}$) अर्थात् बीस भागों में बटा हुआ सात=सात का बीसवाँ हिस्सा। ऐसे शब्दों को प्रायः लोग इस प्रकार भी समझते हैं कि 'सात बटा बीस' का तात्पर्य यह है कि एक वस्तु के बीस भाग किए गए और उनमें से सात भाग ले लिए गए। चाहे जिस प्रकार समझा जाय, जिस संख्या का बोध होता है वह दोनों दशाओं में एक ही होती है। सात सौ का बीसवाँ भाग पैंतीस, और सौ के बीस भाग करके उनमें से सात भाग लेने पर भी वही पैंतीस ही होता है। पर 'बटा' शब्द के अर्थ के अनुसार पहले कहे हुए ढंग से ही अर्थ लगाना अधिक स्वाभाविक जान पड़ता है।

जिन विशेष अपूर्णांकबोधक संख्यावाचकों के नाम ऊपर दिए गए हैं वे सभी संस्कृत के शब्दों से निकले हैं। 'चौथाई' और 'तिहाई' क्रमशः संस्कृत के क्रमवाचक 'चतुर्थ' तथा 'तृतीय' में 'ई' अथवा 'आई' प्रत्यय लगाकर बनाए गए हैं। 'तिहाई' में 'ह' का योग केवल उच्चारण में सहायक के रूप में हो गया है। सं० तृतीय > प्रा० तइअ > तीआई > तिआई > तिहाई। संस्कृत में इसके लिये 'त्रिभागिका' शब्द का भी प्रयोग होता है।

तिहाई; चौथाई

पाव ख० बो० पाव < अप० पाव < प्रा० पाओ < सं० पादः (= चतुर्थांश)।

आधा ख० बो० आधा < अप० अद्ध < प्रा० अद्धओ < सं० अर्ध, अर्धक।

पौन ख० बो० पौन < प्रा० पाओणो, पाओन < सं० पादोन (पाद + ऊन) = चतुर्थांश कम। इसी 'पौन' से 'पौने' बना है जिसका प्रयोग (संख्याओं के पहले लगाकर) विशेषण के समान होता है।

सवा ख० बो० सवा < अप० सवाउ < प्रा० सवाओ < सं० सपाद (स + पाद) = चतुर्थांश सहित।

'डेढ़' और 'ढाई' आदि की व्युत्पत्ति कुछ विचित्र है। संस्कृत के शब्दों के पूर्व 'अर्ध' का योग करके इन शब्दों के मूल शब्दों की रचना हुई है; जैसे—'अर्ध + द्वितीय' > मागधी प्रा० 'अड्ढदुइए', 'अड्ढदिवइए'। 'अड्ढदुवए' से वर्ण-विपर्यय होकर 'दुइअड्ढए' और फिर 'दिवड्ढे' बन गया जिसका प्रयोग भोजपुरी में अब भी होता है। कुछ विद्वानों का मत यह भी है कि सं० 'द्व्यर्ध' से ही प्राकृत में 'दिवड्ढ' या 'दिमढ' बन गया होगा। प्राकृत के 'दिवड्ढे' या 'दिमढ' से ही खड़ी बोली का 'डेढ़', मराठी का 'दीढ़', गुजराती का 'डोढ' तथा पंजाबी का 'डेवढा' या 'डूढा' बने हैं।

डेढ़

ढाई सं० अर्ध + तृतीया = अर्धतृतीया। प्राकृत में 'अर्ध' का 'अड्ढ' तथा 'तृतीया' का 'तइज्जा' हो गया। इस प्रकार प्राकृत में 'अड्ढ' + 'अइज्जा' = 'अड्ढाइज्जा' बन गया है। प्राकृत में सं० 'तृतीया' का एक और रूप 'तइया' भी होता है जिसमें 'अड्ढ' के योग से 'अड्ढ-

ढतइया'[1] और फिर 'त' के स्थान में 'अ' हो जाने से 'अड्ढअइया' रूप बन गया है। प्रा०—'अड्ढअइया' > 'अड्ढाइया' > 'अढाइया' > 'अढ़ाई'। फिर 'अढ़ाई' के आदि के 'अ' का लोप हो जाने से 'ढाई' बन गया है। खड़ी बोली में 'अढ़ाई' तथा 'ढाई' इसी ढंग से बनकर आए हैं।

संस्कृत के 'अर्धद्वितीय' तथा 'अर्धतृतीय' का अर्थ समझना तनिक टेढ़ा सा जान पड़ता है। इसको इस प्रकार समझना चाहिए—अर्ध + द्वितीय (अर्धद्वितीय) = आधा दूसरा, अर्थात् दूसरा पूरा नहीं है, केवल आधा ही है। इस प्रकार इससे 'एक + आधा' का बोध होता है। इसी प्रकार 'अर्धतृतीय' = 'आधा तीसरा' अर्थात् दूसरा तो पूरा पूरा है पर तीसरा आधा ही है। आगे आनेवाले—'अर्धचतुर्थ' तथा 'अर्धपंचम' का भी अर्थ इसी ढंग से समझना चाहिए।

साढ़े

खड़ी बोली का 'साढ़े' प्राकृत के 'सड्ढओ' से बना है और प्राकृत का 'सड्ढओ' संस्कृत के 'सार्धक' = स + अर्धक अर्थात् आधे के सहित। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'साढ़े' का प्रयोग खड़ी बोली में ठीक उसी अर्थ में होता है जो उसके मूल संस्कृत के शब्द का है। 'साढ़े' का प्रयोग स्वतंत्र रूप में नहीं होता; क्योंकि यह तो केवल विशेषण है, इससे किसी संख्या का बोध नहीं होता। इसलिये किसी न किसी संख्यावाचक शब्द के साथ लगाकर इसका प्रयोग किया जाता है; जैसे 'साढ़े तीन', 'साढ़े चार' इत्यादि।

'हूँठा' या 'ऊंठा' तथा 'ढ्योंचा' की उत्पत्ति भी 'डेढ़' और 'ढाई' के ही समान हुई है। सं० अर्धचतुर्थ > प्रा० अद्ध + चउट्ठ >

---

(1) सहसराम में पाए जानेवाले अशोककालीन शिलालेख में 'अढतिय' रूप पाया जाता है।

अर्द्ध+अत्तट्ठ > अद्ध+ओट्ठ > अद्धोट्ठ। शौरसेनी प्रा० में 'अद्धोट्ठ' तथा मागधी प्रा० में 'अद्धुट्ठ' रूप होता है। जैन अर्ध-मागधी प्राकृत में 'अड्ढुट्ठ' पाया जाता है, जिसे संस्कृत का बाना पहनाकर बाद में संस्कृत के 'अध्युष्ठ' शब्द की रचना की गई है। प्राकृत के 'अद्धोट्ठ' से 'अद्दोट्ठ' बना और फिर आदि के 'अ' का लोप हो जाने से 'होट्ठ' रह गया। 'होट्ठ' से बिगड़कर खड़ी बोली के 'हूँठा' और 'हुंठा' बने हैं। इन रूपों में से 'ह' के लुप्त हो जाने से खड़ी बोली का 'ऊंठा' तथा पंजाबी के 'ऊठा' और 'ऊँटा' बन गए हैं।

हुंठा

सं० अर्धपश्चमः > प्रा० अड्ढवंचओ > अप० अड्ढौंचउ > ख० बो० ढौंचा, ढ्योंचा। पंजाबी में 'ढौंचा' रूप होता है।

ढ्योंचा

'प्योंचा', 'खोंचा' और 'सवोंचा', 'हूँठा' और 'ढ्योंचा' की भाँति, संस्कृत के शब्दों से निकलते हैं। 'हुंठा' तथा 'ढ्योंचा' के मूल संस्कृत शब्द, जिन संख्याओं का वे बोध कराते हैं उनके बाद के शब्दों के पूर्व 'अर्ध' का योग करके बनाए गए हैं; जैसे—अर्ध+पश्चम.(अर्धपंचम) =साढ़े चार। पर 'प्योंचा' इत्यादि में उस प्रकार का क्रम नहीं दिखाई देता, प्रत्युत उसके विपरीत क्रम है। इन शब्दों में इनसे पहले-वाले शब्दों का आभास वर्तमान है; जैसे—'प्योंचा'(=साढ़े पाँच) में 'पाँच' का, 'खोंचा' (=साढ़े छः) में 'छः'[1] का तथा 'सवोंचा' (= साढ़े सात) में

प्योंचा

खोंचा, सवोंचा

---

(१) 'छः' की व्युत्पत्ति के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि संस्कृत के 'षष्' के 'ष' का हिंदी में 'छ' नहीं हुआ है, वरन् यह ईरानी भाषा के प्रभाव से आया है। मध्यकाल में 'ष' को 'स' करने की प्रवृत्ति थी, पर बाद में 'ख' भी होने लगा था। पुरानी हिंदी में 'ष' का उच्चारण 'ख' के समान

'सात' का। मिस्टर हार्नेले[1] तथा मिस्टर केलाग[2] दोनों पश्चिमी विद्वानों का अनुमान है कि ये शब्द 'छ्यौंचा' के अनुकरण पर बना लिए गए हैं। इन विद्वानों का अनुमान ठीक जान पड़ता है, क्योंकि संस्कृत के किसी शब्द से इनकी उत्पत्ति नहीं बताई जा सकती।

(३) क्रमवाचक

खड़ी बोली में क्रमवाचक शब्द पूर्णांकबोधक संख्यावाचकों में 'वाँ' प्रत्यय लगाकर बनाए जाते हैं; जैसे—'आठवाँ' (आठ + वाँ)। यह 'वाँ' प्रत्यय संस्कृत के 'म' प्रत्यय का विकृत रूप है जो इसी प्रसंग में प्रयुक्त होता है; जैसे—सं० 'दशम' (दश + म), ख० बो० आठवाँ। 'म' के स्थान पर 'वँ' हो जाना अपभ्रंश-काल की एक विशेष प्रवृत्ति थी जिसके कारण हिंदी में भी 'वँ' आ गया है। पर कुछ क्रमवाचक शब्द इस ढंग से बने हुए नहीं हैं। ये शब्द 'पहला, पहिला', 'दूसरा', 'तीसरा', 'चौथा' और 'छठा, छट्ठा' हैं, जो सीधे संस्कृत के क्रमवाचक शब्दों से बन गए हैं।

वैदिक संस्कृत में 'पहला' का समानार्थी 'प्रथ + इल'[3] शब्द पाया जाता है, जिसके मध्यकाल में *'पठिल्ल' *'पथिल्ल', *'पहिल्ल'

होता था। लिखने में 'ख' के स्थान पर प्रायः 'ष' लिखा जाने लगा था। अतः 'छौंचा' में जो 'छ' विद्यमान है वह संस्कृत के 'षट्' के 'ष' का ही रूपांतर है।

(१) देखिए हार्नेले का Grammar of the Gaudian Languages, § 416.

(२) देखिए केलाग का Grammar of the Hindi Language. § 251.

(३) वैदिक संस्कृत में 'प्रथ' अथवा 'प्रथिल' कोई प्रयुक्त शब्द नहीं है। विद्वानों की कल्पना है कि उस काल में 'प्र' उपसर्ग के तुलनावाचक 'प्रतर' और 'प्रतम' रूप बनते रहे होंगे; प्रतर से प्रथिर > प्रथिल > पथिल्ल > पढिल्ल > पहिल्ल आदि बनने के बाद 'पहिल' रूप विकसित हुआ और प्रतम से संस्कृत के प्रथम और प्राकृत के पढमो आदि रूप बने हैं।—सं०।

अद्ध + अवट्ठ > अद्ध + ओट्ठ > अद्धोट्ठ। शौरसेनी प्रा० में 'अद्धोट्ठ' तथा मागधी प्रा० में 'अद्धुट्ठ' रूप होता है। जैन अर्ध-मागधी प्राकृत में 'अड्ढुट्ठ' पाया जाता है, जिसे संस्कृत का बाना पहनाकर बाद में संस्कृत के 'अध्युष्ठ' शब्द की रचना की गई है। प्राकृत के 'अद्धोट्ठ' से 'अहोट्ठ' बना और फिर आदि के 'अ' का लोप हो जाने से 'होट्ठ' रह गया। 'होट्ठ' से बिगड़कर खड़ी बोली के 'हूँठा' और 'हुंठा' बने हैं। इन रूपों में से 'ह' के लुप्त हो जाने से खड़ी बोली का 'उंठा' तथा पंजाबी के 'ऊठा' और 'ऊँटा' बन गए हैं।

हुंठा

सं० अर्धपञ्चमः > प्रा० अड्ढवंचओ > अप० अड्ढौंचउ > ख० बो० ढौंचा, ढ्योंचा। पंजाबी में 'ढौंचा' रूप होता है।

ढ्योंचा

'प्योंचा', 'खोंचा' और 'सतोंचा', 'हूँठा' और 'ढ्योंचा' की भाँति, संस्कृत के शब्दों से निकलते हैं। 'हुंठा' तथा 'ढ्योंचा' के मूल संस्कृत शब्द, जिन संख्याओं का वे बोध कराते हैं उनके बाद के शब्दों के पूर्व 'अर्ध' का योग करके बनाए गए हैं; जैसे—अर्ध + पञ्चम. (अर्धपंचम) = साढ़े चार। पर 'प्योंचा' इत्यादि में उस प्रकार का क्रम नहीं दिखाई देता, प्रत्युत उसके विपरीत क्रम है। इन शब्दों में इनसे पहले-वाले शब्दों का आभास वर्तमान है; जैसे—'प्योंचा' (= साढ़े पाँच) में 'पाँच' का, 'खोंचा' (= साढ़े छः) में 'छः'[1] का तथा 'सतोंचा' (= साढ़े सात) में

प्योंचा

खोंचा, सतोंचा

---

(१) 'छः' की व्युत्पत्ति के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि संस्कृत के 'षष्' के 'ष' का हिंदी में 'छ' नहीं हुआ है, वरन् यह ईरानी भाषा के प्रभाव से आया है। मध्यकाल में 'ष' को 'स' करने की प्रवृत्ति थी, पर बाद में 'ख' भी होने लगा था। पुरानी हिंदी में 'ष' का उच्चारण 'ख' के समान

'सात' का। मिस्टर हार्नले[1] तथा मिस्टर केलाग[2] दोनों पश्चिमी विद्वानों का अनुमान है कि ये शब्द 'छौंचा' के अनुकरण पर बना लिए गए हैं। इन विद्वानों का अनुमान ठीक जान पड़ता है, क्योंकि संस्कृत के किसी शब्द से इनकी उत्पत्ति नहीं बताई जा सकती।

(३) क्रमवाचक

खड़ी बोली में क्रमवाचक शब्द पूर्णांकबोधक संख्यावाचकों में 'वाँ' प्रत्यय लगाकर बनाए जाते हैं; जैसे—'आठवाँ' (आठ + वाँ)। यह 'वाँ' प्रत्यय संस्कृत के 'म' प्रत्यय का विकृत रूप है जो इसी प्रसंग में प्रयुक्त होता है; जैसे—सं० 'दशम' (दश + म), ख० बो० आठवाँ। 'म' के स्थान पर 'वँ' हो जाना अपभ्रंश-काल की एक विशेष प्रवृत्ति थी जिसके कारण हिंदी में भी 'वँ' आ गया है। पर कुछ क्रमवाचक शब्द इस ढंग से बने हुए नहीं हैं। ये शब्द 'पहला, पहिला', 'दूसरा', 'तीसरा', 'चौथा' और 'छठा, छट्ठा' हैं, जो सीधे संस्कृत के क्रमवाचक शब्दों से बन गए हैं।

वैदिक संस्कृत में 'पहला' का समानार्थी 'प्रथ + इल'[3] शब्द पाया जाता है, जिसके मध्यकाल में '*पठिल्ल' '*पथिल्ल', '*पहिल्ल' होता था। लिखने में 'ख' के स्थान पर प्रायः 'ष' लिखा जाने लगा था। अतः 'खोंचा' में जो 'ख' विद्यमान है वह संस्कृत के 'षट्' के 'ष' का ही रूपांतर है।

(१) देखिए हार्नले का Grammar of the Gaudian Languages, § 416.

(२) देखिए केलाग का Grammar of the Hindi Language. § 251.

(३) वैदिक संस्कृत में 'प्रथ' अथवा 'प्रथिल' कोई प्रयुक्त शब्द नहीं है। विद्वानों की कल्पना है कि उस काल में 'प्र' उपसर्ग के तुलनावाचक 'प्रतर' और 'प्रतम' रूप बनते रहे होंगे; प्रतर से प्रथिर > प्रथिल > पथिल्ल > पठिल्ल > पहिल्ल आदि बनने के बाद 'पहिल' रूप विकसित हुआ और प्रतम से संस्कृत के प्रथम और प्राकृत के पढमो आदि रूप बने हैं।—सं०।

रूप हो गए होंगे। पर लौकिक संस्कृत में 'प्रथम' शब्द पाया जा
है जिसकी उत्पत्ति वैदिक 'प्रथ' पर 'वैदिक काल' के भी पहले क
'प्रथम'[1] का प्रभाव पड़ने से हुई होगी[2]।

पहला — सं० 'प्रथम' > प्रा० 'पढमिल्ल' > 'पढइल्ल'।
फिर 'ढ' के स्थान पर 'ह' होकर 'पहिल्ल' और तत्पश्चात् 'पहिला' या 'पहला' रूप हो गया है। यहाँ हम देखते हैं कि खड़ी बोली में अंतिम 'अ' दीर्घ हो गया है। अंतिम 'अ' को दीर्घ कर देने की प्रवृत्ति हम खड़ी बोली के प्रायः सभी क्रमवाचक संख्यावाचक शब्दों में पाते हैं, जैसे—दूसरा, अठारहवाँ, चौबीसवाँ, हजारवाँ, इत्यादि। यह प्रवृत्ति न तो संस्कृत में पाई जाती है (एकादश से ऊनविंशति तक के संख्यावाचकों को छोड़कर) और न प्राकृत में ही; जैसे-सं० पञ्चम, षष्ठ, सप्तम, विंशतितम; पाली अट्ठारसम; प्रा० पढमिल्ल। संभवतः संस्कृत के 'एकादशा', 'द्वादशा' त्रयोदशा (= ग्यारहवाँ, बारहवाँ, तेरहवाँ) आदि के अनुकरण से ही खड़ी बोली में यह प्रवृत्ति आ गई होगी।

खड़ी बोली के 'दूसरा' और 'तीसरा' की उत्पत्ति संस्कृत के 'द्वितीय' और 'तृतीय' से नहीं हुई है। ये शब्द किस प्रकार बने हैं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता[3]। मिस्टर हार्नली का अनुमान है कि ये शब्द क्रमशः संस्कृत के 'द्विसृत' और 'त्रिसृत' से निकले हैं[4]। 'सृत' का प्राकृत में 'सरिओ' या 'सरिअ' रूप होता

---

(१) इससे मिलता जुलता 'फ्रतेम' शब्द अवस्ता में पाया जाता है।

(२) देखिए—Origin and Development of the Bengali Language, § 536.

(३) 'द्विसर' से इसकी उत्पत्ति क्यों न मानी जाय।—सं०।

(४) देखिए—हार्नली का Grammar of the Gaudian Languages, § 271.

है, और वही हिंदी में "सर" प्रत्यय का रूप धारण कर लेता है। 'सरा' का स्त्रीलिंग में 'सरी' रूप हो जाता है। इस प्रकार सं० 'द्विस्सृतः' (द्वि+सृत) > प्रा० 'दूसरिश्रो' या 'दूसरिया' > ख० बो० 'दूसरा'। सं० 'द्विस्सृतिका' > प्रा० 'दूसरिइश्रा' > ख० बो० 'दूसरी' (स्त्रीलिंग), सं० 'त्रिसृत' > प्रा० 'तीसरिश्रो' या 'तीसरिश्रा' > ख० बो० 'तीसरा' (पुंल्लिंग)। सं० 'त्रिसृतिका' > प्रा० 'तीसलिइश्रा' > ख० बो० 'तीसरि' (स्त्रीलिंग)। संस्कृत के 'सृत' का अर्थ है 'चला हुआ' या 'रेंगा हुआ'।

पुरानी हिंदी के 'दूजौ' या 'दूजो' तथा 'तीजौ या तीजो' क्रमशः संस्कृत के 'द्वितीय' (> प्रा० दुइज्जश्रो, दुइअश्रो) तथा सं० 'तृतीय' (> प्रा० तइज्जश्रो, तइअश्रो) से निकले हैं। संस्कृत के 'द्वि' का प्राकृत में एक रूप 'वे' भी होता है जिसके क्रमवाचक 'विइअश्रो' और 'वीअश्रो' रूप बनते हैं। इसी से सिंधी का 'वीश्रो' या 'बिजो' तथा गुजराती का 'वीजो' बने हैं।

चौथा

सं० चतुर्थ > प्रा० चउत्थश्रो > ख० बो० चौथा। पंजाबी में 'चौथा', गुजराती में 'चोथो', सिंधी में 'चोथों' तथा मराठी में 'चवथा' रूप पाए जाते हैं।

छठा

सं० षष्ठः > प्रा० छट्ठश्रो, छट्ठो > ख० बो० छठा। खड़ी बोली का 'छठवाँ' संस्कृत के 'षषमः' के अनुकरण से बनाया गया है, पर संस्कृत में 'पञ्चमः' और 'सप्तमः' आदि के समान 'षषमः' शब्द का प्रयोग नहीं होता। अतः यह अनुमान करना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है कि हिंदी के क्रमवाचक 'पाँचवाँ', 'सातवाँ', 'आठवाँ' आदि के अनुकरण से ही उन्हीं के समान 'छठवाँ' रूप भी बना लिया गया होगा। मराठी, पंजाबी तथा सिंधी में भी इसी प्रकार के रूप बनते हैं; जैसे—मराठी

'सहा' (= ६) से 'सहावा'; पंजाबी 'छे' (= ६) से 'छेवाँ' तथा सिंधी 'छह' (= ६) से 'छहेँ'।

'एकादश' से लेकर 'ऊनविंशति' तक के क्रमवाचक शब्दों का अनुकरण हिंदी में नहीं पाया जाता। संस्कृत में उपर्युक्त क्रमवाचक शब्द अंतिम 'अ' के स्थान में पुँल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसक लिंगों में क्रमशः 'आ', 'ई' और 'म्' लगाकर बनाए जाते हैं; जैसे—'एकादशः' (= ग्यारहवाँ—पुँल्लिंग), 'एकादशी' (=ग्यारहवीं—स्त्रीलिंग), 'एकादशं' (ग्यारहवाँ—नपुंसकलिंग)। पर खड़ी बोली में, अन्य शब्दों में लगनेवाले संस्कृत के 'म' के अनुकरण के अनुसार सर्वत्र 'वाँ' का ही प्रयोग किया जाता है।

महीने की तिथियों का बोध कराने के लिये खड़ी बोली में जिन शब्दों का प्रयोग होता है उनमें से 'परीवा', 'अमावस' और 'पूनो' को छोड़कर प्रायः सभी क्रमवाचक संख्यावाचक शब्द हैं। पर तिथिबोधक शब्द हिंदी के साधारण क्रमवाचक संख्यावाचकों से भिन्न हैं। ये शब्द संस्कृत के तिथिबोधक शब्दों से निकले हुए हैं। संस्कृत में तिथियों का बोध क्रमवाचक शब्दों के स्त्रीलिंग के रूपों के द्वारा कराया जाता है। वास्तव में ये शब्द 'तिथि' शब्द के विशेषणों के समान प्रयुक्त हुए हैं, जैसे 'द्वितीया तिथिः', 'तृतीया तिथिः' इत्यादि। यही कारण है कि तिथिबोधक शब्द स्त्रीलिंग-रूप में पाए जाते हैं। पर अब 'तिथि' शब्द लुप्त हो गया है और तिथि-बोधक विशेषणों का प्रयोग संज्ञाओं के समान होता है; जैसे—द्वितीया = द्वितीया-तिथि।

महीने की तिथियाँ

ऊपर कहा गया है कि 'परीवा'; 'अमावस' और 'पूनो' क्रमवाचक संख्यावाचक शब्दों से निकले हुए शब्द नहीं हैं। 'परीवा' की उत्पत्ति संस्कृत के 'प्रतिपदा' से, 'अमावस' की संस्कृत के

'अमावस्या' से तथा 'पूनो' की संस्कृत के 'पूर्णिमा' या 'पूर्णमासी' से हुई है। नीचे दिए हुए, खड़ी बोली तथा संस्कृत के, तिथि-बोधक शब्दों से स्पष्ट हो जायगा कि खड़ी बोली के शब्दों की उत्पत्ति संस्कृत के किन शब्दों से हुई है। आजकल खड़ी बोली में मारवाड़ी के तिथिबोधक शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक होने लगा है, इसलिये मारवाड़ी के भी शब्दों को साथ साथ लिख देना अनावश्यक न होगा।

संस्कृत	खड़ी बोली	मारवाड़ी
प्रतिपदा, प्रथमा	परीवा	पकम
द्वितीया	दूज	दूज, बीज
तृतीया	तीज	तीज
चतुर्थी	चौथ	चौथ
पञ्चमी	पंचमी	पाँचम
षष्ठी	छठ, छट्ठ	छठ
सप्तमी	सत्तमी	सातम
अष्टमी	अष्टमी	आठम
नवमी	नौमीं	नवम
दशमी	दसमीं	दसम
एकादशी	एकादसी	ग्यारस
द्वादशी	द्वादसी	बारस
त्रयोदशी	तेरस	तेरस
चतुर्दशी	चौदस	चौदस
अमावस्या	अमावस, मावस	अमावस
पूर्णमासी	पूर्णमासी, पूनो	पूनम, पून्यूँ
पूर्णिमा	पून्या	

केलाग महाशय ने 'परीवा' को सं० 'प्रथमा' से निकला हुआ माना है[1]। उनका कथन है कि 'प्रथमा' के 'थ' का लोप, तथा 'म' के स्थान पर 'व' हो जाने से 'प्रवा' शब्द बना होगा और फिर युक्तविकर्ष से 'प्रवा' का 'परवा' और तत्पश्चात् 'परीवा' बन गया होगा। पर इस प्रकार 'थ' का मनमाना लोप कराकर खींचतान करके हठात् 'परीवा' को 'प्रथमा' से निकला हुआ प्रमाणित करना केलाग महोदय की भूल है। 'परीवा' शब्द 'प्रथमा' से नहीं वरन् 'प्रतिपदा' से निकला है। सं० 'प्रतिपदा' का प्राकृत में 'पाडिवआ'[2] रूप हो जाता है। इसी 'पाडिवआ' से 'पाड़िवा' और फिर 'परीवा' बन गया है। मराठी में अब भी 'पाड़िवा' रूप विद्यमान है।

'दूज', 'तीज', 'चौथ' तथा 'छठ' की उत्पत्ति का वर्णन ऊपर क्रमवाचक शब्दों की उत्पत्ति के प्रसंग में हो चुका है। खड़ी बोली के शेष अन्य तिथि-बोधक शब्द संस्कृत के शब्दों से बहुत अधिक मिलते हैं, अतः उनकी उत्पत्ति को समझने में कोई कठिनता नहीं है।

संस्कृत के तत्सम तिथिबोधक शब्दों का भी प्रयोग प्रायः खड़ी बोली में होता है।

(४) आवृत्तिवाचक

खड़ी बोली के आवृत्तिवाचक संख्यावाचक शब्द पूर्णांक-बोधक तथा अपूर्णांक-बोधक संख्यावाचकों के बाद 'गुना' लगाकर बनाए जाते हैं; जैसे—'नौगुना', 'दसगुना', 'हजारगुना', 'ढाई गुना', 'पौने चार गुना' इत्यादि। स्त्रीलिंग में 'गुना' का 'गुनी' रूप हो जाता है; जैसे—'नौगुनी', 'हजारगुनी', 'ढाई गुनी' इत्यादि। 'गुना' शब्द के योग से कुछ पूर्णांक-बोधक संख्यावाचकों में थोड़ा सा

(१) देखिए—Kelogg's Grammar of Hindi § 252 (a).
(२) देखिए—वररुचि कृत प्रा० प्रकाश, परिशिष्ट १, सूत्र २।

विकार हो जाता है। विकृत हो जानेवाले शब्द 'दो', 'तीन', 'चार', 'पाँच', 'सात' और 'आठ' हैं। इन शब्दों के आवृत्तिवाचक रूप बनाने में इनमें जो विकार उपस्थित हो जाता है वह नीचे दिए हुए शब्दों को देखने से स्पष्ट हो जायगा।

पूर्णांक संख्याबोधक	आवृत्तिवाचक
दो	दुगुना, दुगना, दूना
तीन	तिगुना
चार	चौगुना
पाँच	पँचगुना
सात	सतगुना
आठ	अठगुना

'गुना' शब्द संस्कृत के 'गुणक' से निकला है। खड़ी बोली के आवृत्तिवाचक संख्यावाचक शब्द, प्राय: संस्कृत के बने-बनाए शब्दों के प्राकृत से होकर आए हुए रूप हैं। उदाहरणार्थ 'दुगुना' को लीजिए। सं० 'द्विगुणकम्' > प्रा० 'दुगुणअं' > 'दुगुनं' > ख० बो० 'दुगुना', 'दुगना'। फिर 'दुगना' के 'ग' का लोप हो जाने से एक दूसरा रूप 'दूना' भी बन गया। इसी प्रकार सं० 'त्रिगुणकम्' > प्रा० 'तिगुणअं' > ख० बो० 'तिगुना'; सं० 'चतुर्गुणकम्' > प्रा० 'चउगुणअं' > ख० बो० 'चौगुना'।

आवृत्तिवाचक शब्दों के अंतर्गत एक और प्रकार के भी शब्द पाए जाते हैं जो अँगरेजी में 'Reduplicatives' कहे जा सकते हैं। इस प्रकार के शब्द प्राय: 'लड़ा' और कभी कभी 'हरा' शब्दों के योग से बनाए जाते हैं; जैसे—'दुलड़ा', 'तिलड़ा', 'इकहरा', 'दुहरा' इत्यादि। 'हरा' के योग से बननेवाले शब्द 'इकहरा', 'दोहरा', 'तेहरा' और 'चौहरा' हैं। मिस्टर हार्नले ने इस 'हरा' प्रत्यय की उत्पत्ति संस्कृत के 'विध' शब्द से मानी है। 'विध' का अर्थ है 'रूप' या

'ढंग'। प्राकृत में 'विध' का 'विह' रूप हो जाता है। हार्नले महोदय का कहना है कि प्राकृत के इस 'विह' के 'वि' का लोप हो जाने तथा उसमें 'रा' प्रत्यय का योग हो जाने से 'हरा' शब्द बन गया है। अपने कथन की पुष्टि के लिये उन्होंने 'दोहरा' की उत्पत्ति के क्रम का निम्नांकित ढंग से उदाहरण दिया है—

सं० द्विविध > प्रा० दुविह, बेविह > अप० दोहडउ, बेहड > ख० बो० दोहरा।

'लड़ा' शब्द संस्कृत के 'लता'[1] से निकला हुआ जान पड़ता है, पर हिंदी में इसका अर्थ दूसरा ही हो गया है। 'लड़ा' और 'हरा' के योग से बने हुए शब्द प्रायः मालाओं आदि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

(५) गुणावाचक

खड़ी बोली के गुणावाचक सख्यावाचक शब्दों की उत्पत्ति के संबंध में कोई विशेष बात कहने की नहीं है। ये शब्द प्रायः समुदायबोधक संख्यावाचकों की सहायता से बनाए जाते हैं; जैसे—'तीन अठे चौबीस' में 'अठे'='आठ के समुदाय', अर्थात् तीन आठ के समुदाय चौबीस के बराबर होते हैं। अधिकांश गुणावाचक शब्द समुदायबाचकों में बहुवचन का चिह्न है, और इन शब्दों में ठीक उसी प्रकार लगाया जाता है जिस प्रकार आकारांत पुंल्लिग संज्ञाओं के कर्ताकारक के बहुवचन में। उदाहरण के लिये 'घोड़ा' शब्द को लीजिए। कर्ताकारक बहुवचन में इसका 'घोड़े' रूप होगा। ठीक उसी प्रकार 'अट्ठा' का 'अट्ठे', 'पंजा' का 'पंजे' इत्यादि रूप हो जाते हैं। पर यह नियम सर्वव्यापी नहीं है। इसके अपवाद-रूप कुछ गुणावाचक

(१) संस्कृत के 'सर' शब्द से 'हरा' की उत्पत्ति क्यों न मानी जाय?—सं०।

शब्दों के विचित्र ही रूप बनते हैं; जैसे—'एकं', 'दूना', 'ती, तीन', 'चौक, चौका', 'दहाम', 'सवा' (१¼), 'ढाम, ढामा' (२½) इत्यादि।

गुणावाचक संख्यावाचक शब्दों का उपयोग संख्याओं के पहाड़ों को पढ़ते समय होता है।

(६) समुदायवाचक

खड़ी बोली के समुदायवाचक संख्यावाचक शब्द प्रायः 'आ' या 'ई' लगाकर बनाए जाते हैं; जैसे—'बीस' से 'बीसा' (=बीस का समुदाय); 'पचीस' से 'पचीसा', 'पचीसी' (=पचीस का समुदाय); 'बत्तीस' से 'बत्तीसी' (=बत्तीस का समुदाय); 'हज़ार' से 'हज़ारा', 'हज़ारी' (=हज़ार का समुदाय) इत्यादि। यह 'आ' प्रत्यय का अवशेष-चिह्न है। आगे इसका स्पष्टीकरण होगा। खड़ी बोली के कुछ शब्दों (एक्का, दुक्का, तिक्का, चौक्का आदि) में संस्कृत के 'क्रम्' से आया हुआ 'क' भी अब तक विद्यमान है। इन शब्दों की उत्पत्ति का क्रम निम्न-लिखित है—

एक्का — सं० एकक्रम् > प्रा० एक्कअं > ख० बो० एक्का।

दुक्का — सं० द्विकम् > प्रा० द्विक्कअं > ख० बो० दुक्का।

तिक्का — सं० त्रिकम्, त्रिककम् > प्रा० तिअं, तिक्कअं > ख० बो० तिक्का।

चौका — सं० चतुष्कम्, चतुष्ककम् > प्रा० चउक्कं, चउक्कअं > ख० बो० चौका।

पंचा — सं० पञ्चकम् > प्रा० पंचअं > ख० बो० पंचा, पंजा। यहाँ हम देखते हैं कि 'पंचा' और 'पंजा' में उपरि-लिखित शब्दों के समान 'क' नहीं है। इसका कारण यही है कि प्राकृत में ही इस वर्ण का लोप हो गया था।

छक्का — सं० षट्ककम् > प्रा० छक्कअं > ख० बो० छक्का।

सत्ता — सं० सप्तकम् > प्रा० सत्तअं > ख० बो० सत्ता।

अट्टा — सं० अष्टकम् > प्रा० अट्ठअं > ख० बो० अट्ठा। 'पंचा' के समान 'अट्ठा' से भी 'क' का लोप हो गया है।

कुछ शब्दों में स्वार्थक (जो उसी अर्थ का वाचक रहता है) 'ड़ा' प्रत्यय भी लगा हुआ पाया जाता है; जैसे—सं० 'चतुष्ककम्' >

'ड़ा' प्रत्यय — अप० 'चउक्कडउ' > ख० बो० 'चौकड़ा' (पुंलिंग), 'चौकड़ी' (=चार का समुदाय) शब्द वर्तमान हैं। सं० 'शतकम्' >अप० 'सयकडउ' > ख० बो० 'सैकड़ा' (=सौ का समुदाय)। ताश का एक खेल जिसे छः आदमी खेलते हैं 'छकड़ी' कहलाता है। उसमें भी इसी 'ड़ा' का स्त्रीलिंग रूप 'ड़ी' वर्तमान है।

'ड़ा' ही के समान कहीं कहीं 'ला' भी दिया जाता है; जैसे—

'ला' प्रत्यय — ताश के पत्तों का 'नहला' (अर्थात् नौ अंकों का समूह) और 'दहला' (अर्थात् दस अंकों का समूह)।

उपर्युक्त ढंगों से बनाए हुए शब्दों के अतिरिक्त कुछ और भी बने-बनाए शब्द पाए जाते हैं जिनसे संख्याओं के समुदाय का बोध होता है। वे शब्द ये हैं—

जोड़ा, जोड़ी (=दो का समुदाय)
गंडा (=चार का समुदाय)
गाही, पचकरी(=पाँच का समुदाय)
कोड़ी (=बीस का समुदाय)

इन शब्दों में से 'पचकरी' तो स्पष्ट रूप से पाँच से बना हुआ जान पड़ता है, पर अन्य शब्दों की उत्पत्ति के संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। इनके संबंध में कुछ विद्वानों के किए हुए अनुमान नीचे लिखे जाते हैं।

पचकरी

*

'जोड़ा' शब्द अपभ्रंश के 'जुअडंड' से आया होगा, अथवा संस्कृत की 'जुट्' या 'जुड्' (=जोड़ना, मिलाना) धातु के आधार पर बना होगा। अथवा इसका संबंध संस्कृत के 'युग्म' (=दो का समूह) शब्द से होगा। पर ये दोनों अंतिम अनुमान ठीक नहीं प्रतीत होते। 'जोड़ा' शब्द न तो 'जुट्' धातु से हिंदी में बना लिया गया है और न संस्कृत के 'युग्म' का ही विकृत रूप हो सकता है।[1] भाषा-विज्ञान का कोई नियम 'म' का 'ड' या 'ड़' नहीं करता। मेरा तो अनुमान है कि यह शब्द भारतवर्ष में बोली जानेवाली किसी अनार्य भाषा के प्रभाव से अपभ्रंश-काल में ही आ गया था। द्रविड़ परिवार की 'कोत' नामक विभाषा में 'येड़े'[2] शब्द 'दो' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। तिब्बत-वर्गीय विभाग की 'चंबा लाहुली' विभाषा में, जो हिमालय के प्रांतों में बोली जाती है, 'दो' के लिये 'जुड़'[3] शब्द का प्रयोग होता है। 'कोत' विभाषा के 'येड़े' के 'य' के स्थान पर 'ज' हो जाने से 'जोड़े' या 'जोड़ा' शब्द बन जाता है। 'य' के स्थान पर 'ज' कर देने की प्रवृत्ति तो हिंदी में बहुत पुरानी है; जैसे—यमुना > जमुना।

जोड़ा

---

(१) 'युगल' शब्द से उसकी उत्पत्ति मानना ठीक होगा। सं०।

(२) देखिए—Grierson's Linguistic Survey of India, vol I, part II, पृ० ९।

(३) देखिए—वही, पृ० ४।

हिमालय-प्रदेश की 'चंबा लाहुली' के 'जुड़' शब्द से भी 'जोड़ा' की उत्पत्ति संभव है। इन्हीं बोलियों के संपर्क से हिंदी में 'जोड़ा' शब्द आ गया होगा।

गंडा

'गंडा' के संबंध में विद्वानों का अनुमान है कि यह संस्कृत के 'गंडक' शब्द (?) से आ गया होगा।

गाही

'गाही' शब्द का संबंध ज्योतिष के 'ग्रह' से माना गया है। आजकल तो नौ ग्रह माने जाते हैं, पर संभव है किसी समय में पाँच ही ग्रह माने जाते रहे हों। संस्कृत में देवताओं आदि के नाम से संख्याओं की व्यंजना करने की प्रथा अब तक भी वर्तमान है। अश्विनीकुमार से 'दो' का, आदित्य से 'बारह' का, रुद्र से 'ग्यारह' का तथा वसु से 'आठ' का बोध होता है। पर इस प्रकार के शब्द संख्यावाचक शब्दों के अंतर्गत नहीं माने जा सकते, क्योंकि यह तो संख्याओं को व्यंजित करने का एक आलंकारिक ढंग है। हिंदी-काव्य में भी कहीं कहीं इस प्रकार के शब्दों के द्वारा संख्याएँ सूचित की गई हैं। 'गाही' के संबंध में एक अनुमान यह भी है कि यह *'दौरया' बोली में पाँच के अर्थ में बोले जानेवाले 'ग्वाइ' शब्द के* प्रभाव से आया होगा। 'ग्वाइ' का 'गाहि' या 'गाही' रूप बन जाना कठिन नहीं है।

कोड़ी

'कोड़ी' शब्द का संबंध 'कौड़ी' (=सं० कपर्दक) से जान पड़ता है। संभवतः पहले कभी बीस कौड़ियों का समूह किसी विशेष सिक्के के समान माना जाता रहा हो और फिर 'कौड़ी' या 'कोड़ी' शब्द से ही 'बीस' का बोध होने लगा हो। पर मेरा अनुमान तो यह है कि 'कोड़ी' शब्द अनार्य भाषाओं के संसर्ग से हिंदी में आया है। द्रविड़

परिवार की 'ओराओं' विभाषा में 'कूरी'[1] तथा 'मल्लो' विभाषा में 'कोड़ो'[1] ओड' शब्दों का प्रयोग बीस के अर्थ में होता है। संभवतः हिंदी में इन्हीं विभाषाओं में से किसी एक के संसर्ग से 'कोड़ी' शब्द बन गया होगा। इस प्रकार का प्रभाव केवल हिंदी ही पर नहीं पड़ा है, वरन् आर्यभाषाओं के अंतर्गत बँगला, सिरिपुरिया, छाकमा तथा आसामी भाषाओं पर भी इन्हीं बाहर भाषाओं में से किन्हीं का प्रभाव पड़ा है जिसके फल-स्वरूप उनमें बीस के लिये अब भी क्रमशः 'कोड़िए', 'कुड़ि', 'कुरी' तथा 'कुरि' शब्दों का प्रयोग होता है[2]। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी का मत है कि 'कोड़ी' की उत्पत्ति कोल-भाषाओं के 'कोडो' शब्द से हुई है जो अब भी तामिल भाषा में बीस के अर्थ में बोला जाता है[3]।

(७) प्रत्येकबोधक

प्रत्येकबोधक शब्दों की रचना के अनेक ढंग हैं। 'प्रति', 'हर' और 'फी' आदि शब्दों की सहायता से बननेवाले शब्द बहुत अधिक प्रयुक्त होते हैं। कभी कभी पूर्णांक तथा अपूर्णांकबोधक संख्यावाचक शब्दों की द्विरुक्ति से भी प्रत्येकबोधक शब्द बना लिए जाते हैं; जैसे—'एक एक लड़के को **आधा आधा** फल मिला'। 'प्रति' संस्कृत का तत्सम है तथा 'हर' और 'फी' फारसी भाषा के शब्द हैं।

संख्याओं की अनिश्चितता

अभी तक संख्यावाचक शब्दों के जिन सात भेदों का वर्णन किया गया है वे सब किसी न किसी निश्चित संख्या का बोध कराते हैं। पर कभी कभी अनिश्चित रूप से संख्याओं का बोध कराया जाता है। इसके

(१) देखिए—Grierson's Linguistic Survey of India, vol. I, part II, पृ० २३।

(२) देखिए—वही, पृ० २३।

(३) देखिए—S. K. Chatterji—O. and D. of the Bengali Language § 523.

लिये प्रायः 'एक' शब्द को संख्यावाचक शब्दों के पूर्व अथवा पश्चात लगाते हैं; जैसे—'एक दस' या 'दस एक', 'सौ एक', 'चार एक', 'पाँच एक' इत्यादि।

'एक' की अनिश्चितता सूचित करने के लिये उसके पश्चात् आध का योग कर देते हैं जिसके फल-स्वरूप 'एक आध' या 'एकाध' बन जाता है। कभी कभी पूर्णांकबोधक संख्यावाचक शब्दों के साथ उनके ठीक ऊपर वाली संख्याओं के वाचक शब्दों का योग करके अनिश्चितता प्रकट की जाती है; जैसे—'तीन-चार', 'दस-ग्यारह' इत्यादि।

अपूर्णांकबोधक शब्दों के पश्चात् कभी कभी उनके ऊपर के पूर्णांकबोधक संख्यावाचक शब्दों को मिलाने से अनिश्चितता सूचित की जाती है; जैसे—'डेढ़-दो', 'ढाई-तीन' इत्यादि। कभी कभी किसी संख्या की दसगुनी संख्या के वाचक शब्द के साथ किसी दूसरी संख्या की दसगुनी या पँचगुनी संख्या के वाचक शब्द का योग करके अनिश्चित संख्या का बोध कराया जाता है; जैसे—'दस-पाँच', 'दस-पंद्रह', 'पंद्रह-बीस', 'पचीस-बीस', 'पचास-साठ', 'सौ-सवा सौ', 'सौ-डेढ़ सौ', सौ-दो सौ' इत्यादि।

नियमपूर्वक बने हुए शब्दों के अतिरिक्त अनिश्चित संख्याओं को सूचित करनेवाले कुछ शब्द मुहावरे से बन गए हैं जो किसी विशेष नियमानुसार नहीं हैं; जैसे—'दो-चार', 'पाँच-सात', 'आठ-दस' इत्यादि।

कभी कभी 'ओं' प्रत्यय के प्रयोग से भी अनिश्चितता सूचित की जाती है; जैसे—'दंगल में बीसों कुश्तियाँ हुईं', 'सभा में हजारों आदमी थे। परंतु कभी कभी ठीक इसके विपरीत, 'ओं' प्रत्यय के द्वारा निश्चितता भी सूचित की जाती है; जैसे—'वे बीसों चोर पकड़ लिए गए', 'तीनों रोगी मर गए'। कभी कभी 'ओं' के द्वारा समुदाय का भी बोध होता है। श्रीयुत कामताप्रसाद गुरु ने अपने

'हिंदी-व्याकरण' में समुदायवाचक विशेषणों का वर्णन करते हुए लिखा है—

"पूर्णांकबोधक विशेषणों के आगे 'ओं' जोड़ने से समुदायवाचक विशेषण बनते हैं; जैसे—चार—चारों, दस—दसों, सोलह—सोलहों इत्यादि।"

संख्यावाचक शब्दों के इस प्रसंग को समाप्त करने से पहले उनके संबंध की कुछ विशेष बातों की ओर ध्यान आकृष्ट होता है। मिस्टर केलाग का कथन है कि अँगरेजी के Once, Twice और Thrice के पर्यायवाची एक एक शब्द खड़ी बोली में नहीं हैं। पर उनका यह कथन पूर्णतः सत्य नहीं है। जहाँ पर इन शब्दों का गुणवाचकों के समान प्रयोग होता है वहाँ खड़ी बोली में क्रमशः 'एकं', 'दूना' और 'तिया' से काम लिया जाता है। और जहाँ इन शब्दों का क्रियाविशेषणों के समान प्रयोग होता है वहाँ खड़ी बोली में Once और Twice के लिये एक एक शब्द नहीं हैं।

पर 'Once' के लिये संस्कृत के 'एकदा' शब्द का प्रयोग किया जाता है। बैसवाड़ी के 'दाएँ' तथा 'दारी' (एकु दाएँ, एकु दारी = एक बार) में संस्कृत के 'एकदा' शब्द का आभास मिलता है। बैसवाड़ी में तो 'दाएँ' और 'दारी' का सभी पूर्णांकबोधक शब्दों के साथ योग करके 'दुइ दाएँ', 'तीनि दाएँ', 'बीस दारी', 'पचास दारी' इत्यादि शब्द बना लिए जाते हैं, पर खड़ी बोली में इस प्रकार के शब्द नहीं बनते। ऐसे शब्दों को बनाने के लिये उसमें संस्कृत के 'वारं' (सं० 'एकवारं', 'द्विवारं', 'चतुर्वारं') प्रत्यय से आए हुए 'बार' शब्द का प्रयोग होता है; जैसे—'एक बार', 'दो बार', 'तीन बार' इत्यादि। 'बार' के योग से 'दो' और 'तीन' में कुछ विकार हो जाता है तथा 'बार' का 'बारा' रूप हो जाता है, और इस प्रकार 'दुबारा' और 'तिबारा' शब्द बन जाते हैं।

कभी कभी 'बार' के स्थान पर फारसी के 'दफा' या 'मर्तबा' शब्दों की सहायता से 'एक दफा', 'दो दफा', 'तीन मर्तबा', 'चार मर्तबा' इत्यादि शब्द बना लिए जाते हैं।

पूर्णांकबोधक संख्यावाचकों में अनेक शब्दों के दो दो रूप पाए जाते हैं; जैसे—चौंतीस, चौंतिस; पैंतीस पैंतिस; सड़सठ, सरसठ इत्यादि। ये रूप-भेद भिन्न भिन्न प्रांतों के उच्चारण के कारण हो गए हैं। उदाहरणार्थ हम देख सकते हैं कि पूर्वी हिंदी में ह्रस्व उच्चारण की ओर प्रवृत्ति अधिक है, अतः खड़ी बोली के दीर्घमात्रा-युक्त शब्दों का भी उच्चारण, युक्तप्रांत के पूर्वी भाग तथा बिहार के निवासी ह्रस्व के समान कर देते हैं। धीरे धीरे साहित्यिक भाषा में उन शब्दों के चल जाने से अब अनेक शब्दों के दो दो रूप हो गए हैं।

शब्दों की अनेकरूपता का कारण

संस्कृत के बहुत से संख्यावाचक तत्सम शब्दों का भी प्रयोग खड़ी बोली में बहुत अधिक होता है। पूर्णांकबोधकों में 'पञ्च', 'सप्त', 'अष्ट', 'द्वादश', 'षोडश', 'शत', 'सहस्र' और 'कोटि'; अपूर्णांकबोधकों में 'अर्ध'; क्रमवाचकों में 'प्रथम', 'द्वितीय', 'तृतीय', 'चतुर्थ', 'पञ्चम', 'सप्तम', 'दशम' और तिथियों के प्रायः सभी नाम; तथा आवृत्तिवाचकों में 'द्विगुण', 'त्रिगुण' और 'चतुर्गुण' आदि तत्सम शब्द साहित्यिक खड़ी बोली में प्रायः लिखे जाते हैं।

खड़ी बोली में संख्यावाचक तत्सम शब्द

खड़ी बोली के संख्यावाचक शब्दों की उत्पत्ति को देख चुकने पर विदित होता है कि विदेशी भाषाओं का प्रभाव खड़ी बोली के संख्यावाचक शब्दों पर लगभग नहीं के ही बराबर पड़ा है; केवल फारसी के 'सिफर' तथा 'हज़ार' शब्द खड़ी बोली में आ गए हैं।

विदेशी प्रभाव

आगे के कोष्टकों में खड़ी बोली के पूर्णांकबोधक तथा अपूर्णांक-बोधक संख्यावाचक शब्दों के साथ साथ संस्कृत, शौरसेनी प्राकृत, अर्धमागधी प्राकृत तथा अपभ्रंश के शब्द दिए जाते हैं। हिंदी की प्रधान विभाषाओं के भी कुछ शब्द दिए जाते हैं जिनसे यह जानने में सहायता मिलेगी कि खड़ी बोली के रूप अपनी अन्य बहिनों के रूपों से कितनी कम भिन्नता रखते हैं। विभाषाओं के सब शब्द-रूप नहीं दिए गए हैं, क्योंकि अधिकांश रूप परस्पर समान ही पाए जाते हैं।

---

(१४) विविध विषय

समालोचना

धर्मज्योति—पृष्ठ-संख्या ४११, लेखक श्री जगतनारायण बी० एस-सी०, मूल्य १।)।

थियासोफी और हिंदू धर्म के विषय में यह मौलिक ग्रंथ है। भाषा इतनी सरल है और विषय का वर्णन इतनी अच्छी तरह से किया गया है कि हर कोई साधारण बुद्धि का भी इसे सरलता से समझ सकता है। और अनुवादों में यह सरलता नहीं पाई जाती। हिंदू धर्म के गुप्त रहस्यों को बताने का भी प्रयत्न किया गया है। भाषा में कहीं कहीं प्रांतीयता आ गई है। थियासोफी का हिंदी में प्रचार करने में, उसका पूर्ण दिग्दर्शन कराने में, और उसमें रुचि उत्पन्न करने में यह पुस्तक बहुत महत्त्व की है। स्त्रियों और बालकों को भी समझने में कोई कठिनाई न पड़ेगी।

पंड्या बैजनाथ

सूचीपत्र—कलकत्ता की श्री बड़ा बाजार कुमार-सभा ने अपने पुस्तकालय की पुस्तकों की सूची ४३० पृष्ठों में प्रकाशित की है। इसमें पुस्तकों का वर्गीकरण—संख्या (नंबर) देने के नियम को छोड़कर—पाश्चात्य देशों में प्रचलित Melvil Dewey के Decimal classification के अनुसार किया गया है। पुस्तकों के वर्गीकरण के लिये यह प्रणाली बहुत ही प्रसिद्ध और सुविधाजनक है। भारत-

वर्ष के अनेक पुस्तकालयों में इसी प्रणाली का, थोड़े-बहुत परिवर्त्तनों के साथ, अनुसरण किया जाता है। किंतु मेरे विचार से भारतवर्ष में इस प्रणाली को प्रचलित करने के पूर्व उसके भारतीयकरण की आवश्यकता है। इस प्रणाली के अनुसार रखे गए अनेक वर्ग हमारी संस्कृति और विचार-धारा के विरुद्ध पड़ते हैं। प्रस्तुत सूची में ही तत्त्व-ज्ञानांतर्गत एक वर्ग मन और शरीर का रखा गया है। Dewey के अनुसार इस वर्ग के अंतर्गत मस्तिष्क-विज्ञान (Mental physiology), मस्तिष्क-विकार (Mental derangements), गुह्य-विद्या (Occultism), सम्मोहन-विद्या (Hypnotism) आदि परिगणित होते हैं। वर्त्तमान सूची में इसी के अंतर्गत पातंजल योग-दर्शन एवं योग-संबंधी आधुनिक पुस्तकें भी रखी गई हैं। यह सत्य है कि योग-दर्शन में अधिकतर मन और शरीर के संबंध में ही विचार किया गया है, किंतु Dewey तथा भारतीय विचार-धारा के अनुसार उसे प्राच्य दर्शन-समूह के अंतर्गत रखना ही उचित है। इस सूची में कुछ पुस्तकों का वर्गीकरण तथा विषयों का शीर्षक बहुत ही भ्रमोत्पादक रखा गया है; यथा पृष्ठ ३११ में एक शीर्षक है—विनोदात्मक काव्य (सर्व-साधारण)। साधारणतः पाठक इस शीर्षक के अंतर्गत ऐसे विनोदात्मक काव्य-ग्रंथों को ढूँढ़ेंगे जो विनोदात्मक काव्य के विशेष विभागों के अंतर्गत न आ सकते हों, किंतु पुस्तकें रखी गई हैं—'विनोद-रत्नाकर', 'बीरबल की हाजिरजवाबी' और 'चतुराई', 'विदूषक', 'गुदगुदी', 'चुहल', 'दिल की आग', 'हँसी के चुटकुले' आदि कहानी-विषयक। साधारणतः लोग छंदोबद्ध रचनाओं को ही काव्य समझते हैं, किंतु उक्त सब पुस्तकें इसके विपरीत गद्य की हैं। इस विभाग के बाद ही 'विनोदपूर्ण आख्यायिका' का विभाग रखा गया है जिसमें 'मेरी हजामत', 'हँसी का गोलगप्पा', 'पढ़ो और हँसो',

'हास्य कौतुक', 'मूर्खराज', 'लतखोरीलाल', 'लंबी दाढ़ी' आदि पुस्तकें रखी गई हैं। ये सभी पुस्तकें भी कहानी की हैं। आख्यायिका का अर्थ भी कहानी ही है। क्या इन्हीं पुस्तकों के साथ वे पुस्तकें नहीं रखी जा सकती थीं जो विनोदपूर्ण काव्य (सर्व-साधारण) के अंतर्गत रखी गई हैं? इसी प्रकार पृष्ठ १४८ में काव्य (सर्व-साधारण) के अंतर्गत मिश्रबंधु-कृत 'हिंदी-नवरत्न' रखा गया है, किंतु इसी सूची के अनुसार उसे रखना चाहिए पृष्ठ २९८ में गद्य-काव्य (आलोचनात्मक) के अंतर्गत, जहाँ अन्य आलोचनात्मक ग्रंथ रखे गए हैं। इस सूची में कुछ व्यर्थ का विस्तार भी हो गया है। Dewey की प्रणाली के अनुसार जब किसी लेखक की, एक ही विषय की, अनेक पुस्तकें होती हैं तो उस विषय के अंतर्गत प्रथम लेखक का नाम देकर फिर उसी के नीचे अक्षरानुक्रम से पुस्तकों के नाम आदि दिए जाते हैं; किंतु इस सूची में ऐसा न कर प्रत्येक पुस्तक के साथ लेखक का नाम दिया गया है जिससे सूची व्यर्थ ही विस्तृत हो गई है। यदि उतना स्थान लेना ही अभीष्ट था तो उतने में अन्य प्रकार की सूचनाओं—जैसे प्रकाशक का पता, पुस्तक की प्रकाशन-तिथि या पुस्तक का आकार तथा उसकी पृष्ठ-संख्या आदि—के संबंध में लिख सकते थे। इसी प्रकार इस सूची में अन्य अनेक छोटी-मोटी त्रुटियाँ भी रह गई हैं। किंतु इन सब त्रुटियों के होते हुए भी हमें पुस्तकालय के उत्साही कार्यकर्त्ताओं की प्रशंसा करनी चाहिए, जिन्होंने हिंदी में इस प्रकार की सूची सर्वप्रथम प्रस्तुत की है। किसी भी नवीन कार्य के आरंभकर्त्ता को कुछ कठिनाइयों का स्वभावतः सामना करना पड़ता है, किंतु इससे कार्य के महत्त्व को किसी प्रकार अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वर्गीकरण का ज्ञान प्राप्त करना स्वयं ही एक शिक्षण है (To learn to classify is in itself an education :—Alex

Bain)। इस कार्य में अनुभवी लोगों से भी भूलों का हो जाना संभव है। आशा है, भविष्य में पुस्तकालय के कार्यकर्त्तागण इस कार्य को अधिक सावधानी से संपन्न करेंगे।

खरौरी गंगाप्रसाद सिंह

मानसोपचार शास्त्र एवं पद्धति—योग द्वारा रोगोपचार की बात हमारे यहाँ बहुत प्राचीन काल से सुनी जाती है, और अब भी यत्र-तत्र उसके विश्वसनीय प्रमाण मिलते हैं। मानसोपचार के अन्य अनेक रूप भी इस देश में प्रचलित हैं। परंतु आधुनिक वैज्ञानिक रीति से उसका विस्तृत विवेचन हिंदी के लिये अवश्य ही नया है।

प्रस्तुत ग्रंथ 'मानसोपचार शास्त्र एवं पद्धति' के लेखक डा० गोपाल भास्कर गनपुले का उत्साह प्रशंसनीय है। उन्होंने अपने विषय के प्रतिपादन में बड़े परिश्रम से काम लिया है और उसे सर्व-साधारण के लिये सुगम बनाने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है। परंतु सैद्धांतिक कठिनाइयाँ न रहने पर भी उसकी क्रियात्मक सत्यता के समर्थन का अधिकार अभ्यस्त और विशेषज्ञ जनों को ही है। इसमें संशय नहीं कि इस शास्त्र का उद्देश्य महान् है और इसकी क्रियात्मक सफलता से मानव-जाति का बड़ा कल्याण हो सकता है।

यद्यपि इसे असावधानी नहीं कहा जा सकता, किंतु यदि कहीं कहीं अँगरेजी के पारिभाषिक शब्दों के अनुवाद तथा भाषा के परिमार्जन पर थोड़ा और ध्यान दिया जाता तो अधिक अच्छा होता। आशा है, जनता ग्रंथ को अच्छे सुधरे और निखरे हुए रूप में पाएगी और उससे लाभ उठाकर ग्रंथकार का परिश्रम सफल करेगी।

पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव

श्रीएकनाथ-चरित्र—लेखक—पं० लक्ष्मण रामचंद्र पांगार-कर, बी० ए०; अनुवादक—श्री लक्ष्मण नारायण गर्दे।

श्री एकनाथ विक्रम की १६वीं शताब्दि के प्रसिद्ध महाराष्ट्र संत और कवि हैं। आज भी उनकी पुण्यस्मृति में सर्वत्र 'एकनाथ-षष्ठी' मनाई जाती है। उन्हीं लोक-प्रिय संत का यह चरित्र है। 'चरित्रकार को सांप्रदायिक अर्थात् भावुक, काव्य-मर्मज्ञ अर्थात् रसिक और इतिहासज्ञ अर्थात् चिकित्सक होना चाहिए' (भूमिका, पृ० ५)। पांगारकरजी ऐसे ही आदर्श चरित्रकार हैं। वे स्वयं 'हरि-भक्ति-परायण' हैं। उनकी लेखनी में भावुकता भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। संत के सुकुमार चरित्र को उन्होंने निर्दय होकर नहीं परखा है। इसी से यह पुस्तक भक्तों के भी बड़े प्यार की वस्तु हो गई है। भाषा और शैली साहित्यिक है। अत्यंत संतोष का विषय है कि भावुकता और सरसता के प्रवाह में स्थल-काल का पूर्वापर संबंध कहीं भी बहकने नहीं पाया है। अनुवाद की भाषा भी खूब चलती और सरल है। इतना कह देना पर्याप्त होगा कि अनुवाद अनुवाद सा नहीं जँचता।

'एकनाथ-चरित्र' संग्रहणीय वस्तु है। हिंदी में ऐसे ग्रंथों का अभी बड़ा अभाव है। २३५ पृष्ठों की इस सुंदर पुस्तक को केवल ।।) में जनता के हाथ समर्पण करने के लिये गोरखपुर का गीता प्रेस हम सबके धन्यवाद का पात्र है।

नारायण माधव सप्रे

योगेश्वर कृष्ण—लेखक—प्रो० चमूपति, एम० ए०; प्रका-शक—गुरुकुल, काँगड़ी; मूल्य—२।।); पृष्ठ-संख्या—लगभग चार सौ।

'योगेश्वर कृष्ण' सूर्यकुमारी-ग्रंथावली (फाँगड़ी) का प्रथम ग्रंथ है। यह श्रीकृष्ण का महाभारत से संकलित पुराणानुमोदित ऐतिहासिक जीवन-चरित है। भाषा सरल और सजीव है। कर्मयोगी कृष्ण के सामाजिक और राजनीतिक जीवन की कोई प्रधान घटना छूटने नहीं पाई है। थोड़े में समस्त महाभारत का सार खींचकर इस प्रकार रख दिया गया है कि इसे बालभारत भी कह सकते हैं। उपयुक्त उद्धरणों और पाद-टिप्पणियों से ग्रंथ में एक विशेषता आ गई है। 'महाभारत का युद्ध-प्रकार और युधिष्ठिर की राज्य-प्रणाली' के समान कुछ प्रकरण यद्यपि कृष्ण-चरित से स्पष्टतया संबद्ध नहीं देख पड़ते तथापि उनसे ग्रंथ की उपादेयता बढ़ गई है। प्राचीन साहित्य और संस्कृति का विद्यार्थी उनसे बड़ा लाभ उठा सकता है। एक शब्द में ग्रंथ सुंदर और संग्रहणीय है।

साधारण पाठक को इस ग्रंथ में एक अभाव खटकता है। न तो इसमें योगेश्वर का वह चमत्कारपूर्ण जीवन अंकित है जो बच्चों और भोले भक्तों के हृदय को द्रवित कर सके और न यहाँ कृष्ण का वह सरस और सलोना चित्र ही है जो भावुकों को आह्लादित कर सके। महाभारत से संकलित 'ऐतिहासिक जीवन-चरित' में यह अभाव रह जाना आश्चर्य की बात नहीं है। स्पष्ट ही इस चरित के नायक का संबंध न गीता से है और न भागवत से—वह महाभारत के राजनीतिक क्षेत्र का एक नेता मात्र है। 'योगेश्वर' का यह अर्थ कुछ संकुचित तथा अपूर्ण सा है। इतना होने पर भी यह ग्रंथ अनूठा है—हिंदी-वाङ्मय का एक रत्न है। हिंदी में ऐसे जीवनचरितों की बड़ी आवश्यकता है। इस ग्रंथ ने एक बड़े अभाव की पूर्ति की है।

पद्मनारायण आचार्य

भ्रम-संशोधन—नागरीप्रचारिणी पत्रिका (नवीन संदर्भ), भाग १५, संख्या २, पृष्ठ १५७-१६८ में श्री पृथ्वीराज चौहान, बूँदी का लिखा "इतिहास-प्रसिद्ध दुर्ग रणथंभौर का संक्षिप्त वर्णन" शीर्षक एक लेख छपा है। यही लेख बाबू हरिचरण सिंह चौहान के नाम से नागरीप्रचारिणी पत्रिका (पुराना संदर्भ), भाग २३, संख्या १२ (जून १६१६, पृष्ठ २६५-२७१) में छप चुका है। पहले और पिछले लेख में विशेष अंतर यही है कि पिछले लेख में पहले लेख का पहला पैराग्राफ छोड़ दिया गया है। नागरीप्रचारिणी पत्रिका में इस प्रकार की साहित्यिक चोरी का यह पहला उदाहरण है। आशा है, श्री पृथ्वीराज चौहान इसके संबंध में तथ्य की बात लिखकर इस विषय को स्पष्ट करेंगे।

संपादक ना० प्र० प०

(१५) कबीर का जीवन-वृत्त

[लेखक—डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, काशी]

नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४ की चौथी संख्या में श्रीमान् पं० चंद्रबली पांडेय का 'कबीर का जीवन-वृत्त' शीर्षक लेख पढ़कर बड़ा आनंद हुआ। पं० चंद्रबली सदृश विद्वान् को कई बातों में अपने से सहमत देख किसे आनंद न होगा। विशेष हर्ष मुझे इस बात का है कि मेरे जिस मत को बड़े बड़े विद्वान् मानने को तैयार नहीं उसके मुझे एक जबर्दस्त समर्थक मिल गए हैं। पांडेयजी भी मानते हैं कि निम्न-लिखित पंक्तियों के आधार पर कबीर का मुसलमान कुल में उत्पन्न होना सिद्ध हो जाता है—

जाके ईद बकरीद गऊ रे बध करहिं मानियहिं शेख शहीद पीरा।
जाके बापि ऐसी करी, पूत ऐसी धरी तिहूँ रे लोक परसिध कबीरा॥

कुछ विद्वान्, जिनसे मैंने इस संबंध में परामर्श किया था, मुझसे इस बात में सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि कबीर को मुसलमान का पोष्य पुत्र मात्र मानने में भी ये पंक्तियाँ कोई अड़चन नहीं डालतीं। पर मेरा उत्तर है कि इन पंक्तियों के रचयिताओं का अभिप्राय है कि भक्ति के लिये ऊँचे कुल में जन्म आवश्यक नहीं है। इससे सिद्ध है कि कबीर मुसलमान के पोष्य पुत्र नहीं, औरस पुत्र थे। इस मामले में पांडेयजी ने मेरा पक्ष ग्रहण किया है, इसलिये मुझे हर्ष होना स्वाभाविक ही है।

परंतु पांडेयजी के लेख में एक जरा सी गलती रह गई है। उन्होंने इन पंक्तियों को रैदास की बतलाया है, जो **आदि ग्रंथ** में दी हुई हैं। पर रैदास के वचन का वस्तुतः यह पाठ नहीं है।

उसका हवाला भी उनके लेख में गलत है। किंतु इसका दोष पांडेयजी के मत्थे मढ़ने का अन्याय मैं न करूँगा।

ये पंक्तियाँ थोड़े से पाठ-भेद[1] से सिखों के **आदि ग्रंथ** में, रैदास के और रज्जबदास के **सर्वांगी** में पीपाजी के नाम से दी गई हैं। **आदि ग्रंथ** में यह पाठ है—

जाकै ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बधु करहिं मानीअहि सेख सहीद पीरा ॥
जाकै बापि वैसी करी पूत ऐसी सरी तिहूँ रे लोक परसिध कबीरा ॥

और सर्वांगी में यह—

जाके ईद बकरीद, नित गऊ रे बध करै मानिए सेख सहीद पीरा।
बापि वैसी करी पूत ऐसी धरी नांव नवखंड परसिध कबीरा ॥

इन दोनों के आधार पर तथा कुछ संगति का ध्यान रखकर मैंने निर्गुण संप्रदाय पर अपने अँगरेजी निबंध में, जिसे पांडेयजी ने अपना 'धुत्त' लिखने के पहले माँगकर पढ़ लिया था, ऊपर का पाठ निर्धारित किया था। इससे आदि ग्रंथ के पाठ में विशेष परिवर्तन यह हुआ कि 'सरी' के स्थान पर 'धरी' हो गया और 'वैसी' के स्थान पर 'ऐसी' तथा गलती से 'सेख सहीद' में 'स' के स्थान पर 'श'। टाइपिस्ट की कृपा और मेरी असावधानी के कारण पाद-टिप्पणी का वह अंश भी छपने से रह गया था जिसमें मैंने पाठांतरों का निर्देश किया था। इसी से पांडेयजी धोखे में आ गए। अन्यथा उनकी सी निपुणता के व्यक्ति से ऐसी गलती होना संभव नहीं था। पाद-टिप्पणी में पांडेयजी ने आदि ग्रंथ की जो पृष्ठ-संख्या दी है, वह भी गलत है और मेरे टाइपिस्ट की कृपा का फल है। पृष्ठ-संख्या ६६८ न होकर ६६८ होनी

---

(१) दोनों पदों में पाठ-भेद के साथ भी यही दो पंक्तियाँ समान हैं। पदों के शेषांश बिलकुल भिन्न हैं।

चाहिए। मुझे खेद है कि मेरे हिंदी रूपांतर में भी ये गलतियाँ रह गई हैं।

इस लेख में पांडेयजी को एक बहुत महत्त्वपूर्ण सूचना देने का अवसर मिला है। वह सूचना है यह कि गुरु गोरखनाथ ने 'हिंदू और मुसलमानों की एकता की ओर भी ध्यान दिया था'[1]। यद्यपि पांडेयजी ने इसके कोई प्रमाण नहीं दिए हैं, तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि यह बात निराधार है। मुझे खेद है कि मैं यथा-समय पांडेयजी को इस बात का प्रमुख प्रमाण न दे सका, क्योंकि मेरे कागज-पत्र उस समय ऐसी गड़बड़ हालत में थे कि उनमें से उन्हें ढूँढ़ निकालना कठिन था, और पांडेयजी अधिक समय तक ठहरना नहीं चाहते थे। प्रमाण नागरीप्रचारिणी पत्रिका में यथा-स्थान छपने के लिये भेज दिए गए हैं। परंतु पाठकों के लाभार्थ यहाँ भी दे दिए जाते हैं। गढ़वाल में प्रचलित झाड़-फूँक के मंत्रों में संतों और सिद्धों के संबंध में जो उल्लेख हैं उनका मैंने संग्रह किया है। पं० चंद्रबली के आग्रह से मैंने इस छोटे से संग्रह को उन्हें भी सुनाया था। इस संग्रह में गोरखनाथजी के संबंध में लिखा है—"हिंदू मुसलमान बालगुदाई दोऊ सहस्थ लिये लगाई"[2] जिससे पता चलता है कि गुरु गोरखनाथ के चेलों में हिंदू मुसलमान दोनों सम्मिलित थे। मुसलमानों की जिबह आदि की प्रथा को ध्यान में रख तथा उन्हें तलवार के बल पर राज्य-प्रसार करते देख गोरखनाथ ने किसी काजी से कहा था—

> मुहम्मद मुहम्मद न कर काजी मुहम्मद का विषम विचारं।
> मुहम्मद हाथि करद जे होती लोहै गढी न सारं॥
> सबदै मारै सबद जिलावै ऐसा महमद पीरं।
> ऐसे भरमि न भूलौ काजी सो बल नहीं सरीरं॥

(१) ना० प्र० प०, भाग १४, अंक ४, पृ० ४०१।

(२) वही, पृ० ४४१।

ये पद्य गोरखनाथ की सबदी के हैं। इनसे पता चलता है कि वे मुसलमानों के हृदय में अहिंसा की भावना भरना चाहते थे जिससे उन्हें अपने हिंदू पड़ोसियों के साथ मेल-जोल से रहने की आवश्यकता मालूम पड़ती। संभवतः बाबा रतन हाजी उनके मुसलमान चेलों में से एक थे, जिन्होंने अपने ग्रंथ काफिर बोध में ऐक्य के पक्ष में बहुत कुछ कहा है।

पृ० ५२२ की एक टिप्पणी में पांडेयजी ने बड़ा अनुग्रह करके मेरा स्मरण किया है, और नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ११, अंक ४ में छपे हुए मेरे लेख 'हिंदी-काव्य में योग-प्रवाह' में से एक अवतरण दिया है जिसमें मैंने कहा है—"निर्गुण शाखा वास्तव में योग का ही परिवर्तित रूप है। भक्ति-धारा का जल पहले योग के ही फाट पर बहा था", इस पर अपना अभिमत देते हुए पांडेयजी ने सत्कामना की है—"भक्ति एवं योग के विवाद में न पड़, हमें तो यही कहना है कि यदि उक्त पंडितजी इस विषय की मीमांसा में तल्लीन रहेंगे तो एक नवीन तथ्य का उद्घाटन ही नहीं प्रतिपादन भी हो जायगा।" पांडेयजी की सत्कामना के लिये मैं कोटिशः धन्यवाद देता हूँ। परंतु मुझे इस बात का पता नहीं चला कि पांडेयजी 'भक्ति एवं योग का विवाद' कहाँ से ले आए हैं। जान पड़ता है कि उक्त लेख में मेरे इस कथन की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया—"*गोरखनाथ का हठयोग केवल ईश्वर-प्रणिधान में बाहरी सहायक मात्र है। न कबीर ने ही वास्तव में योग का खंडन किया है और न गोरखनाथ ने हो केवल बाहरी क्रियाओं को प्रधानता दी है।*" यदि उन्होंने इन वाक्यों की ओर ध्यान दिया होता तो उन्हें 'भक्ति एवं योग के विवाद में न पड़' कहने की आवश्यकता न होती—चाहे यह कहकर वे स्वयं इस झगड़े में न पड़ना चाहते हों चाहे मुझे उसमें न पड़ने का आदेश देते हों।

विद्वानों की आलोचना से कई लाभ होते हैं। जहाँ पांडेय-जी के 'वृत्त' से मुझे पता लगा है कि मेरा कौन सा मत पुष्ट है, वहाँ मेरे एक मत के 'अभिम खंडन' द्वारा यह बतलाकर भी वे मेरे धन्यवाद के भाजन हुए हैं कि कहाँ मुझे अधिक विस्तार के साथ लिखने की आवश्यकता है।

कबीर के जन्म-स्थान के संबंध में विवेचन करते हुए पांडेयजी ने लिखा है—"कुछ लोगों की धारणा है कि कबीर का जन्म-स्थान काशी नहीं, संभवतः मगहर था।" उनमें से एक मैं भी हूँ। पांडेय-जी का संकेत विशेषकर मेरे ही निबंध की ओर है। मगहर के पक्ष में प्रमाण उन्होंने उसी में के दिए हैं। इस मत का प्रधान प्रमाण तो 'आदि ग्रंथ' में दिया हुआ कबीर का वह पद है जिसमें उन्होंने कहा है—'पहिले दरसन मगहर पायो फुनि कासी बसे आई'। इससे स्पष्ट है कि कबीर को भगवद्दर्शन मगहर में हुआ था और उसके बाद वे काशी में आ बसे थे। इससे यह भी संभव है कि कबीर का जन्म मगहर में हुआ हो। काशी में कबीर का जन्म हुआ था, इस बात को तो यह पद अवश्य संदेह में डाल देता है। परंतु पांडेयजी का मत है कि ऐसा समझना 'सावधानी' से काम न लेना है। क्योंकि मगहर में बैठे बैठे वे 'कासी बसे आई' कैसे कह सकते हैं—'आई' की जगह 'जाई' होना चाहिए था। उनकी समझ में, इस पंक्ति में, मगहर और काशी का स्थान बदल गया है। इसका पाठ होना चाहिए—'पहिले दरसन कासी पायो फुनि मग-हर बसे आई'। 'प्रकृत पद्य' उनके लिये वह है जिसका अनुवाद मेकालिफ ने इस प्रकार किया है—"I first saw you at Kasi and then came to reside at Magahar" यह पंक्ति मेरी है जिसमें मैंने मेकालिफ का अभिप्राय मात्र दिया था। मेकालिफ के शब्द ये हैं— I first obtained a sight of thee in

Benares and afterwards I went to live at Magahar. (Sikh Religion, vol. 6, पृ० १४०)

इस संबंध में सबसे पहले ध्यान रखने योग्य बात यह है कि 'गुरु ग्रंथ साहब' के भिन्न भिन्न संस्करणों में पाठ-भेद नहीं हो सकता। उसके पदों का मंत्रतुल्य आदर होता है। उसकी लिखाई छपाई में अत्यंत सावधानी रखी जाती है। कोई मात्रा टूट जाय, छूट जाय, बढ़ जाय सो तो शायद संभव हो भी परंतु ऐसी गलती उसमें संभव नहीं जिसमें अक्षरों और अर्थ का इतना उलट-पुलट हो जाय और वह भी प्रचलित प्रवाद के विरुद्ध। मैंने तरन-तारन के हिंदी संस्करण के इस पाठ को कुछ गुरुमुखी ग्रंथों से मिलवाया है[१]। परंतु पाठ हर हालत में एक ही मिला है। इस पाठ में मेकालिफ के अनुवाद के अंतर का कारण दूसरा पाठ नहीं है बल्कि उनके मस्तिष्क पर अधिकार कर बैठा हुआ प्रचलित प्रवाद है। मैं नहीं कहता कि **आदि ग्रंथ** के अतिरिक्त और जगह भी इसका ठीक यही अनुवाद मिलेगा। परंतु वस्तुतः यह पद दूसरी जगह अभी तक मिला नहीं है। अतएव दूसरे पाठ का प्रश्न ही नहीं उठता। मेकालिफ का गलत अनुवाद उसके अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर सकता। उन्होंने **आदि ग्रंथ** का अनुवाद किया है, और चीजों का नहीं। अगर इस पद का पाठ गलत है तो वह 'आदि ग्रंथ'कार की गलती है। परंतु प्रचलित प्रवाद को छोड़कर कोई बात ऐसी नहीं है जो इस पाठ के विरोध में खड़ी हो।

'आई-जाई' का झगड़ा कोई विशेष अड़चन खड़ी नहीं करता। कबीर को काशी छोड़कर आए हुए अभी थोड़े ही दिन हुए हैं, मन उनका काशी ही में है। काशी के उन्हें अत्यंत प्रिय होने के

---

(१) एक ही हवाला यहाँ देते हैं, देखो राय साहब गुलाबसिंह ऐंड संस का पूनावाला बड़ा संस्करण, पृ० ४६४।

कारण मगहर से अभी उनके मन का समन्वय न हो पाया था। जितना अधिक वे इस बात का ऐलान करते हैं कि काशी का मुक्ति-मार्ग में कुछ विशेष महत्त्व नहीं, उतनी ही अधिक दृढ़ता से वह उनके हृदय में बैठी हुई दिखाई देती है। इसी से अनजान में उनके मुँह से ऐसी ही बातें निकलती हैं मानो अभी वे काशो ही में हों। अगर पाठ-परिवर्तन ही मानना अभीष्ट हो तो 'जाई' का 'आई' बन जाना क्यों न माना जाय? यद्यपि मैं स्वयं यह नहीं मानता।

पांडेयजी ने यह भी दलील पेश की है—'जहाँ तक हमें इतिहास का पता है, उस समय मगहर में मुसलमानों का निवास न था।' मुझे इतिहास का बहुत कम पता है, परंतु जाननेवाले बतलाते हैं कि उस समय गोरखपुर के आसपास का शासन नवाब बिजलीखाँ पठान के हाथ में था। गाजी मियाँ सालार जंग तो बहुत पहले बहराइच तक आ पहुँचे थे। फिर उस समय मगहर में मुसलमानों के बसने में कौन सी असंभवता है?

इन सब बातों को देखते हुए यदि कोई यह माने कि कबीर के जन्म-स्थान के लिये काशो का दावा संदेहास्पद है तो अनुचित नहीं। यह बात ठीक है कि 'न जाने कितनी बार कबीर ने अपने को काशी का जुलाहा कहा है' पर इससे यह कहाँ निकलता है कि वे पैदा भी वहीं हुए थे। आजकल अपने आपको बनारसी कहनेवालो की संख्या बेढब बढ़ रही है पर यह इस बात का प्रमाण थोड़े ही है कि वे जनमे भी बनारस ही में हैं।

मेरा तो विचार है कि कबीर का मगहर ही मे जन्म लेना अधिक संभव है। कबीर के शिष्य धर्मदास भी यही कहते जान पड़ते हैं। उनका कहना है—

हंस उबारन सतगुरु जग में आइया।
प्रगट भए कासी मे दास कहाइया॥

याम्हन औ सन्यासी, तो हासी कीन्हिया।
कासी से मगहर आये कोई नहिं चीन्हिया॥
मगहर गाँव गोरखपुर जग में आइया।
हिंदू तुरक प्रमोधि के पंथ चलाइया॥

—शब्दावली, पृ० ३, ४, शब्द १।

जग में उनका आना जीवों के उद्धार के लिये हुआ था और हुआ था गोरखपुर के पास मगहर गाँव में, काशी में तो वे प्रकट हुए थे। उससे पहले उनकी प्रसिद्धि नहीं हुई थी। उनकी प्रसिद्धि का कारण हुआ स्वामी रामानंद का चेताना (काशी में हम प्रगट भए हैं रामानंद चेताए) अर्थात् उनका कबीर के वास्तव स्वरूप को पहचानना जिससे उन्होंने उन्हें वैदिक वैष्णव-मंडली में सम्मिलित कर लिया और वे कबीरदास कहे जाने लगे। परंतु और ब्राह्मणों तथा संन्यासियों ने उन्हें नहीं पहचाना और उनकी हँसी में तत्पर रहे। इसलिये वे काशी से मगहर चले आए। 'कोई नहिं चीन्हिया' का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि वे काशी से मगहर ही क्यों आए, इसका कारण किसी को न मालूम हुआ; मगहर वे इसलिये आए कि वहाँ उनका जन्म हुआ था। इस अवसर पर मगहर ही को क्यों उन्होंने पसंद किया इसका यह काफी अच्छा समाधान है। पांडेयजी ने भी अपने लेख में इस पद का एक अंश उद्धृत किया है परंतु उसके 'रहस्योद्‌घाटन' की ओर उन्होंने वैसी प्रवृत्ति नहीं दिखाई है जैसी उनके जैसे के विद्वान् से आशा की जा सकती है।

लगे हाथों पांडेयजी की एक उलझन को सुलझा देना तथा उनकी एक गलती का निराकरण कर देना भी जरूरी जान पड़ता है। परंपरागत जनश्रुति है, अपने शव के लिये हिंदू मुसलमानों में खून-खराबी की संभावना देखकर कबीर की आत्मा ने आकाश-

वाणी की "लड़ो मत, पहले कफन उठाकर देखो कि तुम लड़ किस चीज के लिये रहे हो"; कफन उठाकर देखा गया तो शव की जगह फूल पाए गए जिनको हिंदू मुसलमान दोनों ने बाँट लिया। इस कहानी का उल्लेख कर पांडेयजी ने बाबू श्यामसुंदरदासजी-संपादित **कबीर-ग्रंथावली** की भूमिका में से इसके संबंध का यह अवतरण दिया है—"यह कहानी भी विश्वास करने योग्य नहीं है परंतु इसका मूल-भाव अमूल्य है" और इस पर टिप्पणी की है—"हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि कबीर की उस (?) आत्मा ने इस प्रकार की आकाशवाणी कर, लड़ो मत, कफन उठाकर देखो, कौन सा अमूल्य भाव भर दिया है।" भाव तो बिलकुल स्पष्ट है पर यही समझ में नहीं आता कि पांडेयजी की समझ में वह क्यों नहीं आता। पांडेयजी ने अगर इस प्रसंग को ध्यान से पढ़ा होता और 'पर हिंदू-मुसलिम-ऐक्य के प्रयासी कबीर की आत्मा यह बात कब सहन कर सकती थी' इस कथन पर दृष्टि डाली होती तो पांडेयजी को कहानी के अमूल्य मूल-भाव के समझने में देर न लगती। लेखक का अभिप्राय स्पष्ट है। उनका अभिप्राय है कि यह चमत्कारी कहानी विशेष रूप से यह दिखलाने के लिये गढ़ी गई है कि कबीर की आत्मा ने मृत्यु के बाद भी हिंदू-मुसलिम-विरोध के निराकरण का प्रयत्न नहीं छोड़ा। हिंदू-मुस्लिम ऐक्य की आवश्यकता का अमूल्य मूल्य आज भी अनुभूत हो रहा है।

पृ० ५०२ में पांडेयजी ने 'जिद' शब्द पर विचार करते हुए लिखा है कि धर्मदास की शब्दावली (बेल्वेडियर प्रेस) के संपादक महोदय ने जिद का अर्थ 'बंधोगढ़-निवासी बनिये' माना है, जो सर्वथा अमान्य है। परंतु वस्तुतः यह उक्त संपादक महोदय के ऊपर अन्याय है। उन्होंने ऐसा कुछ नहीं माना है। 'बंधोगढ़ के

बनिये' तो 'बाँधों के बानी' का अर्थ है जो इसी प्रसंग में आया है। परंतु हड़बड़ी के कारण पांडेयजी ने पुस्तक को अच्छी तरह पढ़ा नहीं, नहीं तो उन्हें देख पड़ता कि उक्त संपादक ने 'जिद' के माने 'जिन' दिए हैं, 'बांधोगढ़ के बनिये' नहीं। 'जिद' शब्द पर एक छोटा सा निबंध ही लिखा जा सकता है पर उसके लिये मेरे पास इस समय अवसर नहीं है।

पांडेयजी ने डा० त्रिपाठी के इस मत का व्यर्थ ही विरोध किया है कि कबीर के क्रांतिकारी सिद्धांतों का प्रचार-कार्य सिकंदर लोदी सरीखे कट्टर और अत्याचारी सुलतान के राज्य में संभव नहीं था। पांडेयजी का कथन है कि कबीर ने पहले पहल इस्लाम का विरोध नहीं किया, इसलिये वे चैन से हिंदुओं की श्रुति-स्मृति, अवतार आदि की निंदा करते रहे; किंतु अंत में ज्योंही इस्लाम का विरोध करने लगे त्योंही उन्हें उसका मजा चखना पड़ा और अंत में वे मगहर भाग गए। इसमें पांडेयजी ने स्पष्ट ही यह बात मानी है कि कबीर ने अपने पदों की किसी विशेष क्रम से रचना की, जिसे मानने के लिये कोई भी आधार नहीं है। वस्तुतः जैसा डा० त्रिपाठी कहते हैं, कबीर के ऊपर ऐसी क्रूर दृष्टि किसी मुसलमानी शासक की पड़ी ही नहीं जैसी सिकंदर लोदी के शासनकाल में पड़नी संभव थी। मगहर भी वे किसी मुसलमान शासक के अत्याचार से भागकर नहीं गए। सुलतान के अत्याचार से मगहर ही में उनकी रक्षा कैसे हो सकती थी? वहाँ नवाब बिजलीखाँ की संरक्षकता भी उनकी चमड़ी को साबित न रख सकती। वह खुद बिजलीखाँ की चमड़ी को अंदेशे में डाल देती। असल में वे मगहर इसलिये गए कि काशी में उनका रहना हिंदुओं ने दूभर कर दिया था। शाहे-वक्त कोई ऐसा उदार व्यक्ति था जिससे जान पड़ता है कि मुसलमानों को भी कबीर को सजा दिला

सकने की आशा न थी, फिर हिंदू उससे क्या आशा रखते। इस-लिये उन्होंने मजाक का आसरा लिया। जहाँ कबीर दिखाई दिए वहाँ "अरर कबीर" के साथ बुरी बुरी गालियों की झड़ी लगने लगी। काशी में कबीर की खूब जोर की हँसी हुई थी, इसका उल्लेख कबीर-पंथियों ने कई पदों में किया है। 'निर्गुण बानी' नामक एक संग्रह में दो-तीन बार 'काशी में हाँसी कीन्हीं' का उल्लेख है। धर्मदास की 'शब्दावली' से मगहर के संबंध में जो पद ऊपर उद्धृत किया गया है, उसमें भी स्पष्ट लिखा है—'ब्राह्मण औ सन्यासी तो हाँसी कीन्हिया'। उक्त संग्रह के दो-एक पदों के अनुसार इस हँसी का अवसर भी कबीर ही ने प्रस्तुत कर दिया था। श्रद्धालुओं की श्रद्धा से तंग आकर वे एक बार वेश्या को बगल में लेकर काशी की गलियों में घूमे थे। परंतु उसका जो घोर परिणाम हुआ उसके लिये वे तैयार नहीं थे। सभ्य लोगों ने सभ्य मजाक किया होगा, असभ्यों ने भद्दा।

यह भी नहीं समझना चाहिए कि कबीर प्रकारांतर से हिंदुओं में इस्लाम का प्रचार कर रहे थे, इस्लाम का विरोध उन्हें अभीष्ट ही नहीं था। उनकी फटकार हिंदू-मुसलमान दोनों के लिये थी; दोनों के अंध-विश्वासों तथा कर्मकांड इत्यादि की उन्होंने समान रूप से निंदा की है। हिंदुओं के प्रति अधिक और मुसलमानों के प्रति कम विरोधात्मक उक्तियों का कारण यह है कि कबीर की दार्शनिक प्रवृत्ति हिंदुओं के सर्वथा मेल में थी, इसलिये वे अधिकतर उन्हीं की संगति में रहा करते थे और स्वभावतः उन्हीं को अधिक समझाते-फटकारते थे, मुसलमानों से बहस-मुबाहसा करने का उन्हें मौका ही कम मिलता था।

अतएव निषेधात्मक होने पर भी डाक्टर त्रिपाठी का उक्त मत अत्यंत मूल्यवान् है और कबीर के समय को निश्चित करने में बड़ी सहायता देता है।

पांडेयजी का अभिमत, कि 'ना-नारद इक जुलहे सों द्वारा... सैकरा भरई' में "सैकरा" कबीर की शतायु की ओर संकेत करता है, विचारपूर्ण है और "सैकरा भरई" यदि जुलाही पेशे की किसी क्रिया की ही ओर संकेत नहीं करता तो वह कबीर की जीवनी के एक तथ्य के निश्चय में अत्यंत सहायक होगा। हाँ, यह कहना कि—

बारह बरस बालपन खोयो, बीस बरस कछू तप न कियौ।
तीस बरस कै राम न सुमिर्‍यौ, फिरि पछितान्यौ बिरध भयौ॥

कबीर-ग्रंथावली, पृ० १७०, २४२; ३०६, १८१

इसमें सामान्य कथन न करके कबीर ने अपने ही बाल्यकाल, यौवन, बुढ़ापे इत्यादि का विस्तार बताया है, अतिमात्र है।

---

(१६) भारतवर्ष की सामाजिक स्थिति

कालिदास के ग्रंथों के आधार पर

[लेखक—श्री भगवतशरण उपाध्याय, लखनऊ]

भारतवर्ष में हिंदू-समाज की व्यवस्था प्रायः सदा वही थी जो आज है। यह व्यवस्था बहुत प्राचीन है और इसका उल्लेख किसी न किसी रूप में हमें मानव-जाति की प्रथम पुस्तक 'ऋग्वेद' में भी मिलता है।

समाज

समाज को चार वर्णों में विभक्त करके उसमें अक्षय शक्ति एवं अद्भुत कर्मण्यता भरी गई थी। कवि कालिदास ने भी अपने ग्रंथों में उन परंपरागत प्राचीन वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—का वर्णन किया है। प्रथम तीन वर्णों को 'द्विज' कहते थे क्योंकि वे विविध धार्मिक एवं सामाजिक क्रियाओं और संस्कारों से पूत होकर एक प्रकार से द्वितीय जन्म धारण करते थे जिसका उन्हें, विशेष कर चतुर्थ वर्ण शूद्रों पर, एक खास फायदा था। समाज के इन चारों अंगों के अपने अपने विशिष्ट वर्ण-कर्म थे जिनका विधान स्मृतियाँ करती थीं। राजा का यह एक प्रधान कर्तव्य था कि वह अपनी प्रजा को उचित मार्ग पर ले चले, उन्हें धर्मच्युत न होने दे। ऐसा न हो कि कहीं कोई अपने वर्ण की सीमा का उल्लंघन कर जाय। इस कारण राजा को वर्णाश्रम-धर्म का रक्षक कहते थे (वर्णाश्रमाणां रक्षिता)[1]। वह स्वयं वर्णाश्रमधर्म की स्थिति की मर्यादा का पोषक (स्थितेरभेत्ता) था और अपनी प्रजा को उसी पथ पर आरूढ़ करता था। इस धर्ममय रथ

---

(१) असावप्रमत्तान्वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव।

—अभिज्ञान-शाकुन्तल, अंक २।

वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः।—रघुवंश १४, ८५।

का राजा सारथी था जो अपनी प्रजा को इसमें बैठाकर इस भाँति रथ को हाँकता था कि रथों की पुरानी लीकों पर ही उसके चक्र चलते थे, प्राचीन धर्मवृत्ति से वह अपनी प्रजा को रेखा मात्र भी नहीं टलने देता था[1]। इस प्रकार, कालिदास के उल्लेखानुसार, उस समय के भारतीय शास्त्रानुमोदित नीति और वर्णधर्म का अक्षरशः पालन करते थे। यद्यपि, जैसा हम आगे बतलाएँगे, कालिदास के समय के स्वच्छंद, प्रसन्न एवं कलाप्रिय और सुरुचिपूर्ण भारतीय समाज में उच्छृंखलता और कर्त्तव्यच्युति के उदाहरण सर्वथा अज्ञात नहीं थे तथापि जन-साधारण की आचारप्रियता कुछ वैसी ही थी जैसी ऊपर बतलाई गई है। वर्णाश्रमी साधारणतः आचार-पूत थे और वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा राजा उत्साहपूर्वक करता था। वर्णसीमा का अतिक्रमण करनेवाला बड़े कड़े दंड का अधिकारी था और स्वयं कालिदास, जो वर्णाश्रम-धर्म के बड़े पृष्ठपोषक हैं जैसा उनके इस पक्ष के बारंबार के वर्णनों से विदित होता है, राजा राम द्वारा 'द्विजेतरतपस्विसुत'[2] के वध के अवसर पर बड़ी आनंद-ध्वनि करते हैं क्योंकि उनका विश्वास था कि द्विजसेवाधिकारी शूद्र तपश्चर्याकर्म करके वर्णधर्म का उल्लंघन करता है, उस सामाजिक व्यवस्था को अतिशय क्षति पहुँचाता है जिसकी रक्षा रघुवंश के राजा प्राणपण से करते थे।

आश्रमों[3] की संख्या भी चार थी जिनमें द्विजों का जीवन-काल विभक्त था। ये आश्रम इस प्रकार थे—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। वर्णधर्म की रक्षा की भाँति ही आश्रम-धर्म के

---

(१) रेखामात्रमपि क्षुण्णादा मनोर्वर्त्मनः परम्।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥—रघु० १, १७।

(२) वही, १५, ७६।

(३) वही, १, ८; १४, ८९। अभि० शाकु०, ५।

कल्याणार्थ भी राजा सर्वथा जागरूक रहता था। यह धर्म उसकी स्वेच्छा का नहीं प्रत्युत स्मृतियों के विधान से युक्त कर्तव्य का था। जब जब वर्णाश्रम-धर्म की किसी प्रकार क्षति होती है तब तब कवि कालिदास की लेखनी क्रोधपूर्ण होकर आग उगलने लगती है। समाज में उसकी व्यवस्था के विरुद्ध वे स्वेच्छाचारिता सहन नहीं कर सकते। सचमुच ही सामाजिक व्यवस्था का प्राण आचार है।

सेवाधर्म को बड़ी महत्ता दी जाती थी। गो-ब्राह्मण समाज में पूज्य थे। दिलीप द्वारा की गई गो-सेवा[1] में कवि ने अध्यात्म और आदर्श भर दिया है। दिलीप गो का एक अकिंचन सेवक है और उसकी गो-सेवा सेवा के क्षेत्र में एक अद्वितीय और अपूर्व आदर्श उपस्थित करती है।

गो-सेवा

सेवक की नैतिक अवस्था सेवा के आदर्श नियमों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती थी। चाहे वह राजा ही क्यों न हो उसे अपने सारे अनुयायियों को छोड़कर[2] एक साधारण अनुचर की भाँति सेवा करनी पड़ेगी। यह एक प्रकार का व्रत[3] था जिसके आचरण के निमित्त मनुष्य को अकेला अग्रसर होना पड़ता था। जो स्वयं सेवक है उसके अनुचर कैसे? वह तो अपने ही वीर्य से रक्षित है (स्ववीर्यगुप्ता हि मनोप्रसूतिः)। इसी नीति के अनुसार दिलीप ने अपने अनुचरों को छोड़ दिया। गो के पीछे पीछे वह छाया[4] की भाँति वन में विचरने लगा (विचचार)।* उसने मुनि की भाँति सिर के बालों को लताप्रवानों द्वारा बाँध लिया

(१) रघु०, २।

(२) न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः।—वही, २, ४।

(३) व्रताय तेनानुचरेण धेनोः।—वही।

(४) स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबंधधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥
—वही, २, ६।

(लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैः)[१] । जब गाय चलती थी दिलीप भी चलता था, जब वह खड़ी होती थी वह भी खड़ा होता था, जब वह बैठती थी वह भी बैठता था, जब वह जल पीती थी वह भी जलपान करता था[२]—इस प्रकार उसका कार्यक्रम गाय की छाया के अनुरूप गाय का ही एक प्रकार से था। वह अपने रक्ष्य के रक्षक और अभिभावक[३] की भाँति उसकी रक्षा के अर्थ आवश्यकता के अनुसार अपने प्राणों तक की बाजी लगा सकता था[४] ।

वर्णाश्रम-धर्म को महत्त्व देनेवाले समाज में विवाह-क्रिया का उचित रीति से संपादन अनिवार्य ही था। कालिदास के ग्रंथों से हमें तीन प्रकार के विवाहों का ज्ञान होता है। वे इस प्रकार हैं—(१) स्वयंवर[५] , (२) प्राजापत्य[६] और (३) गांधर्व[७] । स्वयंवर में कन्या अपने पति का वरण स्वयं करती थी। इसका प्रमाण हमें रघुवंश महाकाव्य के छठे सर्ग में वर्णित इंदुमती के स्वयंवर से प्राप्त होता है। प्राजापत्य का उदाहरण कुमारसंभव के अंतर्गत शिव और पार्वती के विवाह में मिलता है और गांधर्व विवाह का संकेत अभिज्ञान-शाकुंतल के दुष्यंत और शकुंतला के प्रेम-संबंध में किया गया है। अब हम नीचे प्रत्येक का अलग अलग वर्णन करते हैं—

विवाह

---

(१) लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम् ।
—रघुवंश, २, ८ ।

(२) वही, २, ६ ।

(३) *विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ।*—वही, २, ५६ ।

(४) वही, २, ५५ और ५६ ।

(५) वही, ६ ।

(६) कुमारसंभव, ७ ।

(७) अभिज्ञान शाकुन्तल, ३ ।

कन्या का पिता अथवा भाई स्वयंवर में स्वयं आने के लिये अथवा अपने युवराज को उसमें भाग लेने के लिये भेजने के अर्थ राजाओं को निमंत्रण भेज देता था[1]। राजा लोग अपनी सेनाओं और शिविरों[2] को साथ लेकर स्वयंवर के लिये प्रस्थान करते थे। कन्या का पिता अपने नगर के द्वार पर इनका स्वागत करता था[3]। फिर इन्हें राजप्रासाद में ले जाता था जिसका द्वार पूर्ण कुंभ[4] जैसी सुंदर मंगल-वस्तुओं से सुशोभित रहता था। दूर दूर के अनेक राजा वधू-विजय के निमित्त परस्पर ईर्ष्यालु हृदय से वहाँ उपस्थित होते थे[5]। प्रातःकाल वंदीजन आकर इन राजाओं को इनकी वंशप्रशस्ति[6] सुना सुनाकर जगाते थे। तदनंतर राजा लोग स्वयंवर के अखाड़े में सुंदर मंचों[7] पर जाकर बैठते थे। ये मंच कुछ ऊँचाई पर बड़े दामों के बने हुए होते थे जिन तक सुंदर सोपानमार्ग[8] से पहुँचते थे। इन मंचासनों में रत्न लगे हुए होते थे। ये ऊपर से रंग-बिरंगे आच्छादनों से ढके हुए होते थे[9]। इन्हीं मंचों पर बहुमूल्य आभूषण धारण किए हुए राजा लोग विराजमान होते थे[10]। तदु-

स्वयंवर

---

(१) अथेश्वरेण क्रथकाशकाना स्वयंवरार्थं स्वसुरिन्दुमत्याः ।
आप्तः कुमारानयनोत्सुकेन भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः ॥
—रघु०, ५, ३६ ।

(२) तस्योपकार्यारचितोपचारा ।—वही, ५, ४१ ।

(३) तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे तदागमारूढगुरुप्रहर्षः ।—वही, ५, ६१ ।

(४) प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम् ।—वही, ५,६३ ।

(५) तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकम् ।—वही, ५, ६४ ।

(६) वही, ५, ७५ ।

(७) स तत्र मञ्चेषु मनोज्ञवेषान्सिंहासनस्थानुपचारवत्सु ।—वही, ६, १ ।

(८) सोपानपथेन मञ्चम् ।—वही, ६, ३ ।

(९) परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान् रत्नवदासनं सः ।—वही, ६, ४ ।

(१०) वही, ६, ६ ।

पराँत भाट पहुँचकर उपस्थित राजाओं के—सूर्य और चंद्र वंश के—कीर्ति-गान[1] करते थे। इसी समय मंगलार्थ दिगंत-व्यापी शंख और तूर्य की ध्वनि[2] की जाती थी। फिर विवाहवेशधारिणी पतिंवरा पालकी में चढ़कर परिजनों द्वारा प्रतुसूत मंचों के मध्य राजमार्ग पर उपस्थित होती थी[3]। उसकी कमनीयता सबके नेत्रों को अपनी ओर खींच लेती थी। राजा भी उसको अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये विविध शृंगार-चेष्टाएँ करते थे (शृंगारचेष्टा विविधा बभूवुः)। तब कन्या की प्रिय सखी, जो उपस्थित राजाओं की वंश-कीर्ति से पूर्ण अवगत होती थी, उसे एक एक नृपति के सम्मुख ले जाकर उसके रूप-गुण एवं कुल का बखान करती हुई[4] उस राजमार्ग पर आगे बढ़ती थी। यह सखी बड़ी चतुर होती थी। इसकी चातुरी पतिंवरा के हृदय पर उचितानुचित प्रभाव डाल सकती थी। प्रायः अपने स्वामी का वरण तो कन्या अपने हृदय में बहुत पहले ही कर लेती होगी परंतु खुले स्वयंवर में राजाओं और दर्शकों के सम्मुख उसके वरण को व्यवहारौचित्य मिलना आवश्यक था। "रात्रि के समय संचारिणी दीपशिखा की भाँति पतिंवरा जिस राजा के सामने से निकल जाती थी वह राजमार्ग पर बनी अट्टालिका की भाँति विवर्ण हो जाता था"[5]। फिर वह उस राजा के सम्मुख जाकर रुकती थी जो कुल, कांति

---

(१) रघु०, ६, ८।

(२) वही, ६, ९।

(३) मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि।
विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा॥
—वही, ६, १०।

(४) वही, ६, २०।

(५) संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥
—वही, ६, ६७।

और यौवन में उसके समान होता था और जिसमें अन्य गुणों के अतिरिक्त विनयगुण विशेष होता था। इस प्रकार के पति का वह वरण करती थी। कांचन रत्न को प्राप्त करता था[1]। सुंदर स्रज को वह स्त्र्योचित लज्जापूर्वक अपने वृणीत पति के गले में छोड़ देती थी[2]। इस प्रकार नागरिकों के हर्षोत्कर्ष के बीच स्वयंवर की विधि समाप्त हो जाती थी। तदुपरांत वर-वधू तोरण, पताका और अन्य मंगल सामग्रियों द्वारा सुसज्जित[3] राजमार्ग से राजप्रासाद की ओर प्रस्थान करते थे। नागरिकों और अन्य लोगों द्वारा एक बड़ा और सुंदर जलूस तैयार हो जाता था जिसे देखने के लिये राजमार्ग पर खुलनेवाली प्रासादों की खिड़कियाँ स्त्रियों के मुखमंडलों से भर जाती थीं[4]। तब वर गज से उतरकर मंगल-वस्तुओं से सुशोभित राजप्रासाद में प्रवेश करता था और महिलाओं के गीतामृत से उसके कर्ण धन्य हो जाते थे[5]। वहाँ वह एक महार्ह

---

(१) कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः ।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ॥
—रघु०, ६, ७९ ।

(२) दृष्ट्या प्रसादामलया कुमारं प्रत्यग्रहीत्संवरणस्रजेव ।
—वही, ६, ८० ।

तया स्रजा मङ्गलपुष्पमय्या विशालवक्षःस्थललम्बया सः ।
अमंस्त कण्ठार्पितबाहुपाशां विदर्भराजावरजां वरेण्यः ॥
—वही, ६, ८४ ।

(३) वही, ७, १० ।
तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कम् ।
वरः स वध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ॥
—वही, ७, ४ ।

(४) वही, ७, ११ ।

(५) इत्युद्गताः पौरवधूमुखेभ्यः शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः ।
—वही, ७, १६ ।

सिंहासन पर बिठाया जाता था और उसे सरत्न मधुपर्क-मिश्रित अर्घ्य प्रदान करते थे[1]। इस प्रकार उसकी द्वार-पूजा की जाती थी। फिर वह दुकूलवस्त्र का जोड़ा (धोती और अँगोछा) धारण करता था। फिर उसे विनीत अवरोधरक्षक विवाह-क्रिया के संपादनार्थ वधू के समीप ले जाते थे[2]। तब पूजा के अनंतर पुरोहित अग्नि में होम करके और अग्नि को ही साक्षी बनाकर वर और वधू को विवाह-सूत्र में बाँध दिया करता था[3]। तब वर वधू का हस्त ग्रहण[4] करके वधू के साथ अग्नि की परिक्रमा[5] करता था। फिर याजक गुरु द्वारा बताई गई वधू अग्नि में लाज-विसर्जन-क्रिया करती थी[6]। शमी वृक्ष के पल्लवों और लाज के होम से उत्पन्न धुएँ की सुगंध अपूर्व होती थी। इसके बाद पति और पत्नी स्वर्णसिंहासन पर बैठते थे और तब स्नातक राजा और पतिपुत्रवाली महिलाएँ विशिष्टता के क्रम से उनके ऊपर भीगे अक्षत फेंकती थीं[8]। अब अन्य उपस्थित राजाओं की ओर ध्यान दिया जाता था और उनकी उचित पूजा-भेट करके उनको विदा किया जाता था[9]। फिर विवाह की शेष विधियों को पूर्णतया समाप्त करके वर नववधू के साथ अनंत

---

(१) महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम्।
मोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥
—रघु०, ७, १९।

(२) दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः।—वही, ७, १९

(३) वही, ७, २०।

(४) हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः।—वही, ७, २१।

(५) प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोः।—वही, ७, २४।

(६) लाजविसर्गमग्नौ।—वही, ७, २५।

(७) वही, ७, २६।

(८) वही, ७, २८।

(९) वही, ७, २९।

धन लेकर अपने देश को प्रयाण करता था[1]। यह स्वयंवर विवाह का चित्रण है। एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि स्वयं-वर की प्रथा केवल राजाओं के संबंध में ही प्राप्त होती है। संभव है, यह केवल उन्हीं में प्रचलित रही हो; क्योंकि जन-साधारण में इस प्रथा के प्रचलन का उल्लेख नहीं मिलता और साधारणतया उनमें इस विधि का संपादन है भी बड़ा कठिन। राजाओं की तो संख्या भी थोड़ी थी और इस रीति से कन्या के कुल आदि की प्रतिष्ठा रखी जा सकती थी। जन-साधारण में स्वयंवर की प्रथा तभी संभव थी जब स्वयंवर के अखाड़े में किसी प्रतिज्ञा-विशेष का संपादन किया जाता जिसका उल्लेख रामायण और महाभारत में मिलता है।

प्राजापत्य विवाह का उदाहरण हमें कुमारसंभव के सातवें सर्ग में, शिव-पार्वती के विवाह में, मिलता है। शिव-पार्वती का विवाह हिंदुओं में आदर्श समझा जाता है। विवाह में होनेवाली सारी क्रियाओं का वर्णन नीचे दिया जाता है। वर्णन है तो शिव और पार्वती के विवाह का, पर उससे सारी विधियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। वह इस प्रकार है—

प्राजापत्य विवाह

पार्वती के पिता हिमालय ने जामित्रि लग्न में शुक्ल पक्ष की एक शुभ तिथि को उसके विवाहार्थ अपने परिजनों के साथ तैया-रियाँ कीं[2]। इसके निमित्त राजमार्ग चीनांशुक की बनी पताकाओं और सुंदर चमकीले सुनहरे तोरणों से सुसज्जित किया गया[3]।

(१) रघु०, ७, ३२।

(२) अथौषधीनामधिपस्य वृद्धौ तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम्।
समेतबन्धुर्हिमवान्सुताया विवाहदीक्षाविधिमन्वतिष्ठत्॥
—कुमारसंभव, ७, १।

(३) सन्तानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम्।
भासोज्ज्वलत्काञ्चनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्ग इवाबभासे॥
—वही, ७, २।

मित्रों और संबंधियों ने कन्या का आलिंगन कर उसे आभूषण भेंट किए[1]। जब मैत्र मुहूर्त में उत्तरा फाल्गुनी और चंद्रमा का योग हुआ तब स्त्रियों ने वधू का उबटन आदि से विवाह प्रतिकर्म आरंभ किया[2]। इन स्त्रियों का पतिपुत्रवती होना अनिवार्य था[3]। वधू को दूर्वा से सज्जित करके कौशेय परिधान कराया गया। फिर उसने हाथों में एक बाण धारण किया[4] जो शायद क्षत्रिय वधू का परिचायक था। तब उसके शरीर में चंदन का तेल लगाकर उस पर लोध्रचूर्ण छिड़का गया और तदनंतर सुमधुर कालेयक लगाया गया। तब दूसरी धोती धारण कराकर स्त्रियाँ उसे चतुष्क स्नानार्थ (स्नानागार) की ओर ले गईं[5]। चतुष्क की मरकतशिला के तल पर मुक्ताओं के प्रयोग से चित्र-रचना की गई थी। वहाँ स्वर्णकलशों द्वारा वधू के अंगों पर स्त्रियों ने जल की धारा छोड़कर उसे स्नान कराया[6]। फिर इस 'मंगलस्नानविशुद्धगात्री' को शुक्लवसना करके पतिव्रताओं ने वितानयुक्त वेदी के मध्य बने एक सुंदर आसन पर बिठाया। इस वेदी के स्तंभ, जो वितान को उठाए हुए थे, स्वर्ण के बने हुए थे और

---

(१) अङ्काद्ययावङ्कमुदीरिताशीः सा मण्डनान्मण्डनमन्वभुङ्क्त ।
सम्बन्धिभिन्नोऽपि गिरेः कुलस्य स्नेहस्तदेकायतनं जगाम ॥
—कुमार०, ७, ५।

(२) मैत्रे मुहूर्ते शशलाञ्छनेन योगं गतासूत्तरफल्गुनीषु ।
तस्याः शरीरे प्रतिकर्म चक्रुर्बन्धुस्त्रियो याः पतिपुत्रवत्यः ॥
—वही, ७, ६।

(३) वही।

(४) वही, ७, ७।

(५) तां लोध्रकल्केन हृताङ्गतैलामाश्यानकालेयकृताङ्गरागाम् ।
वासो वसानामभिषेकयोग्यं नार्यश्चतुष्काभिमुखं व्यनैषुः ॥
—वही, ७, ९।

(६) वही, ७, १०।

रत्नों से सुशोभित थे[१]। वहाँ वह पूर्व की ओर मुख करके बैठी[२]। फिर उसके शरीर को धूप से सुखाकर बालों को पुष्पों से सजाया और सुगंधित दूर्वास्रज से उसका सिर परिवेष्टित किया गया[३]। तदनंतर श्वेत अगुरु को पीत गोरोचन से मिश्रित करके उससे उसके शरीर पर सुंदर छोटी छोटी पंक्तियों की आकृतियाँ चित्रित की गईं[४]। गोरोचन और लोध्रचूर्ण द्वारा उसके कपोलों को रँगकर कानों के ऊपर से जई के गुच्छे लटकाए गए[५] और अधरोष्ठ हल्के रंग से रँगे गए[६]। उसके चरण महावर द्वारा रँगे गए और नेत्रों में अंजन लगाया गया[७]। उसकी ग्रीवा और बाँहों को रत्नजटित बहुमूल्य आभूषणों से विभूषित किया गया[८]। अन्य अंगों पर भी उसने स्वर्ण के आभूषण धारण किए[९]। फिर इस प्रकार विवाह-शृंगार समाप्त कर वह दर्पण के सम्मुख खड़ी हुई[१०]। तदनंतर उसकी माता ने आर्द्र हरिताल और मनःशिला को उँगली से लेकर उसके ललाट पर स्वर्ण के रंग का विवाह-दीक्षा का तिलक

---

(१) कुमार०, ७, ११।

(२) वही, ७, १३।

(३) वही, ७, १४।

(४) विन्यस्तशुक्लागुरु चक्रुरङ्गं गोरोचनापत्रविभक्तमस्याः।
सा चक्रवाकाङ्कितसैकतायास्त्रिस्रोतसः कान्तिमतीत्य तस्थौ ॥
—वही, ७, १५।

(५) वही, ७, १७।

(६) रेखाविभक्तः सुविभक्तगात्र्याः किंचिन्मधूच्छिष्टविमृष्टरागः।
कामप्यभिख्यां स्फुरितैरपुष्यदासन्नलावण्यफलोऽधरोष्ठः ॥
—वही, ७, १८।

(७) वही, ७, २०

(८) वही, ७, २१।

(९) वही।

(१०) वही, ७, २२।

लगाया[1] और उसके हाथ में ऊर्णामय सूत्र बाँधा[2]। फिर कुल-देवता को प्रणाम कर लेने के पश्चात् वह बड़ी-बूढ़ियों को उच्चता के क्रम से प्रणाम करने गई और उन्होंने आशीर्वाद दिया—अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युः[3]। फिर उसे अन्य संबंधियों ने आशीर्वाद दिया।

इसी प्रकार वर भी अपने घर में माता और अन्य स्त्रियों द्वारा वरोचित वस्तुओं से सजाया गया[4]। उसने मस्तक, ग्रीवा, भुजा और कर्ण आदि में आभूषण धारण कराए गए। फिर 'हंसचिह्नदुकूलवान्'[5] होकर उसने हरिताल का तिलक[6] लगाया और दर्पण के सम्मुख जा खड़ा हुआ।[7] तदनंतर वरपक्ष सुवाद्यध्वनि के साथ साथ वधू के नगरद्वार पर पहुँचा[8]। तब वधूपक्ष के लोग अपने संबंधियों सहित आभूषणों से सुसज्जित होकर गजारूढ़ हो वरपक्ष के स्वागत[9] के लिये आए। नगरद्वार खुला हुआ था। द्वार में घुसते ही वरपक्ष पर पुष्पवर्षा की गई[10]। नगर की स्त्रियाँ घरों की छतों पर चढ़कर वरपक्ष को देखने लगीं और जलूस पर उन्होंने पुष्प-वर्षा की[11]। जलूस को देखने की व्यग्रता इस भाँति थी कि स्त्रियाँ

---

(१) कुमार०, ७, २३।

(२) वही, ७, २४।

(३) अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युरित्युच्यते ताभिरुमा स्म नम्रा।
तया तु तस्यार्धशरीरभाजा पश्चात्कृताः स्निग्धजनाशिषोऽपि॥
—वही, ७, २८।

(४) वही, ७, ३०।

(५) वही, ७, ३२।

(६) वही, ७, ३३।

(७) वही, ७, ३६।

(८) वही, ७, ४०।

(९) वही, ७, ५२।

(१०) प्रावेशयन्मन्दिरमृद्धमेनामागुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम्।
—वही, ७, ५५।

(११) वही, ७, ५६।

अपनी वेणी-रचना[१], चरण-रंजन[२], शलाका द्वारा नेत्ररंजन[३] और नीवी-बंधन[४] आदि क्रियाओं में व्यस्त होती हुई भी खिड़कियों पर दौड़ गईं। तोरण-पताकाओं से सजाए राजमार्ग पर जब जलूस पहुँचा तब उस पर मंगलमय अक्षत फेंका गया[५]। वर अपनी सवारी से उतरकर द्वार पर बैठा जहाँ उसकी पूजा करके उसका स्वागत किया गया[६] और उसको सरत्न अर्घ्य और मधु तथा गव्य प्रदान किया गया। फिर उसे नवदुकूल का जोड़ा पहनने के लिये दिया गया। साथ ही पुरोहित लोग मंत्र पढ़ रहे थे[७]। फिर उसे विनीत अवरोधरक्षक वधू के समीप ले गए[८] और पुरोहित ने उसके हाथ पर वधू का हाथ रखकर पाणिग्रहण कराया[९]। अब शिव और पार्वती की संकेत-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करके पूजी गईं[१०]। फिर वरवधू ने, पुरोहित के आदेशानुसार, अग्नि की तीन बार परिक्रमा की और वधू ने अग्नि में अक्षत डाले[११]। तदनंतर पुरोहित ने

---

(१) कुमार०, ७, ५७।
(२) वही, ७, ५८।
(३) वही, ७, ५९।
(४) वही०, ७, ६०।
(५) वही, ७, ६३।
(६) वही, ७, ७०-७१।
(७) तत्रेश्वरो विष्टरभाग्यथावत्सरत्नमर्घ्यं मधुमच्च गव्यम्।
नवे दुकूले च नगोपनीतं प्रत्यग्रहीत्सर्वममन्त्रवर्जम्॥
—वही, ७, ७२।
(८) वही, ७, ७३।
(९) वही, ७, ७६-७८।
(१०) वही, ७, ७८।
(११) तौ दम्पती त्रिः परिणीय वह्निमन्योन्यसंस्पर्शनिमीलिताक्षौ।
स कारयामास वधूं पुरोधास्तस्मिन्समिद्धार्चिषि लाजमोक्षम्॥
—वही, ७, ८०।

वर-वधू को इस प्रकार आशीर्वाद दिया—यह पावन अग्नि तुम्हारे विवाह कर्म की साक्षी है। तुम दोनों धर्माचरण करनेवाले स्त्री-पुरुष बनो[१]। तब वर शिव वधू से कहते हैं—हे उमा! क्या तुम ध्रुव की चमक देखती हो? तुम्हारी भक्ति भी उसी ध्रुव ज्योति की भाँति होनी चाहिए[२]। इस पर वधू ने उत्तर दिया—'हाँ, देखती हूँ।' अब वैदिक क्रियाएँ समाप्त हुईं और लौकिक क्रियाओं का आरंभ हुआ। दंपति एक चौकोर वेदी पर रखे स्वर्णासन पर बैठे और उन पर अक्षत छिड़का गया[३]।

जब विवाह की सारी विधियाँ समाप्त हो गईं तब उत्सव का प्रारंभ हुआ। एक नाटक खेला गया जिसमें यात्रियों ने सुंदर अभिनय के साथ भावात्मक नृत्य किया। नाट्य-कला की प्रौढ़ता से उत्पन्न अंगों के सजीव संचालन से हृदयांतर के सारे भाव व्यक्त हो जाते थे। ये नटियाँ कौशिकी आदि वृत्तियों में पारंगता थीं[४]। अभिनय के अनंतर वर-वधू निकुंज (कौतुकागार) में गए जहाँ मंगलमय कनककलश रखे हुए थे और पुष्पशय्या सजी थी[५]। अंत में विवाह के अनंतर शिव और पार्वती (वर-वधू) प्रकृति विहार के निमित्त इधर

---

(१) वधूं द्विजः प्राह तवैष वत्से वह्निर्विवाहं प्रति कर्मसाक्षी।
शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति॥
—कुमार०, ७, ८३

(२) ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुवदर्शनाय प्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन।
सा दृष्ट इत्याननमुन्नमय्य ह्रीसन्नकण्ठी कथमप्युवाच॥
—वही, ७, ८५।

(३) वही, ७, ८८।

(४) तौ सन्धिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम्॥ वही, ७, ९१

(५) कनककलशयुक्तं भक्तिशोभासनाथं
क्षितिविरचितशय्यं कौतुकागारमागात्—वही ७, ९४

उधर सुंदर स्थानों में विचरण करने चले गए[1]। यह आधुनिक पाश्चात्यों के विवाहानंतर के honeymoon की भाँति प्रतीत होता है। इस प्रकार प्राजापत्य विवाह की विधियाँ संपन्न होती थीं।

गांधर्व विवाह आठ प्रकार के विवाहों में से एक है। इसका वर्णन स्मृतियों में आता है। इस विवाह के सिद्धांत के अनुसार पारस्परिक प्रेम और आकर्षण के परिणाम-स्वरूप युवा और युवती पुरुष-स्त्री पति-पत्नी के संबंध-सूत्र में बँध जाते थे। इस प्रकार के विवाह में किसी पक्ष के संबंधियों की राय की आवश्यकता नहीं थी। इसमें दोनों की केवल पारस्परिक अनुमति ही पर्याप्त थी। बल्कि पीछे से और संबंधियों की भी अनुमति मिल जाया करती थी। इसको हिंदू व्यवहार (Law) की सत्ता भी स्वीकार करती थी। इस प्रकार के विवाह का उदाहरण अभिज्ञान-शाकुंतल नाटक में मिलता है। दुष्यंत और शकुंतला का विवाह गांधर्व-रीत्यनुसार ही हुआ था। एक स्थान पर कहा भी गया है—"इस विषय में उसने अपने बड़ों की अपेक्षा नहीं की, न तुमने ही उसके संबंधियों से किसी प्रकार की अनुमति ली। जो प्रत्येक ने अपने आप किया है उस विषय में कोई अन्य उनसे क्या कहे[2] ?"

गांधर्व विवाह

संभव है, कालिदास के समय तक गांधर्व विवाह की रीति समाज में चाम्य रही हो, जैसा कि निम्न उद्धरण से विदित होता है—"राजाओं और ऋषियों की बहुतेरी कन्याओं ने गांधर्व रीति से विवाह किया है और बाद में उनको उनके बड़ों ने बधाई दी है[3] ।"

(१) कुमार०, ८।

(२) नापेक्षितो गुरुजनोऽनया न त्वयापि पृष्टो बन्धुः।
एकैकस्य च चरिते किं वनत्वेक एकस्य ॥—अभि० शाकुं०, ५, १६।

(३) गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यः राजर्षिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः ॥—वही, ३, २०।

इतना होने पर भी इसी उद्धरण की दबी ध्वनि से प्रतीत होता है कि उस समय इस रीति का प्रचार नहीं था और कभी कभी इसकी निंदा भी की जाती थी, जैसा कि नीचे लिखे वक्तव्य से सिद्ध होता है—"अतः इस प्रकार का संबंध, विशेषकर एकांत में, पूर्ण परीक्षा के अनंतर स्थिर करना उचित है। अनजाने हृदयों के प्रति मित्रता इसी प्रकार घृणा और शत्रुता में परिणत हो जाती है[1]।" दोनों पक्ष के विशेष परिचय के बाद ही विवाह उचित है। यह वक्तव्य आज भी विवाहार्थियों के लिये पथ-प्रदर्शक है। पूरी समीक्षा और परिचय के बाद ही संबंध स्थिर करना ठीक है। यह बात उस समय और भी आवश्यक हो जाती है जब विवाह अनजाने और अव्यक्त रूप से करना हो। गांधर्व रीति के विवाह में ही प्रायः प्रेमपत्र (मदनलेख[2]) लिखे जाते होंगे। क्षत्रियों में इस रीति की प्राचीन काल में प्रतिष्ठा थी (क्षत्रियस्तु गान्धर्वो विवाह श्रेष्ठ उच्यते)।

वर द्वारा वधू-याचना

कभी कभी ऐसा भी होता था कि वर स्वयं अपनी भावी पत्नी को उसके माता-पिता से भी माँग लिया करता था। कभी कभी ऐसी याचना कन्या के सम्मुख ही की जाती थी। तब लज्जा से अवनत उसके नेत्र हस्त-कमल की पंखड़ियाँ गिनने लगते थे[3]। इस प्रकार की याचना दैव विवाह में भी हो सकती थी परंतु उसमें वधू के पिता को वर बैलों का जोड़ा आदि भेंट करता था। संभव है, इस प्रकार का विवाह प्राजापत्य के ही अंतर्गत आ सके।

---

(१) अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्सङ्गतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥—अभि० शाकुं०, ५, २४।

(२) मदनलेखोऽस्य क्रियताम् ।—वही, ३, प्रियंवदा।

(३) एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥—कुमार०, ६, ८४।

साधारणतया यह विचार था कि समान कुल, गुण और वयवाले[1] वर-वधू विवाह-संबंध में जोड़े जायें; इसी हेतु यह आशा की जाती थी कि आश्रम की कन्या किसी तपस्वी को ही ब्याहे, जैसा विदूषक के निम्न-लिखित व्यंग्यपूर्ण वक्तव्य से प्रमाणित होता है—"तब देव शीघ्र उसकी रक्षा करें जिसमें वह इंगुदी-तैल से चटपटे बालोंवाले किसी तपस्वी के हाथ न लग जाय[2]।"

बहु-विवाह प्रथा

उस समाज में बहु-विवाह की प्रथा भी प्रचलित थी और श्रीसंपन्न पुरुषों की विशेषकर कई पत्नियाँ होती थीं[3]। राजागण तो प्रायः बहुपत्नीवाले होते थे। शकुंतला[4] और धारिणी[5] आदि की कई सपत्नियाँ थीं।

वर्ण-विवाह

हिंदू शास्त्रों के अनुसार असवर्ण विवाह नहीं होते थे परंतु राजा लोग कभी असवर्ण विवाह कर लेते थे, जैसे राजा अग्निमित्र की रानी धारिणी के पिता ने एक विवाह असवर्ण भी किया था। इसी कारण मालविकाग्निमित्र नाटक में सेनापति वीरसेन को धारिणी का अवर्ण भ्राता कहा गया है।

वर-वधू की अवस्था

विवाह पुरुषत्व और स्त्रीत्व के पूर्ण विकास के अनंतर ही होता था। वधू अपने प्रेम और पत्नीत्व के उत्तरदायित्व एवं वैवाहिक विधियों को भली भाँति समझती थी। कई बार तो उसे विवाह के समय अपनी अनुमति

(१) रघुवंश, ६, ७६.

(२) मा कस्यापि तपस्विनः इङ्गुदीतैलचिक्कणशिरसस्य हस्ते पतिष्यति। —अभि० शाकुं०, २, विदूषक।

(३) बहुधनत्वाद्बहुपत्नीकेन तत्र भवता भवितव्यम्। विचार्यतां यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात्।—वही, ६, राजा।

(४) वही।

(५) मालविकाग्निमित्र।

देनी पड़ती थी[1]। यदि ऐसा न होता तो पतिंवरा स्वयंवर में अपना पति स्वयं क्योंकर वरण कर सकती थी? यह तभी संभव था जब वधू की अवस्था उस विषय और समय की गुरुता को समझने में समर्थ होती।

वर-वधू की अवस्थाओं की परिपक्वता इस बात से भी लक्षित होती है कि पाणिग्रहण के समय दोनों के शरीरों में रोमांच हो आता है[2]। जब विवाह की विधियाँ समाप्त हो जाती थीं तब शीघ्र ही अच्छी तिथि पर विवाहोत्तर पुष्प-शय्या की रचना की जाती थी[3] और तदनंतर आनंदपूर्वक विचरण (honeymoon) के लिये दोनों अन्य सुंदर प्राकृतिक स्थानों को चले जाते थे[4]। इन बातों से भी वर-वधू की परिपुष्ट अवस्था के प्रमाण का पोषण होता है। वय-क्रम से युवाओं और युवतियों का विवाह करने की प्रथा प्रचलित थी। सबसे प्रथम ज्येष्ठतम और अंत में कनिष्ठतम भाई विवाह करता था, जैसा 'परिवेत्ता:'[5] पद से विदित होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि विविध प्रांतों में भिन्न भिन्न विवाह-वसन[6] प्रयुक्त होते थे। मालविकाग्निमित्र नाटक में परिव्राजिका से प्रार्थना की गई है कि वह मालविका को विदर्भ देश में व्यवहृत होनेवाले *वैवाहिक* वसनों से सुसज्जित कर दे। वधू विवाहनेपथ्य के रूप में रेशमी

विवाह-वसन

(१) कुमारसंभव, ७।

(२) वही, ७७।

(३) वही, ९४—क्षितिविरचितशय्यं कौतुकागारमागात्॥

(४) वही, ८।

(५) स हि प्रथमजे तस्मिन्नकृतश्रीपरिग्रहे।
परिवेत्तारमात्मानं मेने स्वीकरणाद्भुवः॥—रघु०, १२, १६।

(६) भगवति, यत्त्वं प्रसाधनगर्वं वहसि, तद्दर्शय मालविकायाः शरीरे वैदर्भं विवाहनेपथ्यमिति। —मालविका०, ५, विदूषक।

वस्त्र धारण करती थी जो शरीर में बिलकुल ठीक होता था और बहुत लटकता नहीं था। वर भी इसी प्रकार दुकूल का जोड़ा, ऊर्ध्व और अधोवस्त्र धारण करता था। दोनों आभूषण पहनते थे। वधू स्तनांशुक और साड़ी पहनती थी।

विवाह की विधियों के समाप्त हो जाने के बाद ही पत्नी पति के साथ उसके घर चली जाती थी। पिता के गृह में विवाहानंतर वधू का वास बड़ा अनुचित समझा जाता था। जो स्त्री पति का घर छोड़कर पिता के घर में वास करती थी वह समाज-नीति के विरुद्ध आचरण करनेवाली समझी जाती थी। पिता के घर रहती हुई स्त्री पत्नीत्व के आदर्श से गिर जाती थी और इसके विरुद्ध पति के घर दासी-रूप में रहती हुई भी वह प्रशंसा के योग्य समझी जाती थी[1]। कवि ने अपने एक पात्र के मुख में निम्न उद्धृत वक्तव्य रखते हुए एक बड़े अंत-र्दर्शी, समाजशास्त्री और सुधारक का परिचय दिया है—"पितृगृह में वास करनेवाली पतिव्रता को भी लोग संदेह की अन्यथा दृष्टि से देखते हैं अतः पति की अप्रिया होने पर भी वधू के संबंधी उसका पतिगृहनिवास ही पसंद करते हैं[2]।" इसी प्रकार स्त्रियों में स्वतंत्रता एक अक्षम्य अपराध समझा जाता था (किं पुरोगे स्वा-तन्त्र्यमवलम्बसे)। इन्हीं सब बातों के कारण शायद वधू को विवाह के बाद पति बिदा कराकर अपने साथ लाता था।

पतिगृह-गमन

(१) यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा
स्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया।
अथ तु वेत्सि शुचिव्रतमात्मनः
पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ॥—अभि० शाकुं०, ५, २७

(२) सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां
जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते
प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः ॥—वही, १७।

वधू के प्रस्थान के समय गोरोचन, तीर्थमृत्तिका और दूर्वा आदि से उसे सजाते थे। ये सब मांगलिक वस्तुएँ थीं। साधारणतया पतिगृह के प्रति प्रस्थान करनेवाली वधुएँ शकुंतला की भाँति ही सजाई जाती थीं, जैसा निम्न वर्णन से ज्ञात होता है—शकुंतला के प्रस्थान के समय उसे चंद्रमा की भाँति एक श्वेत रेशमी वस्त्र दिया गया, फिर उसके चरण महावर से रँगे गए और तदुपरांत उसने आभूषण धारण किए। आभूषण पहन चुकने के बाद उसे दुकूल का एक जोड़ा दिया जाता था जो उसके ऊर्ध्व और अधो वस्त्र थे। पहला रेशमी वस्त्र कदाचित् आधुनिक चादर अथवा शाल का कार्य करता होगा। शकुंतला के प्रति कण्व के आशीर्वचन प्रस्थान के समय प्रत्येक वधू के प्रति कहे गए पिता के वचन आदर्श रूप में माने जा सकते हैं। वे इस प्रकार हैं—

शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः[१] ॥

अर्थात् गुरुजनों की सेवा करो। सौतों के प्रति प्रिय सखी का व्यवहार करो। पति के विमुख होने पर भी उस पर रोष मत करो। परिजनों पर अतिशय दया करो। अपने सुंदर भाग्य के कारण गर्व मत करो। इस प्रकार ही आचरण करती हुई युवतियाँ गृहिणी-पद को प्राप्त करती हैं और इसके विपरीत आचरण करनेवाली अपने कुल में शूल की भाँति हो जाती हैं।

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्[२] ॥

---

(१) अभि० शाकुं०, ४, १८।
(२) वही, १९।

अर्थात् चतुरंतमही की चिरकाल तक सपत्नी होकर, अपने और दुष्यंत के अप्रतिरथ पुत्र को पति के स्थान पर प्रतिष्ठित करके और उसे कुटुंबभार सौंपकर पति के साथ ही तुम अवश्य इस शांतिप्रद आश्रम में निवास करोगी।

दूसरे श्लोक से यह भी ध्वनि निकलती है कि पत्नी एक बार पति के गृह जाकर शायद पिता के घर कभी नहीं लौटती थी। शकुंतला को पिता के आश्रम में आने की आशा अपने गार्हस्थ्य के अंत में मिलती है, सो भी आश्रमवास के लिये, पितृ-गृह के लिये नहीं।

पूर्व और उत्तर काल की भाँति कालिदास के समय में भी भारतीय समाज ने पत्नी के ऊपर पति को बड़े अधिकार दे रखे थे। पत्नी निरंतर पति की सेवा में उसकी अनुचरी बनी रहती थी। प्रोषितपतिका का आचरण यक्षपत्नी की दिनचर्या से जाना जा सकता है। वह साधारणतया आदर्श पत्नी के रूप में चित्रित की गई है। मलिनवसना यक्षपत्नी पतिवंश का कीर्तिगान करने के निमित्त अपनी जंघाओं के ऊपर वीणा रखकर बैठती है परंतु दुःखावेग इतना तीव्र है कि वह अपने आँसू नहीं रोक सकती और वे निरंतर वह बहकर उसकी वीणा को भिगो देते हैं। साथ ही बारंबार की अभ्यस्त मूर्छना भी उसे भूल जाती है[1]। कभी तो वह देहली के फूलों को पति के कल्याणार्थ गिनती, कभी काकबलि जैसी अन्य क्रियाएँ संपादन करती क्योंकि 'पतिवंचिता पत्नियों के अधिकतर यही कार्य होते हैं[2]।' वह पर्यंक छोड़कर पृथ्वी पर शयन करती थी[3] और अपने केश तेल-रहित और सूखे रखती थी[4]। वह अपने नख कभी नहीं काटती थी, सूखी वेणी कभी

पत्नी

(१) मेघदूत—उत्तर, २३।
(२) वही, २४।
(३) वही, ३०।
(४) वही, २६।

नहीं खोलती थी[1]। इस प्रकार पति की अनुपस्थिति में पत्नी सारे आनंद-व्यसन छोड़ देती थी। उसके नेत्र अंजन बिना निस्तेज हो जाते थे और मद्य के असेवन के कारण भ्रू अपना आकर्षण खो देते थे। घर लौटने के बाद ही पति उसकी सूखी वेणी अपने हाथों खोलकर फिर गूँथता था। पति पत्नी को प्यार करता था और उसका आदर और प्रतिष्ठा करता था। दशरथ की रानी कौशल्या पति द्वारा 'अर्चिता' थी (अर्चिता तस्य कौशल्या)। दूर रहनेवाले पति वर्षारंभ में ही अपने घर लौटकर पत्नी को सुख देते थे और वे अपने केशों को तेल से स्निग्ध करतीं तथा उनमें कंघी करती थीं। पति की अनुपस्थिति में चित्रण-ज्ञान उनका बड़ा साथ देता था। वे उसके चित्र तैयार करतीं अथवा प्यारे पालतू मयूर को अपने पाजेबों और तालियों की ध्वनि के साथ नचातीं।

पत्नी का गौरव लोग अच्छी तरह समझते थे क्योंकि यह स्पष्ट था कि बिना वैवाहिक प्रेम की उपलब्धि के धर्मप्राण हिंदू की कोई गति नहीं। जब शिव इस सत्य को जानकर ऊपर अरुंधती को देखते हैं तो विवाहानंतर के स्वर्गीय सुख के प्राप्त्यर्थ वे व्यग्र हो उठते हैं[2]। जब ऊपर लिखे प्रकार पत्नी अपने पति की अनुपस्थिति में अपने सारे व्यसनों को त्याग देती थी तब वह पतिप्रिया क्यों न हो?

स्त्रियों का व्रतानुचरण

निम्न-लिखित वक्तव्य से व्रताचरण करती हुई स्त्री की अवस्था का पता चलता है —'श्वेत (रेशमी) वस्त्र धारण किए केवल मंगलार्थ थोड़े से आभूषण पहने, बालों में पवित्र दूर्वांकुर धारण किए, व्रत के बहाने गर्व-रहित होकर

---

(१) मेघदूत।

(२) तद्दर्शनादभूच्छंभोर्भूयान्दारार्थमादरः।
क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्॥—कुमार०, ६,१३।

मेरे प्रति प्रसन्नवदना दीखती है[1]।" सौभाग्यवती स्त्रियाँ चाहे कितनी भी निर्धन क्यों न हों, कभी भूषण-रहित नहीं होतीं, कुछ न कुछ पहिने ही और कोई न कोई शृंगार किए ही रहती हैं, जैसे चूड़ियाँ (मंगलसूत्र), कुंकुम-चिह्न (सिंदूर), नथ और कंकण आदि। ऐसा प्रतीत होता है कि हिंदू समाज द्वारा आज-काल भी आदृत दूर्वांकुर उस समय व्रतानुचारिणी महिलाओं द्वारा बालों में धारण किया जाता था। दूर्वा के उल्लेख से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय गणपति की बड़ी पूजा होती थी; क्योंकि दूर्वा गणपति की ही पूजा में अधिकतर प्रयुक्त होती है। व्रत का आचरण करते हुए व्यक्ति का मानव-जाति के शत्रुओं—काम, क्रोध, मद, लोभ, आदि—से अलग रहना आवश्यक है। इसी को प्रकट करने के लिये उज्झित गर्व शब्द का व्यवहार किया गया है।

कई संकेतों से ज्ञात होता है कि समाज में विधवाएँ भी थीं। विवाह के अवसर पर वधू का शृंगार पतिपुत्रवती स्त्रियाँ ही कर सकती थीं[2]। ऐसे अवसरों पर विधवाएँ असंगलरूपा समझी जाती थीं और उन्हें बराबर अलग रखते थे। इससे भी सिद्ध होता है कि विधवाओं की संख्या समाज में थी। अभिज्ञान-शाकुंतल के एक स्थल से ज्ञात होता है कि धनमित्र नामक एक धनी सार्थवाह की कई विधवाएँ थीं[3]।

विधवाएँ और सती प्रथा

सती प्रथा अथवा मृत पति की चिता में उसके शव के साथ जल मरने की रीति भी कालिदास के समय में भारतवर्ष में प्रचलित थी। मृत पति का अनुगमन करनेवाली स्त्रियों का वर्णन कालिदास के ग्रंथों में आया है (प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति)। रति अपने

---

(१) विक्रमो०, ३, १२।

(२) कुमार०, ७, ६।

(३) अभि० शाकुं०, ६, राजा।

पति की भस्म के साथ जल जाने के लिये प्रस्तुत हो जाती है ! गर्भिणी[1] रानी अथवा अन्य साधारण गर्भिणी विधवा[2] सती नहीं हो सकती थी। कालिदास की राय में सती धर्म बड़ा स्वाभाविक है क्योंकि ऐसा तो निर्जीव भी करते हैं, फिर सजीव और तर्कशील मानवों की तो बात ही और है।

समाज में स्त्रियों का स्थान उच्च था और उनकी उचित प्रतिष्ठा थी। उनके अधिकार बहुत कुछ आज ही जैसे थे परंतु उस समय उनका विशेष आदर था। बहुत संभव है, उनको उच्च श्रेणी की भाषात्मिका शिक्षा न दी जाती हो; परंतु कला के क्षेत्र में तो वे अद्भुत पंडिता थीं जैसा मालविकाग्निमित्र नाटक से सिद्ध होता है। शर्मिष्ठा जैसी कला-पारगता महिलाएँ कला पर ग्रंथ भी लिख चुकी थीं[3]। फिर भी शिव-पार्वती के विवाह के अनंतर जब सरस्वती संस्कृत-काव्य-गान करती हैं तब वे शिव से तो शुद्ध संस्कृत में बात करती हैं परंतु पार्वती को मधुर और सरल प्राकृत में आशीर्वाद देती हैं[4]। संभव है, स्त्रियों की भाषात्मिका शिक्षा बहुत न होती हो।

स्त्रियों का स्थान

समाज में वास्तव में उनके प्रति आजकल की ही भाँति कई प्रकार के विचार थे। कोई कोई तो उन्हें जन्म से ही धूर्त समझते थे और यदि स्त्रियों के प्रति दुष्यंत के विचार तत्कालीन समाज के विचारों की घोषणा करते हों तो यह कहा जा सकता है कि लोग उन्हें स्वाभाविक ही प्रत्युत्पन्न मति वाली समझते थे[5]। उनकी

---

(१) रघु०, १६, ५५-५६।
(२) अभि० शाकुं०, ६।
(३) मालविकाग्निमित्र, २, गणदास।
(४) कुमार०, ७, ९०।
(५) प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते।—अभि० शाकुं०, ५, राजा।

स्वाभाविक चातुरी, जो अन्यत्र से नहीं सीखी जाती, कोयल में सर्वथा सिद्ध है। कोयलें अपने बच्चों का अन्य पक्षियों से पालन-पोषण कराती हैं परंतु जैसे ही ये बच्चे उड़ने योग्य हो जाते हैं वैसे ही अपने पालक पक्षियों को छोड़कर अन्यत्र उड़ जाते हैं[1]। परंतु फिर भी ये विचार स्वार्थपर अवस्था के थे। दुष्यंत की लंपटता के लिये कुछ उचित सहायता चाहिए थी और उसे उसने स्त्रियों के मनोविज्ञान को इंगित कर लेना चाहा। शिव के विचार स्त्रियों के प्रति और ही हैं। उनके विचार में पुरुष और स्त्री के नैतिक स्थान में भेद-भाव करनेवाले लोग मूर्ख हैं। भले दोनों को समान समझते हैं। शिव अरुंधती का, स्त्री होने के कारण, अनादर नहीं करते वरन् सप्तर्षि-मंडल के अन्य ऋषियों की भाँति ही उसकी भी प्रतिष्ठा करते हैं[2]। परंतु पुरुषों की ही भाँति स्त्रियों के प्रति भी न्याय का दंड-विधान बड़ा कठोर था और मालविकाग्निमित्र नाटक की नायिका मालविका के समान स्त्रियाँ भी बेड़ी पहनाकर (निगडबंधनं) पातालाभिमुख कारागार में डाल दी जाती थीं[3]। उनका व्यावहारिक (legal) स्थान भी कुछ ऊँचा न था। उनके अपने अधिकार बहुत थोड़े थे। विधवा रानी अपने अधिकार से सिंहासन पर नहीं बैठ सकती थी वरन् अपने गर्भ के भावी पुत्र के अधिकार से बैठती थी[4]। इसी प्रकार विधवा भी अपने पति की उत्तराधिकारिणी नहीं समझी जाती थी और उसके पति का सारा धन पुत्र के अभाव में राजकोष में चला जाता था।

---

(१) अभि० शाकुं०, २२।
(२) कुमार०, ६।
(३) मालविका०, ४, चेटी।
(४) रघु०, १९, ५५।

कालिदास के समय के नागरिकों के स्वतंत्र जीवन में पर्दा स्वभाव से ही वर्ज्य था। यद्यपि कालिदास के ग्रंथों में अवरोधगृह और अंतःपुर के अनेकों वर्णन मिलते हैं जिनका तात्पर्य गृह के अंतरंग (private) से है

पर्दे की प्रथा

तथापि उनसे यह भाव नहीं निकाला जा सकता कि उनके अंदर स्त्रियाँ गुप्त, पर्दे के भीतर रखी जाती थीं। उनका तात्पर्य केवल उन अंतरंग कक्षों और आँगनों से है जिनका गृह में होना नितांत आवश्यक है। जब कभी स्वयं पुरुष को गृह में एकांतता की आवश्यकता पड़ती है तो लज्जाधनी महिलाओं को क्यों न रही हो। फिर उन्हें तो कई प्रकार के आचार-नियमों का अनुसरण करना होता था; इसलिये अवरोधगृह अथवा अंतःपुर का अस्तित्व पर्दा को प्रमाणित नहीं करता। इसके अतिरिक्त भारतीय स्त्रियाँ तो सार्वजनिक सड़कों से जाकर नदियों में, सबके सामने गाती हुई, स्नान करती थीं[1] और नगर की दीर्घिकाओं में जलक्रीड़ा करती थीं[2]। दोलाधिरोहण[3] (झूला) भी उनका एक प्रमुख व्यसन था। फिर उन्हें पर्दे में रहनेवाली कैसे कहा जा सकता है? परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि भारतीय महिलाएँ आधुनिक पाश्चात्य जगत् की स्त्रियों की भाँति सर्वत्र पुरुषों में अनियंत्रित घूमती थीं। लज्जा स्त्रियों का सर्वोत्तम गुण समझा जाता था और इस हेतु बाहर गुरु-जनों के सम्मुख वे सदा अवगुंठन[4] सहित निकलती थीं। इस अवगुंठन को आज का पर्दा नहीं समझना चाहिए। इसका प्रयोग केवल लज्जाभाव से होता था, भीतरर्य नहीं। पति के साथ

---

(१) रघु०, १६, ६४।
(२) वही, १६, १३।
(३) मालविका०, ३।
(४) अभि० शाकुं०, ५।

गुरुजनों के सम्मुख भारतीय स्त्री विना अवगुंठन (घूँघट) के निकलने में सकुचाती थी, क्योंकि यह एक प्रकार की उच्छृंखलता होती। यह प्रथा भारतवर्ष में आज तक सुरक्षित है।

घर से बाहर जाते समय स्त्रियाँ अपने शरीर को एक चादर से ढक लेती थीं। एक स्थल पर एक वक्तव्य मिलता है—"वह अवगुंठनवती कौन है जिसके शरीर का सौंदर्य पूर्णतया दर्शित नहीं है[1] ?" एक अन्य प्रसंग में कहा गया है—"अपनी लज्जा क्षण भर के लिये दूर करो और अवगुंठन हटा दो[2] ।" कार्यवश सार्वजनिक स्थानों में जानेवाली स्त्रियों के प्रति कोई नियंत्रण नहीं था। वे न केवल विवाह आदि अवसरों पर पड़ोसियों, संबंधियों और अपने राजा के घर जाकर उत्सव में सम्मिलित होती थीं बल्कि प्रायः साधारण स्त्रियाँ अपने ईख आदि के खेत भी रखाती थीं और उस समय एक साथ मिलकर (कोरस में) यश-कीर्ति-संबंधी गाने गाती थीं।

वेशभूषा—वस्त्र

भारतवर्ष जैसे उष्ण देश में वस्त्रों की बड़ी आवश्यकता नहीं थी, फिर भी कालिदास के ग्रंथों से वस्त्रों के प्रति हमें जो संकेत उपलब्ध होते हैं उनसे हमारे ऊपर गहरा प्रभाव पड़ता है। गर्मियों में लोग बहुत थोड़े कपड़े पहनते थे और उष्णता के कारण बहुत पतले और चिकने कपड़े तैयार किए जाते थे। इसी कारण कपड़ों के काट और उनकी सिलाई में हमें बहुत विकास नहीं मिलता। पुरुष और स्त्रियों के भिन्न भिन्न वस्त्रों का वर्णन अलग अलग ही ठीक जँचता है इसलिये ऐसा ही करेंगे।

कालिदास के ग्रंथों से पता चलता है कि पुरुष एक जोड़ा वस्त्र पहनते थे। इस जोड़े में से एक उत्तरीय और दूसरा अधोवस्त्र रहता

---

(१) का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्येत पोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥
अभि० शाकुं०,५,१३।

(२) वही।

होगा। अधोवस्त्र धोती की भाँति बाँधा जाता होगा। मथुरा म्यूज़ियम में सुरक्षित शिलापट्टों पर उत्कीर्ण और कोरकर बनाई हुई अन्य मूर्तियों को जो वस्त्र पहनाए गए हैं वे ही कालिदास के वस्त्र-युगल के प्रतिनिधि हैं। इस म्यूज़ियम की यक्ष और देव प्रतिमाएँ सभी एक ही प्रकार के वस्त्र धारण किए हुए हैं जो वही युगल-वस्त्र—उत्तरीय और फेंटे के रूप में बँधी हुई धोती—हैं। विवाह के समय भी यही दो वस्त्र पहने जाते थे परंतु अंतर इतना अवश्य था कि वे साधारण रूई के सूत के नहीं बल्कि रेशम के बने होते थे। ग्रीष्म ऋतु में पहने जानेवाले सुंदर, सुचिक्कण और पतले रेशमी वस्त्र श्रीमानों को बड़े ही प्रिय थे। एक प्रकार का रेशमी वस्त्र चीनांशुक[1] कहलाता था जो सदा की भाँति तब भी उत्पन्न करनेवाले चीन देश से आता था।

पुरुषों के वस्त्र

वस्त्र कई प्रकार की बनावट के होते थे—कोई श्वेत (धौत), कोई लाल (काषाय), कोई नीला, कोई कृष्ण (उत्तरीय) और कोई पीत। कभी कभी वस्त्रों को, उनमें हंसों की आकृति बनाते हुए, बुनते थे (हंसचिह्नदुकूलवान्)। मथुरा म्यूज़ियम की एक प्रतिमा के वस्त्रों में इसी प्रकार के हंस-चिह्नों की छाप दिखाई देती है। यह दुकूल वस्त्रों का ही उदाहरण है। हमें वर की पोशाक में एक लंबे वस्त्र (लंबिदुकूलधारी) का उल्लेख मिलता है जिसका तात्पर्य कदाचित् एक रेशमी चादर से था। यद्यपि हमें ऊनी वस्त्रों का स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता फिर भी ऊर्णा का उल्लेख आता है। ऊर्णा के सूत से ही वर-वधू के 'कौतुकहस्तसूत्रम्'[2] अथवा विवाह-कंकण प्रस्तुत किए जाते थे। इससे सिद्ध होता है कि शीतकाल की अतिशय सर्दी से बचने के लिये भारतीय ऊनी वस्त्रों का भी प्रयोग करते

(१) कुमार०, ७, ३। अभि० शाकुं०, १, ३३।
(२) वही, ७, २५।

होंगे। इसका उल्लेख संस्कृत के चिकित्सा-साहित्य में अधिक मिलता है, जहाँ इसकी पवित्रता और इसके रोगनाशक गुणों की प्रशंसा की गई है।

वधू के वस्त्रों के संकेत से ज्ञात होता है कि उसके वस्त्रों के भी दो अंग हुआ करते थे। उसका भी एक ऊर्ध्व और दूसरा अधो वस्त्र हुआ करता था। अधोवस्त्र आधुनिक साड़ी की भाँति होता होगा परंतु उसके सामने का चुना हुआ भाग एक सूत्र से बँधा होता था जिसे नीवी[1] (इजारबंद) कहते थे और उसकी गाँठ को नीवीबंध कहते थे। नीवी का व्यवहार अभी हाल तक भारतवर्ष में होता आया है और अब भी कुछ स्थानों पर वृद्धाएँ नीवी की सहायता से ही अपनी साड़ी पहनती हैं। इसके अतिरिक्त वे एक प्रकार की चोली भी पहनती थीं जिसे 'स्तनांशुक'[2] कहते थे। इससे सारा ऊपरी भाग नहीं ढकता था पर, जैसा कि 'स्तनांशुक' शब्द से ज्ञात होता है, केवल स्तन-भाग ढकता था। इस प्रकार के स्तनांशुक मथुरा म्यूजियम की देवी-प्रतिमाओं पर मिल जाते हैं। इसी प्रकार के वस्त्र अजंता के चित्रकारों ने भी अपनी चित्रित स्त्रियों को प्रदान किए हैं। साड़ी के पहनने का उदाहरण भी हमें अजंता के चित्रों से उपलब्ध होता है। मथुरा म्यूजियम के एक उत्कीर्ण शिलापट्ट की सप्तमातृकाएँ घँघरीदार धोती पहने हुए हैं। बहुत संभव है, पहले इसी प्रकार की धोतियाँ पहनी जाती हों परंतु ये सिर से नहीं ओढ़ी जाती थीं जैसा मथुरा के शिलापट्टों और अजंता के चित्रों से सिद्ध होता है। अजंता में यशोधरा और कितनी ही अन्य पात्रियाँ भी अधोभाग में केवल धोती भर लपेटे हैं। लंबि-दुकूल स्त्रियों के लिये भी चादर का कार्य करता होगा जिससे वे

स्त्रियों के वस्त्र

(१) कुमार०, ७, ६०।
(२) विक्रमो०, ३, १२।

अपना सिर ढकती थीं। परंतु आश्चर्य यह है कि शायद आज तक कहीं चित्रों अथवा प्रतिमाओं की कोई प्राचीन स्त्री सिर से कपड़ा ओढ़े नहीं देखी गई। यह चादर ही कभी कभी अवगुंठन का कार्य भी करती होगी। उसके ऊपर और नीचे की छोरें कमर पर पेटी के नीचे दबी रहती थीं (क्षौम्यान्तरितमेखले)। यह क्षौम शायद अधोवस्त्र था जिससे कटिप्रदेश छिपा रहता था और इसी प्रकार यह मेखला का आच्छादन हो सकता था। कभी कभी शीतलता प्रदान करने के लिये गर्मियों में कपड़ों में मोती गूँथे जाते थे। औरतें कभी कभी नीली और कभी सीता की भाँति लाल साड़ी (कापायपरिवीतेन) पहनती थीं।

कालिदास के ग्रंथों में आभूषणों के विषय में असंख्य उल्लेख मिलते हैं जिनसे प्रकट होता है कि उस समय पुरुष और स्त्री दोनों आभूषणों का खूब प्रयोग करते थे। साधारणतया निम्नलिखित आभूषणों का व्यवहार

आभूषण

होता था—केयूर, नूपुर, वलय (कंगन), मेखला, रशना अथवा कांची (करधनी), कुंडल, नथ, अंगुलीयक, हार, हेमसूत्र ('चेन'), मुक्ताओं और रत्नों के अन्य आभूषण जो मस्तक पर और वेणी में गूँथकर पहने जाते थे। मुक्ताओं के ऐसे हार भी पहनते थे जिनके बीच में इंद्रनील जड़ा होता था। ग्रीष्म ऋतु के वस्त्रों में भी आभूषण लगे रहते थे।

पुरुष भी आभूषण पहनते थे परंतु स्त्रियों की अपेक्षा बहुत कम। वे निम्न-लिखित आभूषण पहनते थे—वलय, केयूर, मुक्ताहार और हेमसूत्र। राजा कपालमणि अथवा मुकुट में रत्न धारण करते थे। पुरुष अंगुलीयक अर्थात् अँगूठी का भी प्रयोग करते थे।

पुरुष के आभूषण

स्त्रियाँ बहुत से आभूषण धारण करती थीं। उनमें से मुख्य नीचे दिए जाते हैं—केयूर, नूपुर, वलय, बहुत प्रकार की मेखलाएँ,

कुंडल (कर्णाभरण); नथ, मुक्ताहार, हेमसूत्र और मस्तक एवं वेणियों में पहने जानेवाले आभूषण। बालों को आच्छादित करनेवाले रत्नजाल और कपड़ों में लगे जेवरों का भी वे उपयोग करती थीं। प्रोषितपतिकाएँ उन आभूषणों के सिवा कोई आभूषण नहीं पहनती थीं जो सौभाग्य-चिह्न-स्वरूप नितांत आवश्यक न थे। अँगूठियाँ कई प्रकार की थीं। एक प्रकार की अँगूठी सर्पमुद्रांकित[1] होती थी। दूसरी वे थीं जिन पर स्वामी का नाम[2] खुदा होता था। तप्त चामीकर[3] के बने अंगद अथवा केयूरों का भी उल्लेख मिलता है।

स्त्रियों के आभूषण

स्त्रियों की भाँति पुरुष भी लंबे केश रखते थे। दिलीप जब गाय की सेवा करने उसके पीछे पीछे वन को जाते हैं तो लता-प्रतानों से अपने केशों को बाँध लेते हैं[4]। स्त्रियाँ अपने लंबे केशों मे तेल लगाकर कंघी करती थीं और उनको दो भागों में विभक्त कर माँग बनाकर वेणी बनाती थीं। इन लटकती हुई लंबी वेणियों में वे फूल, मोती और रत्नों को गूँथती थीं और माँग की रेखा को भी फूलों आदि से सुसज्जित करती थीं। सामने की अलकें एक प्रकार के मुक्ताजाल से आच्छादित कर ली जाती थीं। प्रोषितपतिकाएँ इनमें से कोई शृंगार नहीं करती थीं। स्नान आदि के अनंतर वे अपने केशों को अगरु और संदल आदि के धूम्र से सुखाती और सुगंधित करती थीं।

केश

शारीरिक शृंगार की बहुतेरी सामग्रियाँ भारतीय प्रयोग करते थे। पुरुष और स्त्री दोनों ही शरीर को सुंदर और स्वच्छ

(१) इदं सर्पमुद्रितमङ्गुलीयकम्।—मालविका०, ४, देखो।

(२) नाममुद्राक्षराण्यनुवाच्य...।—अभि० शाकुं०, १।

(३) विक्रमो०, १, १२।

(४) रघु०, २, ८।

एवं सुगंधित बनाने के उपाय करते थे। इसलिये वे अपने शरीर में अंगराग[1] और हरिचंदन[2] मलते थे। स्त्रियाँ अपने पाँवों को लाह[3] अथवा महावर से रँगती थीं। वे नेत्रों में अंजन[4] और ललाट पर तिलक[5] लगाती थीं। दीर्घिकाओं में स्नानार्थ उतरती हुई स्त्रियों के पदों के रंग से उनके सोपान रँग जाया करते थे[6]। रघुवंश के एक श्लोक[7] से पता चलता है कि स्नान के समय नदी में जलक्रीड़ा करती हुई स्त्रियों के नेत्रों का अंजन और होठों पर चढ़ा हुआ रंग, एक दूसरी पर क्रीड़ार्थ जल फेंकने से, किस भाँति धुल जाया करते थे। अपने शरीर को स्त्रियाँ कभी कभी सुंदर छोटी छोटी पत्तियों[8] के चित्रण से विभूषित करती थीं। कपोलों[9] पर भी रंग चढ़ाया जाता था। अपने होठों पर लोध्र चूर्ण लगाकर वे उनका रंग पीत-कषाय[10] करती थीं। एक श्लोक[11] के विश्लेषण से हमें निम्न-लिखित बातों का बोध होता है—(१) होठों को आलक्तक रंग से रँगती थीं; (२) पूरे मुखमंडल को भी रँगती थीं। यहाँ पर विशेषक शब्द का व्यवहार हुआ है जिसका भाव है—स्त्रियों के मुखमंडल पर विभिन्न रंगों के छोटे छोटे बिंदुओं का अंकन

अन्य शारीरिक शृंगार

(१) रघु०, ६; कुमार०, ७।
(२) वही।
(३) वही।
(४) वही।
(५) वही।
(६) वही।
(७) रघु०,१६।
(८) वही, ३, २१। मालविका०, ३, ५।
(९) वही।
(१०) वही।
(११) मालविका०, ३, ५

करना (अभिनवा इव पत्र विशेषका: ।—रघु० ६, २८; ३) अवि-धवाएँ अपने ललाट पर प्राय: कुंकुम (अब सिंदूर) अथवा कस्तूरी का श्याम टीका लगाती थीं। कुंकुम का टीका लगाकर कभी कभी अंजनबिंदु भी ललाट पर लगाती थीं। आजकल कुछ पुराने खयाल की स्त्रियाँ इसका प्रतिनिधि-रूप टिकुली धारण करती हैं।

पुष्प-व्यवहार

कालिदास के समय में लोग पुष्पों का खूब व्यवहार करते थे। कालिदास के ग्रंथों में फूलों के असंख्य उल्लेख हुए हैं। उनके बिना कोई उत्सव संभव नहीं था। उत्सव-दिवसों पर चारों ओर सजाने का मुख्य काम उन्हीं के द्वारा संपन्न होता था। पुरुष और स्त्रियाँ शरीर के बराबर लंबी फूलों की माला पहनती थीं। बहुत से आभूषण तो फूलों की नकल करके बनाए जाते थे। एक स्थल पर स्वर्ण के स्थान पर कुसुम-मेखला का वर्णन मिलता है। युवतियाँ फूलों और केसर की पत्तियों का बालों में आभूषणों की भाँति व्यवहार करती थीं। केसर के फूलों की मेखला मुक्तादाम के स्थान पर व्यवहृत होती थी और कर्णिकार के फूल कुंडल का काम देते थे। स्त्रियाँ कुंद-कलियों का बालों में, सिरस के फूलों का कानों पर, कुरबक पुष्पों का वेणियों में और वर्षा ऋतु के कुसुमों का माँग की रेखा पर प्रयोग करती थीं। फिर मंदार पुष्प को बालों में और कमल की छोटी कलियों को कानों में पहनती थीं। ऋषि-कन्याएँ केवल पुष्पों के ही आभूषण पहनती थीं। इस प्रकार भारतीयों के नित्य के श्रृंगार में पुष्पों का बड़ा ऊँचा स्थान था। नदी-कूलों पर दोनों ओर यूथिका पुष्प खिलते थे जिनका मालियों की स्त्रियाँ (पुष्पलावी[1]) सदा चयन करती रहती होंगी। सचमुच

(१) मेघदूत, २८।

ही कलाप्रिय भारतीयों में पुष्प की बड़ी माँग के कारण मालियों का व्यवसाय खूब चलता होगा।

शृंगार में दर्पण भी एक आवश्यक स्थान की पूर्ति करता था। किस धातु से इसका निर्माण होता था इसका पता तो नहीं चलता, परंतु इतना अवश्य है कि भारतीय पुरुष और स्त्री सदा इसका व्यवहार करते थे। कालिदास ने कई स्थानों पर दर्पणों का उल्लेख किया है[1]। अन्य शारीरिक शृंगार समाप्त कर वे दर्पण में उसका प्रभाव देखते थे। वैवाहिक नेपथ्य के समाप्त हो जाने के बाद वर[2] और वधू दर्पण में अपना प्रतिबिंब देखते थे। इस प्रकार दर्पण का प्रयोग साधारण शृंगार में होता हुआ धार्मिक कार्यों में भी होने लगा था।

दर्पण

कालिदास के समय का भारतीय भोजन बड़ा ही बलवर्धक था। यव, गेहूँ और चावल राष्ट्र के भोजन थे और अनंत गोधन उसे दूध, मक्खन, घी और दही प्रदान करता था। दूध आदि से भोजन की अन्य बड़ी स्वादिष्ट वस्तुएँ तैयार की जाती थीं। चीनी से भोजन में बड़ा स्वाद आ जाता था और इससे तथा दूध से भारतीयों का अत्यंत प्रिय खीर तैयार किया जाता था। चीनी कई प्रकार की होती थी। एक प्रकार की चीनी का नाम, जो हमें कालिदास से प्राप्त होता है, 'मत्स्यपिंड'[3] था। लोगों के प्रिय फूल केवल उनके विलास की सामग्री नहीं थे वरन् उनसे मधुमक्खियाँ अनंत मधु

भोजन

(१) प्रतिमा ददर्श।—कुमार०, ७, २६।
विभ्रमदर्पणम्।—रघु०, १०, १०।

(२) कुमार०, ७, २६।

(३) मालविका०,३, विदू०—सीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यपिण्डकोपनता...।

निकालती थीं और देवताओं के भोजनार्थ मध्वमृत प्राप्त होता था। मधु से अपनी तृप्ति तो होती ही थी, यह देवताओं के भी काम में आता था और इससे अतिथि-सत्कार होता था।

राजा के बाहर निकलने के समय जैसे आज गाँव के लोग नजर लेकर उससे मिलते हैं वैसे ही उस समय वृद्ध घोष भेंट के रूप में घी-मक्खन लेकर उपस्थित होते थे[1]। ये घोष प्राचीन और अर्वाचीन आभीर थे जो आधुनिक अहीरों अथवा ग्वालों की भाँति बड़े समुदाय में गाएँ पालते थे और उनके दूध से घी-मक्खन आदि चीज़ें तैयार करते थे। खीर को 'पयश्चरुम्' भी कहते थे जिससे भरे स्वर्ण-भांडों का हवाला कालिदास के ग्रंथों में मिलता है।

शिखरिणी[2] एक अन्य प्रकार की बड़ी स्वादिष्ट वस्तु थी जो घी, चीनी और विविध मसालों से तैयार की जाती थी। यह कदाचित् कालिदास के समय के नित्य भोजन का एक अंग था। भोजन में मसालों का भी उपयोग होता था। इन मसालों में से कम से कम दो के नाम हमें कवि के ग्रंथों में मिल जाते हैं। वे हैं लौंग और इलायची।

मांस भी उस समय के भोजन का एक मुख्य अंग प्रतीत होता है। आखेट में जीव-हिंसा निरर्थक नहीं की जाती थी; शास्त्रानुमोदित मृगों आदि का मांस सारे देश में राष्ट्र के भोजन के लिये प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त होता था। आश्चर्य यह है कि ब्राह्मण तक इस भोजन से वंचित नहीं थे। अभिज्ञान-शाकुंतल का विदूषक एक स्थल पर कुछ खेद के साथ कहता है—"असमय भोजन मिलता है; वह भी बहुधा लौहदंड पर भुने हुए मांस[3] का ही होता है।" यह

---

(१) रघु०, १, ४५—हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्।

(२) विक्रमो०, ३, विदू०।

(३) अनियतवेलं शूल्यमांसभूयिष्ठ आहारो भुज्यते।—अभि० शाकुं०, २, विदू०।

कालिदास के समय में ही नहीं प्रत्युत सदा भारतवर्ष के भोजन में प्रचलित रहा है। मृच्छकटिक नाटक का विदूषक भी वसंतसेना के प्रासाद में भोजनार्थ निमंत्रित होने के लिये मरता है—वहाँ भी मांस बनाया जा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में ब्राह्मण भले प्रकार मांस का भोजन करते थे। इसी कारण कभी कभी तो इस प्रकार के भोजन को, जैन भोजन के विरोध में, ब्राह्मण अथवा वैदिक भोजन कहा गया है। आखेट से ही मांस की प्राप्ति नहीं होती थी। कालिदास के उल्लेख से पता चलता है कि बूचरखाने भी देश में थे जहाँ पशुओं का नित्य वध होता था। यही मांस रोज बाजारों में बिकने आता होगा जिसे आर्य ब्राह्मण खाते होंगे। मनुस्मृति में भी आठ प्रकार के कसाइयों का उल्लेख है। अशोक के प्रथम शिलालेख से तो ज्ञात होता है कि बौद्ध होने के पूर्व उसके भोजनालय के लिये प्रतिदिन सहस्रों पशु मारे जाते थे और पीछे केवल दो मयूर और एक मृग मारे जाने लगे थे जिनको उसने बाद को देश भर में हिंसा बंद करते समय अवश्य कर दिया था। बूचरखाने के संबंध में कालिदास का उल्लेख इस प्रकार है—"और श्रीमान् तो बूचरखाने (सूना) के ऊपर चारों ओर चक्कर काटते हुए आमिषलोलुप किंतु सभीत पक्षी की भाँति हैं[1]।"

मद्यपान उस समय देशव्यापी हो गया था। कालिदास ने मद्यपान के कितने ही हवाले दिए हैं जिनके परिणाम नित्य दृष्टिगोचर होते रहते थे। पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ भी काफी मद्यपान करती थीं। ऐसा विश्वास था कि मद्य-

मद्यपान

पान से स्त्रियों पर एक विशेष सौंदर्य[2] आता है (माघ—चारुता वपुरभूषयदासां तामनूननवयौवनयोगः। तं पुनर्मकरकेतनलक्ष्मीस्तां मदो

(१) भवानपि सूनापरिसरचर इव गृध्रो आमिषलोलुपो भीरुकश्च।
—मालविका०, २, विदू०।

(२) मदः किल स्त्रीजनस्य मण्डनमिति।—वही, ३, इरावती।

दयितसङ्गमभूपः ॥—शिशुपालवध, १०, ३३। असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना ।—कुमारसंभव, ४, १२। ललितविभ्रमबन्धविचक्षणम्...पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गनाः ।—रघुवंश, ९, ३६। रागकान्तनयनेषु नितान्तं विद्रुमारुणकपोलतलेषु। सर्वगापि ददृशे वनितानां दर्पणेष्विव मुखेषु मदश्रीः ॥—किरातार्जुनीय, ९, ६३)। अग्निमित्र की रानी इरावती मालविकाग्निमित्र नाटक में मद्यपानोपरांत अर्धविक्षिप्ता[1] सी दीखती है। रघुवंश में राजा अज की रानी इंदुमती राजा के मुख से मद्य अपने मुँह में लेती है।[3] गणिकाएँ भी इसमें बहुत भाग लेती होंगी क्योंकि जब संभ्रांत महिलाओं का यह हाल है तब उनका इससे वंचित रहना तो सर्वथा असंभव था। अभिज्ञान-शाकुंतल में नागरिक[2] से उच्च पदाधिकारियों और साधारण पुलिस के सिपाहियों के मुक्त अभियुक्त से प्राप्त पुरस्कार के रुपए से मद्यपान का उल्लेख है। रघु की सारी सेना नारिकेल से तैयार किए आसव[3] का पान करती है। हमें मद्यपान के प्यालों (चषक), मार्गस्थ मद्य की दूकानों[4] और आपानभूमियों[5] के कई उल्लेख मिलते हैं। कालिदास के ग्रंथों में शराब के साधारणतया निम्नलिखित नाम आए हैं—मद्य, आसव, वारुणी, सुरा। सुरा का सौंदर्य लोगों को रक्तवर्ण और घूर्णित नेत्रों तथा पद पद पर निरर्थक शब्दों के उच्चारण में प्राप्त होता था। कुमारसंभव में शिव स्वयं मद्यपान करते हैं और पार्वती को भी कराते हैं[6]। दंपति का मद्य-

---

(१) युक्तमदा इरावती ।— मालविका०, ३।

(२) कादम्बरीसखित्वमस्माकं प्रथमशोभितमिष्यते।

—अभि० शाकुं०, ६, श्यालः।

(३) रघु०, ४, ४२।

(४) अभि० शाकुं०, ६।

(५) रघु०, ४, ४२।

(६) कुमार०, ८, ७७।

पान एक साधारण व्यसन प्रतीत होता है। मालविकाग्निमित्र में मद्यपान द्वारा उत्पन्न अर्धविक्षिप्तता और उसके दूर करनेवाले मत्स्य-पिंड[1] (एक प्रकार की चीनी) का हवाला है। प्राचीन चिकित्सा-शास्त्र के ग्रंथों में, मदात्यय-चिकित्सा के प्रकरणों में, मत्स्यपिंड को मदात्यय का निवारक बताया गया है (देखो, पक्वेक्षुरसप्रकृतिकः सुराविशेष.)। इससे विदित होता है कि मद्यपान भारतवर्ष में खूब प्रचलित था और उन्हें पुष्पों (विशेषकर मधूक) से प्रस्तुत किया जाता था।

त्यौहार और उत्सव तो प्राय. वही थे जो आज हैं परंतु उनमें से कितने ही आजकल के हिंदू-समाज ने भुला दिए हैं। पुरुहूतध्वज

त्यौहार और उत्सव

वह उत्सव था जो इंद्रधनुष के प्रथम दर्शन के अवसर पर मनाया जाता था और जिसमें इंद्र की पूजा होती थी। दशाह भी एक प्रकार का उत्सव ही था। प्रोषितपतिकाएँ अपने विदेशी पति के कल्याण और शुभागमन के निमित्त कालबलिपूजा करती थीं। उत्सवों में नगर के राजपथ और प्रासाद तोरण, पताकाओं, पुष्पों और चित्रणों द्वारा सजाए जाते थे। रामाभिषेक के समय अयोध्या, शिव के विवाह के समय कल्पित हिमालय नगर और इंदुमती के स्वयंवर के समय विदर्भराज की नगरी, ये सब सुंदर मांगलिक वस्तुओं से सुसज्जित किए गए थे। तोरण रस्सियों में पत्ते गूँथकर द्वारों और दीवारों के सामने बाँधकर बनाए जाते थे जो आज भी उत्सव दिवस में प्राय देखे जा सकते हैं। वसंतोत्सव बड़े धूमधाम के साथ होता था, उसमें फूलों का विशेष व्यवहार होता था और नाटक खेले जाते थे। मालविकाग्निमित्र नाटक उसी समय खेला गया था।

---

(१) मालविका॰, ३, विदू॰।

मद्य और थियेटर जिन भारतीयों के विलास के सहायक थे उनके आनंद-व्यसन लोगों की रुचि के अनुकूल प्रतीत होते हैं।

आनंद व्यसन

इनके व्यसन में मद्य और पुष्पों का स्थान मुख्य था। शरीरांत लंबे स्रज और अंगराग आदि स्त्रियों का सौंदर्य द्विगुणित करते थे। मालविकाग्निमित्र[1] में लाचणिक और ग्राम्य संगीत का बड़ा विशद वर्णन मिलता है। वसंतोत्सव पर बड़े बड़े कवियों के नाटक खेले जाते थे[2]; उस समय मदमत्त दर्शक रंगमंच के सम्मुख बैठे आपे में नहीं रहते थे। नगर की दीर्घिकाओं में स्नान करते समय महिलाएँ बच्चों की तरह अत्यधिक आनंद-क्रीड़ा करती थीं। वे जल को पीटती थीं जिससे मृदंग की भाँति ध्वनि निकलती थी। एक स्थल पर कवि ने कहा है कि ग्रीष्म ऋतु में जो सुरभियुक्त आम्रमंजरी मद्य और पाटलपुष्प अपने साथ लाती है, कामी जनों के सारे पाप हरण कर लेती है। यह वक्तव्य इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि यह व्यसनी नागरिकों के आनंद-व्यसनों के लिये अनुकूल वातावरण को इंगित करता है। सुंदर.बागीचों के कुंजों में पुष्पों और पल्लवों द्वारा प्रस्तुत शय्याओं का वर्णन प्राप्त होता है। इस प्रकार लोग अनेक प्रकार से आनंद मनाते थे। जब कोई राजा सुरा और सुंदरी के फेर में पड़कर राजकार्य सचिवों के हाथ में छोड़ देता था (सन्निवेश्य सचिवेष्वतः परं स्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत्—रघु०, १९, ४) तब स्त्रियों के साथ रहते हुए उस राजा के मृदंग-ध्वनि द्वारा प्रतिध्वनित प्रासाद में नाच-रंग के उत्सव उत्तरोत्तर बढ़ते जाते थे[3]। यह वर्णन अंतिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ का स्मरण करा देता है।

---

(१) मालविका०, १-२।

(२) प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनाम्।—मालविका०, १।

(३) कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु।
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः॥—रघु०, १९,५

ऊपर बताए हुए आनंद-व्यसनों में ही दोलाधिरोहण के खेल का उल्लेख किया जा सकता है। इसके खेल पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ ही विशेष खेलती थीं। इन्हें झूले से गिरने का भी डर नहीं लगता था (दोलापरिभ्रष्टाया:)[1]। झूले के लिये दोला शब्द का व्यवहार हुआ है और झूला झूलने के लिये 'दोलाधिरोहण' वाक्यांश का, जैसा निम्नलिखित वक्तव्य से विदित होता है—"देव के साथ दोलाधिरोहण का आनंद लेना चाहती हूँ।"—इरावती। श्रीमानों के प्रासादों से लगे उद्यानों में झूले लगे रहते थे जिनमें आनंदप्रिय स्त्री-पुरुष प्राय: झूला करते थे। अन्य स्थल पर दोलागृह[2] का उल्लेख मिलता है। यह शायद उद्यानों में अथवा गृह के ही किसी कमरे को इंगित करता है जिसका उपयोग झूला झूलने में किया जाता होगा।

भारतवर्ष में अतिथि-सत्कार बड़े प्रेम से किया जाता था और यह बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य था। वेत्रासन[3] पर बैठाकर अतिथि की अभ्यर्थना करते थे। यह आसन बेत का कोच अथवा कुर्सी था। फिर उसे अर्घादि[4] मांगलिक वस्तुएँ प्रदान करते थे। यह अर्घ अक्षत और दूर्वा आदि का सम्मिश्रण था और देवताओं अथवा बड़े आदमियों की पूजा में प्रयुक्त होता था। इसके अवयवों का अन्यत्र इस प्रकार वर्णन मिलता है—

अतिथि-सत्कार

"आप: क्षीरं कुशाग्रञ्च दधि सर्पि: सतण्डुलम्।
यव: सिद्धार्थकश्चैव अष्टाङ्गोऽर्घ: प्रकीर्तित:॥"

अतिथि के चरण भी धोए जाते थे क्योंकि शायद अतिथि

---

(१) मालविका०, ३, मालविका।
(२) वही, ३.।
(३) कुमार०, ६, ५३।
(४) अतिथिविशेषलाभेन...। फलमिश्रमर्घमुपहार। इदं पादोदकं भविष्यति।—अभि० शाकुं०, १, अनसूया।

पैदल चलकर आता था इसलिये उसके मिट्टी लगे पाँव पहले धो दिए जाते थे। फिर वह कोई अन्य कार्य करता था।

कालिदास के ग्रंथों में मुगल राजाओं के हरमों में रहनेवाले खोजों की भाँति भारतीय राजाओं के अवरोधगृहों की रक्षा करनेवाले वर्षवरों[1] का वर्णन मिलता है।

वर्षधर

संस्कृति और कला में सुरुचि रखनेवाले विलासी भारतीयों में सामाजिक दोषों की संख्या अधिक होनी चाहिए फिर भी कालिदास के वर्णन से पता चलता है कि देश पाप-रहित था (जनपदे न गदः), प्रजा धर्मपथ पर चलती थी, राजा स्वयं अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करता था (स्थितेरभेत्ता), वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा करता और समाज के अपराधियों को दंड देता था। इस कारण यह बताना कुछ कठिन ज्ञात होता है कि समाज में दुष्टों के रहते हुए और साधारण जनता के विलास-प्रिय होते हुए भी किस प्रकार जनता धर्मपरायण थी। शकुंतला और दुष्यंत का समाज-सीमातिक्रमण स्वयं एक ऐसा अपराध है जो उस समय के आचार-शैथिल्य को प्रकट करता है और जिसके कारण दोनों को अनंत कष्ट भोगना पड़ा। कष्ट यह था कि जिस कारण उन्होंने व्यग्रता दिखलाकर शीघ्रता की और समाज-नीति के विरुद्ध आचरण करके आश्रम को अपवित्र किया उसी आनंद का वे चिरकाल तक उपभोग न कर सके। समाज में गणिकाओं के अस्तित्व के संबंध में कालिदास के कई उल्लेख हैं। ये नर्तकियाँ और गायिकाएँ होने के अतिरिक्त आज-कल की भाँति वारांगनाएँ भी अवश्य रही होंगी। नीचगिरि की गुफाएँ पण्यस्त्रियों[2] के नागरिकों से मिलने के कारण

आचार

(१) तेन हि वर्षवरपरिगृहीतमेनं तत्र भवतः सकाशं प्रापय।
—मालविका०, ४।

(२) मेघदूत, २७।

उनके बदन में लगे अंगराग आदि सुगंधित द्रव्यों से बराबर सुरभित होती रहती थीं। इस प्रकार समाज में पण्यस्त्रियों और उनसे मिलनेवाले नागरिकों की संख्या इतनी थी कि उन्हें कोई कवि अपने काव्य में वर्णित कर सकता था। उज्जयिनी के महाकाल के मंदिर में वे गाती और नाचती[1] थीं। श्रावण मास में शिव के मंदिर में नृत्य आदि करना आज भी कुछ धार्मिक सा हो गया है और बहुत संभव है कि आधुनिक देवदासी प्रथा भी इन्हीं वेश्याओं को प्राचीन काल में मंदिरों में नचानेवाली प्रथा से निकली हो। यह ध्यान देने की बात है कि ये वेश्याएँ मंदिरों में केवल कुछ घंटों के लिये नहीं वरन् सदा रहती और नाचती गाती थीं, जैसा कि कवि के वर्णन से ज्ञात होता है।

इसी प्रकार अभिसारिकाओं और असतियों की भी समाज में एक संख्या थी। कालिदास ने कई बार उनका उल्लेख किया है। अभिसारिकाएँ[2] रात के अँधेरे में अन्य पुरुषों से मिलती थीं और दूतियाँ[3] इनके इस प्रकार के गुह्य प्रेम को बढ़ाती थीं। उनका काम समाज के दूषणों का वर्धन करना था। आज भी उनकी संख्या कम नहीं है। समाज में चोरों (कुंभीरक) और दीवार भेदनेवालों (पाटच्चरः) की भी स्थिति[4] थी और उनके लिये कई प्रकार के संज्ञावाचक शब्द संस्कृत में बनकर प्रयुक्त होने लगे थे। कभी कभी युक्त अभियुक्तों से पुरस्कार पाकर नागरिक की स्थिति के व्यक्ति भी अन्य साधारण पुलिस कर्मचारियों के साथ मद्यपान करते थे। इस प्रकार रिश्वत भी कुछ न कुछ ली जाती होगी और मद्यपान तो सारे

---

(१) मेघदूत, ३७।
(२) रघु०, १६, १२।
(३) वही, १६, १८।
(४) अभि० शाकु०, ६।

समाज में पुरुष और स्त्रियों में रमकर उनको दुर्बल बना ही रखा था। इसी लिये तो हूणों को भारत विजय करने का साहस हो सका।

इतना होने पर भी देश में सदाचार था और लोग साधारणतया धर्मपरायण थे। समाज के पूर्वोक्त अपराधो सदा सर्वत्र होते हैं और उस समय भी थे। समाज में साधारणतः वे महिलाएँ थीं जो पति की अनुपस्थिति में आनंद और शृंगार को छोड़ देती थीं[1]। अपने पति के अतिरिक्त और किसी पुरुष की ओर आँख नहीं उठाती थीं। विधवाएँ प्रायः पति के शव के साथ ही चिता में जलकर सती हो जाती थीं। इस प्रकार एक अपराध की जगह सैकड़ों गुण थे। इन अपराधों को कोई समाज कभी दूर नहीं कर सकता। ये क्षम्य हैं। इनके लिये समाजनीति और राजधर्म में दंड भी बड़े कठोर थे।

प्रायः द्विज जीवन के तृतीय काल (वानप्रस्थ आश्रम) में नगर अथवा ग्राम छोड़कर द्विज वन में जाकर मुनिवृत्ति का आचरण करते थे। अभिज्ञान-शाकुंतल के दो श्लोकों[2] के आधार पर आश्रम का निम्नलिखित वर्णन किया जा सकता है—

ऋष्याश्रम

(१) तोते आश्रमवासियों के बड़े प्रिय थे और वे उनके भोजनार्थ वृक्षों के खोखले नीवार के दानों से भर देते थे जो प्रायः वहाँ से गिरकर आश्रमभूमि पर बिखर जाते थे।

(२) इंगुदी के फल का व्यवहार आश्रमवासी खूब करते थे, जैसा उनको तोड़नेवाले पत्थरों की तेल लगी चिकनाहट से विदित होता है। इसी कारण इंगुदी के पेड़ को तापस तरु भी कहते थे।

(३) आश्रमवासियों के अहिंसक व्यवहार से वन-मृग इस प्रकार विश्वस्त हो जाते थे कि अस्वाभाविक रथध्वनि सुनकर भी वे

---

(१) मेघदूत, उत्तर मेघ, यक्षपत्नी।

(२) अभि० शाकुं०, १,१४–१५।

विचलित नहीं होते थे और प्राय: आश्रम में ही विचरते रहते थे। इसी कारण वे आश्रम-मृग भी कहलाते थे।

(४) तपस्वी आश्रमवासी वल्कल वसन धारण करते थे और उन्हें पानी में धोकर वृक्षों की डालों पर लटका देते थे। वल्कल ले जाने के कारण रास्ते में जल के टपकने से लीक बन जाती थी।

(५) आश्रम के वृक्षों और पौदों को सींचने के लिये तपस्वी पतली प्रणालिकाएँ बनाते थे जिनसे जल, वृक्षों और पौधों की जड़ों से होकर, बहता था।

(६) वृक्षों के पल्लव प्राकृतिक अवस्था में रक्ताभ होते हैं परंतु वही, आश्रम के यज्ञ से उत्पन्न घी के धुएँ के लगने से, अपना स्वाभाविक रंग खो देते थे।

(७) दर्भ की तेज फुनगियाँ कट जाने से वे मृगों के बच्चों के चरने योग्य हो जाते थे।

ऊपर लिखे चिह्नों से आश्रम पहचाना जा सकता था।

कालिदास के ग्रंथों में कई प्रकार के जन-विश्वास का वर्णन आया है। स्त्री की दाहिनी आँख का फड़कना आज-कल की ही भाँति अशुभ माना जाता था और बाईं आँख का फड़कना शुभ समझा जाता था। पुरुष की आँखों के फड़कने का फल ठीक इसके विपरीत था। इसी प्रकार पुरुष की दाहिनी भुजा का फड़कना भला समझा जाता था। शृगाल-ध्वनि को अशुभ मानते थे।

जन-विश्वास

जो मनुष्य अपने धन की बड़ी रखवाली करता था और सूम होता था उसके प्रति लोगों का विश्वास था कि वह मरकर सर्प होगा और अपने गाड़े धन की रक्षा करेगा। उसके मरने के बाद भी जो कोई उसके धन पर हाथ लगाएगा उसे वह काट खायगा। यह विश्वास आज तक नहीं मरा। यह विश्वास बड़ा प्राचीन है और

सका आरंभ इस विश्वास के कारण हुआ होगा कि सर्प पाताल-लोक में पृथ्वी के नीचे रहते हैं और धन भी बहुधा पृथ्वी में गाड़कर ही रखा जाता है। रामपुरवा के स्तूप के रक्षक सर्प ही हैं जिनकी आकृतियाँ शिलापट्टों पर उत्कीर्ण रामपुरवा के स्तूप के साथ देख पड़ती हैं। इस स्तूप में गौतम बुद्ध का भस्मावशेष रखा हुआ था।

नागदंशन का इलाज एक प्रकार की क्रिया के अनुष्ठान से किया जाता था जिसे उदकुंभ विधान[1] कहते थे। भाष्यकार ने इस अनुष्ठान का भैरवतंत्रनिर्देशपूर्वक विशद वर्णन किया है जिसके अनुसार मंत्रपूत कलश में मंत्रपूत जल भरकर सर्प के काटे को झाड़ते थे। ध्रुवसिद्धि की प्रणाली नागमुद्रावाली नहीं प्रत्युत रासरत्नावलीवाली है, जैसा भाष्यकार ने बतलाया है। संभवतः लोगों का विश्वास था कि नागमुद्रावाली किसी वस्तु को आमंत्रित करके प्रयोग करने से सर्प-विष उतर सकता है। मालविकाग्निमित्र में सर्पदंशन का बहाना करनेवाले विदूषक का मिथ्या सर्प-विष इसी प्रकार उतारा जाता है[2]।

बच्चों को शुभ जंतर पहनाने की चाल का भी कालिदास में हवाला[3] मिलता है। लोग इंगुदी के फल को भी शुभ समझते थे और बच्चों को उनकी माला बनाकर पहनाते थे। दैवचिंतकों अर्थात् भविष्यवक्ता ग्रहदशा के पंडितों का भी उल्लेख हुआ है। इस प्रकार कालिदास के समय की जनता भी, सब काल और देश की जनता की भाँति, कई प्रकार की भ्रांतियों में विश्वास करती थी।

यज्ञोपवीत ब्राह्मण का चिह्न था और धनुष क्षत्रिय का। परशुराम का यज्ञोपवीत तो जमदग्नि ऋषि के ब्राह्मणत्व का प्रतिनिधि-

---

(१) मालविका०, ४।

(२) वही।

(३) रक्षामङ्गलम्।—अभि० शार्ङ्ग०, ७, शकुंतला।

स्वरूप था; पर उनके हाथ का धनुष उनके उस चात्रधर्म का परिचायक था जो उन्हें (क्षत्रिय राजा प्रसेनजित् की कन्या) माता रेणुका से प्राप्त हुआ था। कालिदास ने यज्ञोपवीत को केवल

उपवीत

ब्राह्मणों के धारण योग्य लिखा है[1] जिससे पता चलता है कि उनके समय में यज्ञोपवीत ब्राह्मणों का ही चिह्न माना जाता था। बहुत प्राचीन समय में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों यज्ञोपवीत धारण करते थे। बहुत संभव है कि कालिदास ने इस प्राचीन प्रथा का विरोध न किया हो और उनके कहने का तात्पर्य आध्यात्मिक हो। कदाचित् उनका तात्पर्य यह था कि यज्ञोपवीत ब्रह्मचारी के ब्रह्माचरण अर्थात् वेदाध्ययन आदि का स्मारक और प्रतिज्ञा-सूत्र था। वेदाध्ययन आदि ब्राह्मणों का मुख्य कर्म ही नहीं प्रत्युत उस समय तक केवल उन्हीं का धर्म रह गया था इसलिये यज्ञोपवीत ब्राह्मणत्व का ही प्रमाण-स्वरूप था। इसी प्रकार चात्रवृत्ति—युद्धकर्म आदि—केवल क्षत्रिय का ही हो गया था इसलिये धनुष केवल क्षत्रिय वर्ण का ही परिचायक कहा जा सकता है।

एक स्थल[2] पर यह उल्लेख मिलता है कि 'यह मंडन ही हमारा अंतिम अर्थात् मृत्यु-मंडन होगा', जिससे विदित होता है कि चिता पर दग्ध करने के पूर्व शव को पुष्पाभरणों और चित्रण आदि से अलंकृत कर लेते थे

शव-मंडन

(विससर्ज कृतान्त्यमण्डनामनलायागुरुचन्दनैधसे।—रघु०, ८, ७१। क्रियतां कथमन्त्यमण्डनं परलोकान्तरितस्य ते मया।—कुमार०, ४, २२)।

लोग संध्या के समय बैठकर प्राचीन कथाएँ कहा करते थे और वृद्ध जन ही इसमें अधिक दक्ष माने जाते थे। उज्जयिनी

(१) रघु०, ११, ६४।

(२) अथवेदानीमेतदेव मृत्युमण्डनं मे भविष्यति।
—मालविका०, ३, मालविका।

के ग्रामवृद्धों को कालिदास ने उदयन[1] आदि की कथा कहने में दक्ष कहा है। यह वत्स देश का राजा उदयन, ई० पू० छठी शताब्दी में, गौतम बुद्ध का समकालीन था।

कथा

इस प्रकार संपन्न देश में सर्वत्र शांति अथवा अशांति के दिनों में भी सामाजिक व्यवस्था भंग नहीं होने पाती थी। लोग प्रायः अपने अपने उद्यमों और वर्णधर्म में लगे रहते थे और राजा उनको धर्म-मार्ग से विलग नहीं होने देता था।

---

(१) प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्।—मेघदूत, ३२।

(१७) भारतीय कला में गंगा और यमुना

[लेखक—श्री वासुदेव उपाध्याय, एम० ए०, काशी]

पतितपावनी माता गंगा के नाम से कौन अपरिचित होगा। वैज्ञानिक संसार न केवल इसके जल का गुणगान किया करता है वरन् गंगा को हिंदू धार्मिक हृदय में बहुत ही ऊँचा स्थान दिया गया है। भारत के प्राचीनतम साहित्य से लेकर आधुनिक काल तक गंगा-यमुना की स्तुतियाँ अनेक स्थलों पर सुलभ हैं तथा स्तुति-विषयक ग्रंथ भी उपलब्ध हैं। ऋग्वैदिक काल में गंगा तथा यमुना को आधुनिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त न था, परंतु एक स्थल पर अन्य नदियों के साथ साथ इनकी भी कुछ स्तुति की गई है—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या ।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥

—ऋक्०, १०।७५।५

इस प्रकार ऋषियों ने गंगा का नामोल्लेख किया है। संस्कृत-साहित्य के रामायण[1] तथा महाभारत[2] महाकाव्यों में भी 'गंगा माता की स्तुति का पर्याप्त मात्रा में वर्णन मिलता है। पौराणिक समय में धार्मिक भाव की वृद्धि के साथ गंगा तथा यमुना का बहुत ही उच्च कोटि का वर्णन मिलता है। गंगा समस्त पापों को नाश करनेवाली, पतितों को तारनेवाली तथा जल-स्पर्श मात्र से स्वर्ग

(१) बालकांड, सर्ग ४२; अयोध्या०, सर्ग ५२।

(२) वनपर्व, अध्याय १०९।

को देनेवाली बतलाई गई है[1]। इस प्रकार पुराणों में गंगा-यमुना[2] की महिमा का सुंदर वर्णन मिलता है। हिंदू शास्त्रों के अतिरिक्त बौद्ध जातकों में भी गंगा के पुण्यस्थान-संबंधी धार्मिक यात्राओं का महत्त्व बतलाया गया है[3]। इन उपर्युक्त वर्णनों से प्रकट होता है कि गंगा की प्रार्थना तथा पूजा प्रत्येक संप्रदाय के अनुयायियों द्वारा, बिना किसी भेद-भाव के, होती थी। गंगा तथा यमुना के धार्मिक भाव के विकास की ओर न जाकर मैं प्रस्तुत विषय पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। इस लेख में यह दिखलाने का प्रयत्न किया जायगा कि भारतीय कला में गंगा तथा यमुना की मूर्तियाँ कब और किस प्रकार बनने लगीं। क्या इसकी उत्पत्ति पर किन्हीं अंशों में अन्य मूर्तियों का प्रभाव है? प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक गंगा तथा यमुना की मूर्तियों के विकास पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा।

डा० कुमारस्वामी का मत है कि पूजा की धार्मिक भावना के साथ साथ मूर्तिकला का भी प्रारंभ हुआ[4]। या यों कहा जाय कि दोनों की उत्पत्ति एक ही मूल से हुई; दोनों को पृथक् करना सरल कार्य नहीं है। शिल्पशास्त्र में वर्णन मिलता है कि मूर्तिकार शिल्पकला-कोविद के अतिरिक्त पुजारी हो तथा पूजा-संबंधी वैदिक मंत्रों से पूर्ण परिचित हो। इन समस्त गुणों से युक्त शिल्पकार

---

(१) गंगेति स्मरणादेव क्षय याति च पातकम्।
गंगातोयेषु तीरेषु तेषां स्वर्गोऽक्षयो भवेत्॥
—पद्मपुराण, अध्याय ६०।

गंगाथ सरितां श्रेष्ठा सर्वकामप्रदायिनी।
—ब्रह्मपुराण, अध्याय ७१।

(२) पद्म पु०, अ० ३२, मत्स्य पु०, अ० १०६।

(३) जातक, २। १७३। (कैंब्रिज अनु०)

(४) डैंस आफ शिव, पृ० २१।

को शांत तथा शुद्ध आचरण का होना अनिवार्य बतलाया गया है[1]। इन्हीं कारणों से पूजा तथा मूर्ति-विकास को अपृथक् मानना युक्तिसंगत है।

भारतीय शिल्पकला में हिंदू-मूर्तियों का निर्माण गुप्त काल से पाया जाता है[2]; क्योंकि इसी स्वर्णयुग में ब्राह्मण धर्म का पुनः प्रचार हुआ जो परम भागवत गुप्त नरेशों के साहाय्य का परिणाम था। विष्णुधर्मोत्तर में उल्लेख मिलता है कि गंगा तथा यमुना की मूर्ति वरुणदेव के साथ तैयार की जाती थी[3], जो वैदिक कालसे एक महान् देव माने जाते थे। वेदों में वरुण की स्तुति के मंत्र भी प्रचुरता से मिलते हैं[4] जिससे उनकी महत्ता का ज्ञान होता है। परंतु विष्णु-धर्मोत्तर के वर्णन के अतिरिक्त तक्षण-कला में एक भी तत्सम उदाहरण नहीं मिलते। वरुण प्राचीन काल से जलदेवता माने जाते हैं; अतएव गंगा तथा यमुना (जलदेवी) का उनसे संबद्ध होना असंभव नहीं है। गुप्त काल में गंगा और यमुना की मूर्तियों का अभाव नहीं है परंतु वे उनकी स्वतंत्र मूर्तियाँ नहीं हैं। इस स्थान पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि *गंगा तथा यमुना* की मूर्ति का समावेश प्रस्तर-कला में कैसे हुआ। इसका विचार करने से पूर्व गंगा और यमुना की मूर्तियों से समता रखनेवाली विभिन्न प्रस्तर-मूर्तियों पर ध्यान देना आवश्यक ज्ञात होता है।

ई० पू० द्वितीय तथा प्रथम शताब्दियों में भारतीय कला का विकास भरहुत, साँची तथा मथुरा में दृष्टि-गोचर होता है। इस कला का संबंध बौद्धों से था। इसमें बुद्ध तथा उनकी जीवन-संबंधी

---

(१) इ० ए०, भा० ४, पृ० १८।

(२) भारतीय शिल्प-शास्त्र, पृ० ४४।

(३) *विष्णुधर्मोत्तर, भा० ३, अ० ५२।*

(४) ऋग्वेद, १। २१।

कथाओं का समावेश किया गया है। वहाँ स्तूपों की वेष्टिनी पर अनेक पुरुषों की मूर्तियाँ मिलती हैं, जो द्वारपाल के स्थान पर या बोधि वृक्ष तथा चक्र के समीप चँवर लिए दिखलाए गए हैं। कलाविदों ने इनको यक्ष का नाम दिया है। डा० कुमार स्वामी यक्षों को उद्भिज देव या उसके रक्षक मानते हैं। उनका कथन है कि यक्ष की राक्षसों से समता नहीं की जा सकती[1]। हिंदू तथा बौद्ध ग्रंथों में यक्ष का नाम मिलता है। यक्ष की तुलना ग्रामदेवता से की गई है[2]। निकाय-ग्रंथों तथा जैन सूत्रों में बुद्ध भगवान् को भी यक्ष कहा गया है[3]। संसार की उत्पत्ति जल से हुई, इस विचार-धारा के कारण भरहुत तथा साँची की कला में आभूषण के निमित्त *कमल, पूर्ण घट, मछली आदि (जो पानी से पैदा होते हैं)* प्रयुक्त हुए हैं। उद्भिज देव होने के कारण यक्ष का भी जल से संबंध प्रकट होता है। अतएव भरहुत, साँची तथा मथुरा की कला में (गुप्तकला से पूर्व) यक्षी की मूर्ति मछली या मकर पर खड़ी वेष्टिनी के स्तंभों पर बनाई गई थी। भरहुत[4], बेसनगर[5] (साँची) तथा मथुरा[6] में ऐसी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। डा० कुमारस्वामी का मत है कि इन्हीं यक्षी मूर्तियों से गुप्तकालीन

---

(१) कुमारस्वामी—यक्ष, भा० २, पृ० ३।

(२) जैमिनी ब्राह्मण, भा० ३, २०३।

(३) अंगुत्तर निकाय, भा० २, पृ० ३७; उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३, १४-१८।

(४) यक्ष, भा० १, प्लेट० ६, नं० १,२।

(५) वही, " , " १४, " २; यक्ष, भा० २, पृ० ६६।

(६) कुमारस्वामी—यक्ष, भा० २, प्लेट १०, नं० २; स्मिथ—जैन स्तूप आफ मथुरा, प्लेट० २६। वोजेल—कैटलाग आफ आर्कैला० म्यूजियम, मथुरा, पृ० १५१, नं० J ४२।

गंगा की मूर्ति-कला का जन्म हुआ[1]। परंतु यह सिद्धांत संदेह-रहित नहीं ज्ञात होता।

विष्णुधर्मोत्तर के वर्णन से स्पष्ट प्रकट होता है कि वरुणदेव के साथ गंगा तथा यमुना की मूर्ति निर्मित होती थी[2]। यद्यपि ऐसी हिंदू मूर्तियाँ उपलब्ध नहीं होतीं, परंतु पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार संभवतः वरुण के साथ गंगा-यमुना की मूर्ति भी बनती होगी। गुप्तकालीन देवगढ़ के दशावतार मंदिर के द्वार के ऊपरी भाग मे गंगा की मूर्ति मकर पर तथा यमुना की कूर्म पर, क्रमशः बाईं तथा दाहिनी ओर, स्थित हैं[3]। इसके विपरीत यक्षी की मूर्ति द्वारपाल के स्थान पर खुदी मिलती है। कालांतर में वरुणदेव की वह महत्ता न रही तथा गंगा और यमुना की मूर्तियाँ स्वतंत्र रूप से गुप्त-मंदिरों के द्वार पर (प्रायः द्वारपाल के स्थान पर) मिलती हैं। गंगा तथा यमुना के द्वार पर स्थित होने से यह अभिप्राय नहीं निकाला जा सकता कि भरहुत तथा साँची की यक्षियों के सदृश वे द्वाररक्षक या द्वारपाल का कार्य संपादन करती थीं; परंतु गुप्त-शिल्पकारों का मुख्य ध्येय यह प्रतीत होता है कि द्वार पर दुःख विनाशिनी माता गंगा के स्थित होने से मंदिर में किसी प्रकार की बुरी आत्मा का प्रवेश नहीं हो सकता। अतएव गंगा तथा यमुना को (यक्षी की तरह) द्वाररक्षक न मानकर द्वारदेवता कहना उचित होगा। विष्णु के द्वार-देवता जय-विजय के सदृश इनका संबंध शिव से था। भूमरा के शिव-मंदिर में द्वार के ऊपरी भाग में शिव की मूर्ति के साथ साथ द्वार-देवता गंगा तथा यमुना की भी मूर्तियाँ

---

(१) यक्ष, भा० १, पृ० ३३,३६।
(२) विष्णुधर्मोत्तर, अ० ५२।
(३) कुमारस्वामी—यक्ष, भा० २, प्लेट २१, नं० १।

मिलती हैं[1]। गुप्तों के अन्य मंदिरों—तिगवा[2] तथा देवगढ़[3]—में गंगा और यमुना की मकर तथा कूर्मवाहिनी मूर्तियाँ मिलती हैं। उदयगिरि गुहा की मूर्तियाँ समुद्र में प्रवेश करती हुई दिखलाई पड़ती हैं[4]। गंगा के वाहन मकर से यही तात्पर्य है कि इसका संबंध समुद्र से है तथा यमुना के कूर्म से प्रकट होता है कि इस नदी का संबंध किसी अन्य नदी से है, समुद्र से नहीं। मथुरा में भी गंगा तथा यमुना की ऐसी ही मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं[5]। मध्य-भारत के ग्वालियर में स्थित भिलसा नामक स्थान से भी मकर-वाहिनी गंगा की मूर्ति मिली है जो बोस्टन के संग्रहालय में सुर-क्षित है[6]। यों तो गुप्तकालीन ऐतिहासिक स्थानों (पहाड़-पुर आदि) से गंगा तथा यमुना दोनों की मूर्तियाँ मिली हैं, परंतु गंगा की विशेषता बढ़ती गई और समयांतर में गंगा की पूजा की ही महत्ता समझी जाने लगी। उत्तरी भारत में मकरवाहिनी देवी का कतिपय स्थलों पर गंगा नाम दिया गया है जो पहले किसी भी लेख से प्राप्त नहीं होता। काँगड़ा के वैद्यनाथ-मंदिर के लेख[7] तथा भेड़ाघाट (जबलपुर, मध्यप्रांत) के लेख[8] में मकर-वाहिनी देवी 'गंगा' के नाम से उल्लिखित मिलती है। इसके

---

(१) बैनर्जी—मेमायर आफ आर्कॅला० स०, नं० १६।

(२) कनिंघम—आ० स० रि०, भा० ६, पृ० ४१।

(३) वही, भा० १०, प्लेट ३६, और भा० १०, पृ० ६०।

(४) कुमारस्वामी—यक्ष, भा० २, प्लेट २०, नं० १।

(५) वोजेल—कैटलाग आफ आर्कॅला० म्यूजियम, मथुरा, नं० R 56, 57.

(६) दि एज आफ इंपीरियल गुप्त प्लेट २७।

(७) वोजेल—कैटलाग, पृ० ३८७।

(८) कनिंघम—आ० स० रि०, भा० ६, पृ० ६६-८।

अतिरिक्त विष्णुधर्मोत्तर नामक ग्रंथ में भी इसका नाम गंगा ही लिखा मिलता है[1]।

इन समस्त विवरणों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि गंगा की मूर्ति तीन प्रकार की मिलती है—(१) वरुण के साथ गंगा, (२) द्वार-देवता के रूप में गंगा तथा (३) स्वतंत्र गंगा की मूर्ति।

तीसरे प्रकार की मूर्ति गुप्त-काल के पश्चात् मध्ययुग में तैयार होने लगी। इस युग में गंगा को द्वार-देवता से भी अधिक महत्ता देकर दिव्य मूर्ति का रूपमय भाव पाया जाता है। तांत्रिकों के द्वारा गंगा की विशेष पूजा होती थी। मंत्रसार में गंगा का संबंध शिव तथा विष्णु से बतलाया गया है (ओम् नमः शिवायै नारायणै दशरायै गंगायै स्वाहा)। माता गंगा को, ध्यान के साथ[2] आवाहन करके, सुखदा तथा मोक्षदा का नाम दिया गया है—

सद्यः पातक संहन्ति सद्यो दुःखविनाशिनी।
सुखदा मोक्षदा गंगा गंगैव परमा गतिः॥

प्राचीन भारत के मध्यकाल में गंगा की अनेक मूर्तियाँ, स्वतंत्र या शिव के साथ, मिलती हैं। ये ईसा की आठवीं शताब्दी में इलोरा[3] तथा राजशाही (उत्तरी बंगाल) में मिली हैं। राजशाही की मूर्ति है तो खंडित परंतु आभूषणयुक्त और सुंदर दीख पड़ती है। यह गंगा-मूर्ति वारेंद्र सोसाइटी के संग्रहालय में

---

(१) भा० ३, अ० ५२।

(२) ध्यानमंत्र इस प्रकार है—

चतुर्भुजा त्रिनेत्रं च सर्वाभरणभूषिता।
रत्नकुम्भसिताम्भोजवरदाभयसत्कराम्॥

(३) बरगेस—ए० एस० आई० न० आई० एस०, भा० ५, चित्र नं० १६; कुमारस्वामी—यच, भा० २, प्लेट २१, नं० २।

सुरक्षित है[1]। इसी काल की गंगा तथा यमुना की प्रस्तर-मूर्तियाँ बंगीय साहित्य-परिषद् के म्यूजियम में सुरक्षित हैं। गंगा की मूर्ति (नं० k (b) 141) मुर्शिदाबाद तथा यमुना की (नं० k (c) 1) विहार से प्राप्त हुई है। गंगा का दूसरा नाम भागीरथी भी है; क्योंकि पौराणिक वर्णन के अनुसार भगीरथ गंगा को मृत्युलोक में ले आए थे। इस वर्णन के आधार पर भी दक्षिण भारत में गंगा की मूर्ति का निर्माण होता था। एलेफेंटा में गंगाधर शिव की एक मूर्ति मिलती है जिसमें गंगा शिव की जटा में प्रवेश करती हुई दिखाई गई है[2]। इस प्रकार कतिपय ग्रंथों में गंगाधर शिव की मूर्ति का निम्न-लिखित प्रकार से वर्णन मिलता है—

गङ्गाधरमहं वक्ष्ये सर्वलोकसुखावहम्।
सुस्थितं दक्षिणं पादं वामपादं तु कुञ्चितम् ॥
विश्लिष्य स्याज्जटाबंधं वामे स्त्रीपद्मताननम्।
दक्षिणे पूर्वहस्ते तु वरदं दक्षिणेन तु
देवीमुपाश्रितेनैव देवीमालिङ्गय कारयेत्।
दक्षिणापरहस्तेनोद्धृत्योष्णीषसीमकम् ॥
स्पृशेज्जटागतां गङ्गां वामेन मृगमुद्धरेत्।
देवस्य वामपार्श्वे तु देवी विरहितानना ॥
सुस्थितं वामपादं तु कुञ्चितं दक्षिणं भवेत्।
प्रसार्य दक्षिणं हस्तं वामहस्तं तु पुष्पधृक् ॥
सर्वाभरणसंयुक्तं सर्वालङ्कारसंयुतम्।
भगीरथं दक्षिणे तु पार्श्वे मुनिवरान्वितम् ॥

—शिल्परत्न, पटल १२।

---

(१) मूर्ति नं० $\frac{H(c)}{351}$ (वारेंद्र सोसाइटी संग्रहालय)।

(२) गोपीनाथ राव—एलेमेंटस आफ हिंदू आइकानोग्राफी, जि० २, भा० १, प्लेट ४०।

चतुर्भुजं त्रिनेत्रं च कपर्दमुकुटान्वितम् ।
अभयं दक्षिणं हस्तं कटकं वामहस्तकम् ॥
कपर्दमुकुटं तेन गृहीतं जाह्नवीयुतम् ।
वामदक्षिणहस्तौ तु कृष्णपरशुसंयुतम् ॥
अभयं पूर्ववत्प्रोक्तं कपर्देपितहस्तकम् ।
तस्य वामे भवानीं तु कारयेल्लक्षणान्विताम्
आन्दन्तं वापि नाम्यन्तं भागीरथ्यास्तु मानकम् ।
प्रलम्बकजटोपेतमुष्णीषं जलहस्तकम् ॥
द्विभुजं च त्रिनेत्रं च वल्कलाम्बरसंयुतम् ।
एवं गङ्गाधरं प्रोक्तं चण्डेशानुग्रहं शृणु ॥

—पूर्वकारणागम, पटल ११ ।

दक्षिण भारत में जटा में गंगा को धारण किए नटराज शिव की मूर्तियों का वर्णन मिलता है[1] । राजपूत चित्रकला में भी चतुर्भुजी मकरवाहिनी गंगा का चित्र मिलता है। उसी भाव को लेकर आधुनिक काल में रविवर्मा ने शिव की जटा में स्थित गंगा के चित्रों को धार्मिक जनों के सम्मुख उपस्थित किया है।

इन उपर्युक्त विस्तृत विवरणों के आधार से यही प्रकट होता है कि गंगा तथा यमुना की तक्षण-कला में उत्पत्ति गुप्त-काल में ही हुई। इस समय से पूर्व यक्षियों की जितनी मकरवाहिनी मूर्तियाँ मिली हैं उनमें स्पष्टीकरण नहीं हुआ था। गंगा का वाहन मकर होने के कारण उन यक्षियों से गंगा की समानता बतलाना युक्तिसंगत नहीं है। यक्ष का संबंध जल से था तथा मकर भी जलजंतु था, इसलिये मकरवाहिनी यक्षी के द्वारा उनका जल से संबंध स्पष्ट प्रकट होता है। इस प्रकार की यक्षी-मूर्ति से गंगा की उत्पत्ति मानना

(१) गोपीनाथ राव—एलेमेंट्स आफ हिंदू आइकानोग्राफी, जि० २, भा० १, पृ० २२६ ।

सुरक्षित है[1]। इसी काल की गंगा तथा यमुना की प्रस्तर-मूर्तियाँ बंगीय साहित्य-परिषद् के म्यूजियम में सुरक्षित हैं। गंगा की मूर्ति (नं० k (b) 141) मुर्शिदाबाद तथा यमुना की (नं० k (c) 1) बिहार से प्राप्त हुई है। गंगा का दूसरा नाम भागीरथी भी है; क्योंकि पौराणिक वर्णन के अनुसार भगीरथ गंगा को मृत्युलोक में ले आए थे। इस वर्णन के आधार पर भी दक्षिण भारत में गंगा की मूर्ति का निर्माण होता था। एलिफेंटा में गंगाधर शिव की एक मूर्ति मिलती है जिसमें गंगा शिव की जटा में प्रवेश करती हुई दिखाई गई है[2]। इस प्रकार कतिपय ग्रंथों में गंगाधर शिव की मूर्ति का निम्न-लिखित प्रकार से वर्णन मिलता है—

गङ्गाधरमहं वक्ष्ये सर्वलोकसुखावहम्।
सुस्थितं दक्षिणं पादं वामपादं तु कुञ्चितम्॥
विश्लिष्य स्याज्जटार्धं वामे स्त्रीपद्मताननम्।
दक्षिणे पूर्वहस्ते तु वरदं दक्षिणेन तु
देवीमुखाश्रितेनैव देवीमालिङ्ग्य कारयेत्।
दक्षिणापरहस्तेनोद्धृत्योष्णीपसीमकम्॥
स्पृशोज्जटागता गङ्गां वामेन सूत्रमुद्धरेत्।
देवस्य वामपार्श्वे तु देवी विरहिताननना॥
सुस्थितं वामपादं तु कुञ्चितं दक्षिणं भवेत्।
प्रसार्य दक्षिणं हस्तं वामहस्तं तु पुष्पधृक्॥
सर्वाभरणसंयुक्तं सर्वालङ्कारसंयुक्तम्।
भगीरथं दक्षिणे तु पार्श्वे मुनिवरान्वितम्॥

—*शिल्परत्न*, पटल १२।

---

(१) मूर्ति नं० $\frac{H(c)}{351}$ (वारेंद्र सोसाइटी संग्रहालय)।

(२) गोपीनाथ राव—एलेमेंट्स आफ हिंदू आइकानोग्राफी, जि० २, भा० १, प्लेट ४०।

चतुर्भुजं त्रिनेत्रं च कपर्दमुकुटान्वितम् ।
अभयं दक्षिणं हस्तं कटकं वामहस्तकम् ॥
कपर्दमुकुटं तेन गृहीतं जाह्नवीयुतम् ।
वामदक्षिणहस्तौ तु कृष्णपरशुसंयुतम् ॥
अभयं पूर्ववत्प्रोक्तं कपर्दोपेतहस्तकम् ।
तस्य वामे भवानीं तु कारयेल्लक्षणान्विताम् ॥
जान्वन्तं वापि नाभ्यन्तं भागीरथ्यास्तु मानकम् ।
प्रलम्बकजटोपेतमुष्णीप जलहस्तकम् ॥
द्विभुजं च त्रिनेत्रं च वल्कलाम्बरसंयुतम् ।
एवं गङ्गाधरं प्रोक्तं चण्डेशानुग्रहं शृणु ॥

—पूर्वकारणागम, पटल ११ ।

दक्षिण भारत में जटा में गंगा को धारण किए नटराज शिव की मूर्तियों का वर्णन मिलता है[1] । राजपूत चित्रकला में भी चतुर्भुजी मकरवाहिनी गंगा का चित्र मिलता है। उसी भाव को लेकर आधुनिक काल में रविवर्मा ने शिव की जटा में स्थित गंगा के चित्रों को धार्मिक जनों के सम्मुख उपस्थित किया है ।

इन उपर्युक्त विस्तृत विवरणों के आधार से यही प्रकट होता है कि गंगा तथा यमुना की तक्षण-कला में उत्पत्ति गुप्त-काल में ही हुई। इस समय से पूर्व यक्षियों की जितनी मकरवाहिनी मूर्तियाँ मिली हैं उनमें स्पष्टीकरण नहीं हुआ था। गंगा का वाहन मकर होने के कारण उन यक्षियों से गंगा की समानता बतलाना युक्तिसंगत नहीं है। यक्ष का संबंध जल से था तथा मकर भी जलजंतु था, इसलिये मकरवाहिनी यक्षी के द्वारा उनका जल से संबंध स्पष्ट प्रकट होता है। इस प्रकार की यक्षी-मूर्ति से गंगा की उत्पत्ति मानना

(१) गोपीनाथ राव—एलेमेंट्स आफ हिंदू आइकानोग्राफी, जि० २, भा० १, पृ० २२६ ।

उचित नहीं प्रतीत होता। विष्णुधर्मोत्तर के वर्णन से ज्ञात होता है कि वरुण के साथ गंगा तथा यमुना की मूर्तियाँ तैयार की जाती थीं, परंतु समयांतर में वरुण एक दिक्‌पाल रूप में माने जाने लगे अतएव गुप्तकालीन मंदिरों में उनके साथ साथ इनका भी द्वार-देवता (द्वारपाल नहीं) के रूप में स्थान पाया जाता है। पीछे गंगा को सुखदा, मोक्षदा मानकर समस्त लोग उनकी पृथक् पूजा करने लगे जिससे मध्यकाल में गंगा की स्वतंत्र मूर्तियाँ निर्मित होने लगीं। पौराणिक वार्ता तथा कुछ शिल्प-ग्रंथों के आधार पर गंगा को शिव की जटा में स्थान दिया जाने लगा, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।